काव्य का स्वरूप

(काव्य के अन्तरंग आधारों एवं स्वरूपगत लक्षणों का अभिनव विवेचन)

लेखक :

डा० रामानन्द तिवारी "भारतीनन्दन"

एम० ए०, पी०-एच० डी०, डी० फिल्०

महारानी श्री जया कालिज, भरतपुर ।

प्रकाशक :

भारती मन्दिर, भरतपुर ।

काव्य का स्वरूप

(काव्य के अन्तरंग आधारों एवं स्वरूपगत लक्षणों का अभिनव विवेचन)

लेखक :

डा० रामानन्द तिवारी "भारतीनन्दन"

एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० फिल्०

महारानी श्री जया कालिज, भरतपुर ।

प्रकाशक :

भारती मन्दिर, भरतपुर ।

※ प्रकाशिका—

श्रीमती शकुन्तला रानी
एम० ए०, पी–एच० डी०
संचालिका 'भारती मन्दिर'
गोविन्द भवन, चौबुर्जा,
भरतपुर (राजस्थान)

※ पहला संस्करण : जून १९६८।

※ मूल्य : १२ रुपया।

※ श्री नेमीचन्द जैन द्वारा
मथुरा प्रिंटिंग प्रेस,
मथुरा में मुद्रित।

प्रयाग के छात्र-जीवन के

अविस्मरणीय साथी

प्रकाशचन्द्र चतुर्वेदी

को स्नेह पूर्वक समर्पित

निवेदन

'काव्य का स्वरूप' नामक इस ग्रन्थ में काव्य के अन्तरंग आधारों एवं लक्षणों का विवेचन एक मौलिक एवं नवीन दृष्टिकोण से किया गया है। सामान्यतः कवि को काव्य का व्यक्तिगत कर्त्ता तथा काव्य को उसकी व्यक्तिगत कृति माना जाता है। इस मान्यता से भिन्न समात्मभाव की भूमिका में काव्य के कृतित्व की स्थापना इस ग्रन्थ में की गई है। कवि अपने व्यक्तित्व के एकान्त में नहीं वरन् समात्मभाव की अद्वैत एवं साम्यपूर्ण स्थिति में काव्य की रचना करता है, इस मान्यता की प्रतिष्ठा ग्रन्थ के आरम्भिक अध्यायों में की गई है। यही समात्मभाव संस्कृति एवं कला का भी आधार है। इसी प्रसंग में संस्कृति एवं कला के साथ काव्य के सम्बन्ध का विवेचन किया गया है तथा संस्कृति एवं कला के स्वरूप की भूमिका में काव्य के स्वरूप को स्पष्ट करने की चेष्टा इस ग्रन्थ में की गई है। साहित्य और काव्य के स्वरूप की मौलिक एकता का विवरण भी अन्त की ओर एक अध्याय में किया गया है। इस प्रसंग में साहित्य में शब्द और अर्थ के अभिन्न भाव का प्रकाशन शिव और शक्ति की सम्पृक्ति के अनुसार किया गया है। अन्तिम अध्याय में काव्य-शास्त्र में वर्णित काव्य के अंगों और उपकरणों के साथ काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध का निदर्शन किया गया है।

काव्य के स्वरूप का यह विवेचन अधिकांश में मौलिक और नवीन है। इस ग्रन्थ में प्रकाशित दृष्टिकोण से काव्य के स्वरूप का विवेचन कदाचित् ही किसी अन्य लेखक के द्वारा किया गया है। इस ग्रन्थ के केवल एक अन्तिम अध्याय में काव्य के परम्परागत एक प्रसिद्ध अंगों और उपकरणों के साथ काव्य के स्वरूप की संगति स्पष्ट की गई है, जो लेखक के दृष्टिकोण को काव्यशास्त्र की परम्परा से समन्वित करती है।

भरतपुर
६ मई १९६८

रामानन्द तिवारी
"भारतीनन्दन"

—अनुक्रम—

अध्याय—१

कवि और प्रजापति

काव्यशास्त्र की परम्परा में कवि को प्रजापति माना गया है जो अपनी स्वतन्त्र इच्छा के द्वारा अपनी रुचि के अनुरूप काव्य की सृष्टि करता है।

अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥
—ध्वन्यालोक

काव्य एक सृष्टि है। कवि उसका स्रष्टा है। अतः उसे प्रजापति कहना उचित ही है। उपनिषदों और पुराणों के अनुसार प्रजापति जगत के स्रष्टा हैं। वृहदारण्यक उपनिषद् के प्रथम अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण में प्रजापति का उपाख्यान मिलता है। सृष्टि के आदि में प्रजापति अकेले थे। किन्तु इस अकेलेपन में उन्हें आनन्द नहीं आया। अतः उन्होंने इच्छा की कि मैं बहुरूप प्रजा की सृष्टि करूँ। विश्व की सृष्टि प्रजापति की इसी इच्छा का फल है। वेदों में विश्व के स्रष्टा को 'कवि' कहा गया है। सृष्टि उसका 'काव्य' है। उपनिषदों में 'ब्रह्म' के लिये भी 'कवि' का प्रयोग हुआ है। शंकराचार्य ने कवि को 'क्रान्तदर्शी' और 'सर्वदृक्' बताया है। 'क्रान्त' अतीत को कहते हैं। अतीत अनन्त है किन्तु अतीत ही सत्ता की सम्पूर्णता नहीं है। वर्तमान और भविष्य भी उसमें सम्मिलित हैं। वर्त्तमान का अनुभव तो सभी को होता है। किन्तु भविष्य की दृष्टि दुर्लभ है। भविष्य भी अनन्त है। ब्रह्म अनन्त और चिन्मय है। अतः वह त्रिकाल की समग्रता का साक्षात्कार करता है। वर्तमान सीमित है और उसका ज्ञान सुलभ है। अतः अतीत का ज्ञान और भविष्य की दृष्टि अधिक महत्वपूर्ण है। इनकी महिमा से युक्त त्रिकाल का द्रष्टा होने के कारण 'ब्रह्म' सर्वज्ञ है। किन्तु ब्रह्म द्रष्टा ही नहीं, वह स्रष्टा भी है। उपनिषदों में ब्रह्म को विश्व का निमित्त और उपादान कारण माना है। सर्वज्ञ के साथ-साथ सृष्टि का स्रोत होने के कारण भी ब्रह्म का 'कवि' नाम सार्थक है। कवि के समान ही वह अपनी स्वतन्त्र इच्छा से विश्व का सृजन करता है। 'प्रजापति' वस्तुतः ब्रह्म का सृजनात्मक रूप है।

प्रजापति का यह उपाख्यान सत्य के मौलिक मर्म को प्रकाशित करता है। यद्यपि अधिकांश दर्शन एक उदासीन सत्ता के रूप में ही सत्य को मानते और खोजते हैं। किन्तु एक उदासीन सत्ता सत्य का पूर्ण और वास्तविक रूप नहीं है। सभी दर्शन विश्व के मौलिक आधार के रूप में सत्य को खोजते हैं। इस आधार में विश्व का उद्‌भव सत्य की सृजनात्मकता को प्रमाणित करता है। विश्व का रूप और उसका विकास सत्य की सृजनात्मकता के असंदिग्ध प्रमाण है। 'सृजन' इच्छा और चेष्टा से युक्त व्यापार है। 'इच्छा' चेतना की संकल्प शक्ति है। 'चेष्टा' उस शक्ति की प्रवृत्ति है। शैव दर्शन में शिव की सृजनात्मक शक्ति को 'इच्छा-शक्ति' मानते हैं। विश्व इस शक्ति का विलास है। इसे शिव का काव्य भी कह सकते हैं। अध्यात्मवादी दर्शनों में सत्य को चिन्मय माना जाता है। शैव दर्शनों के शिव और वेदान्त का ब्रह्म दोनों ही चिन्मय सत्य हैं। अत: दोनों के सृजनात्मक रूप को इच्छा-शक्ति से अन्वित माना गया है। प्रजापति के उपाख्यान में 'तदैक्षत' इसी सिसृक्षा का सकेत करता है। शैव दर्शनों में भी इच्छा-शक्ति का स्पष्ट संकेत है। संकल्प की शक्ति से सत्य सृष्टि में साकार होता है। इच्छा ही शक्ति का मूल है। संकल्प के रूप में चेतना की शक्ति सजग होती है। सृष्टि का क्रम इसी इच्छा-शक्ति का सहज फल है। सृष्टि के क्रम में संकल्प की शक्ति एक सचेष्ट व्यापार बन जाती है। यह व्यापार सृष्टि के क्रम की गति है। उपनिषदों के 'तदेजते' में ब्रह्म के गतिशील रूप का संकेत है। वेदों के 'ऋत' में भी सत्य की गतिशील कल्पना का बीज है। शिव का नृत्य भी सत्य की गतिशील कल्पना को लय देता है। शिव की कथा में सत्य का सृजनात्मक स्वरूप सुग्राह्य और प्रेरणामय मानवीय रूप में व्यक्त हुआ है। प्रजापति का उपाख्यान सत्य के सृजनात्मक मर्म को एक सजीव और व्यापक रूप में व्यंजना करता है।

सत्य के सृजनात्मक स्वरूप के साथ-साथ सत्य के एक और गंभीर रहस्य को प्रजापति के उपाख्यान में अभिव्यक्ति मिली है। यह रहस्य के सृजनात्मक तत्व में ही समन्वित है। सृष्टि के पूर्व अथवा सृष्टि के आदि में प्रजापति अकेले थे। इस एकाकीपन में उन्हें आनन्द न आया। अतः उन्होंने बहुरूप प्रजा के सृजन की इच्छा की। आरम्भ में इस इच्छा से प्रेरित उनका एकाकी भाव मिथुन रूपों में साकार हुआ। इन मिथुन रूपों से सृजन की अनन्त परम्परा का सूत्रपात हुआ। आगे कथा इस प्रकार है कि इन मिथुन रूपों में प्रजापति ने 'नर' का रूप धारण कर रमण किया। सत्य के सृजनात्मक रूप में सृजन की इच्छा और चेष्टा को स्पष्ट करने के लिए ही प्रजापति को

'नर' का रूप दिया गया है। मिथुन-सृष्टि की परम्परा में सृजन का सत्य एक अनन्त परम्परा बन जाता है। यह सृष्टि का प्राकृतिक रूप है। मिथुन-सृष्टि के रूप में ही सृजन की परम्परा लोक में विदित है। इसी लोक-ग्राह्य रूप में प्रजापति के उपाख्यान में सत्य के सृजनात्मक रूप का प्रतिपादन किया गया है। इस सृजन में प्रजापति ने बहुरूप प्रजा की सृष्टि की। इस सृजन की इच्छा उन्हें इसलिए हुई कि उन्हें अपने एकाकीपन में आनन्द नहीं आया। यह भी लिखा है कि उन्हें अकेलेपन में भय लगा। इस भय के सम्बन्ध में एक सूक्ष्म तर्क किया गया है कि प्रजापति तो अकेले थे, उस समय तक कोई दूसरा नहीं था; फिर उन्हें किससे भय हुआ ? भय तो किसी दूसरे से ही होता है। जिससे हमें आपत्ति अथवा आघात की आशंका होती है। यद्यपि प्रजापति अकेले ही थे, फिर भी उन्हें भय हुआ। प्रजापति की सन्तान होने के कारण मनुष्य को भी अकेले में भय लगता है। यह अकेले में प्रजापति के भय के तथ्य का समर्थन करता है। सत्य यह है कि मनुष्य को दूसरे से सदा भय नहीं लगता। भय में दूसरे की 'उपस्थिति मात्र' कारण नहीं है वरन् दूसरे के साथ हमारा 'संबन्ध और भाव' कारण है। जो हमारे परिचित और आत्मीय होते हैं उनसे हमें भय नहीं लगता। परिचय और आत्मीय भाव न होने पर दूसरे से भय लगता है। अपना कोई आत्मीय निकट न होने पर यह भय और भी प्रबल होता है। एकान्त में कोई आत्मीय न होने पर अनिष्ट की काल्पनिक आशंकाएँ रहती है। इसीलिए अकेले में भय लगता है।

एकान्त में भय की सम्भावना के कारण भी अकेलेपन में आनन्द नहीं आता; भय आनन्द का घातक है। इसके अतिरिक्त अकेलेपन में शून्यता रहती है। इस शून्यता के कारण भी अकेले में आनन्द नहीं आता। इसीलिए प्रजापति को अकेले में आनन्द नहीं आया। कोई भी अपने अनुभव से यह प्रमाणित कर सकता है कि अकेलेपन में आनन्द संभव नहीं है। इसीलिए मनुष्य सदा मनुष्यों की संगति की आकांक्षा करता है। घर में अकेला होने पर वह खिड़की से राहगीरों को देखकर ही अपना मन बहलाता है। प्रत्यक्ष संगति न होने पर वह स्मरण और कल्पना के द्वारा मानसिक संगति स्थापित करता है। 'मेघदूत' के यक्ष की भाँति वह अपनी दूरंगत प्रिया का स्मरण करता है। अशोक-वाटिका में वन्दिनी सीता की भाँति वह अपने प्रिय का ध्यान करता है और प्रहरियों में भी मित्रता के मार्ग खोजता है। किसी कारण मनुष्यों के साथ आत्मीय भाव के दुर्लभ होने पर वह 'कामायनी' की श्रद्धा की भाँति पशुओं से ही बन्धु-भाव स्थापित करता है। किसी जीव के सुलभ न

होने पर वह निर्जीवों से ही बन्धुभाव बनाता है। मेघदूत' के यक्ष की भाँति वह बादलों को बन्धु बनाकर प्रेम के सन्देश भेजता है। एकान्त-वासी योगी अथवा निर्वासित के लिए पर्वत, नदी, वृक्ष, पादप, पुष्प, चन्द्रमा, तारे, बादल आदि ही बन्धु बन जाते हैं।

किसी भी रूप में अकेलापन मनुष्य को सह्य नहीं है। प्रत्यक्ष में अकेला होते हुए भी वह मन से अकेला नहीं रहता है। प्रत्यक्ष संगति में भी मन के भाव से ही बन्धुत्व और आत्मीयता की स्थापना होती है। केवल प्रत्यक्ष संगति इसका कारण नहीं है। इसीलिए तो अपरिचितों की प्रत्यक्ष संगति होने पर भी अभय और आनन्द मन की आत्मीयता पर ही निर्भर होते हैं। यह समात्मभाव समस्त जीवन में अनेक धरातलों पर व्याप्त है। शरीर प्रकृति के उपादानों से निर्मित एक इकाई है। प्रकृति के अन्य रूपों की भाँति वह इकाई अपने में सीमित और अपने स्वार्थ में सन्तुष्ट है। अपने निर्वाह के अतिरिक्त उसे और किसी प्रयोजन के लिए अन्य उपकरणों की अपेक्षा नहीं है। इन्द्रियों में अवश्य ऐसी सम्वेदना है मन मानवीय संबन्धों में आत्मीयता का सूत्र है। मन के अचेतन और सचेतन दो धरातल होते हैं। सचेतन धरातल व्यक्त रहता है और अचेतन अव्यक्त की गहराइयों में छिपा रहता है। सचेतन न होने पर भी यह अधिक सजग और सक्रिय होता है। चेतना के व्यवहार इसी से प्रभावित और संचालित होते हैं। यही मन का अधिक बड़ा भाग है। यह जीवन की वसुन्धरा का गर्भ है जिससे जीवन और संस्कृति की अनेक विभूतियाँ पलकर विकसित होती हैं। हमारा जीवन अचेतन भावों के स्नेह से भरा हुआ दीपक है, जिसके अंचल में चेतना की शिखा जागरित रहती है। बालक के जीवन-विकास में इस अचेतन की सम्पत्ति से ही विलंब से चेतना प्रस्फुटित होती है। वृक्ष के पुष्पों और फलों की भाँति सचेतन मन अचेतन से अलग नहीं है। सचेतन की ज्योति अचेतन मन की ही उज्ज्वल शिखा है। ऐन्द्रिक सम्वेदना की तीव्रता ही अचेतन के जीवन-दीप में इस शिखा को जगाती है। अचेतन के निगूढ़ और चेतन के प्रकट मर्म से युक्त मन जीवन की एक समग्र विभूति है। मन की सचेतनता अहंकार की इकाई में केन्द्रित हो जाती है। किन्तु यह इकाई ही मन और जीवन का सर्वस्व नहीं है। केवल इस इकाई की स्थिति में मन कितना दीन होता है, इसका अनुभव हमें अकेलेपन में ही होता है। इस इकाई में सीमित होने पर अहंकार शून्य और दीन होता है। अपने को सम्पन्न और समृद्ध बनाने के लिए ही यह अहंकार अपना विस्तार करता है। इस विस्तार का मार्ग आत्मीयता है। शरीर की सजीव

इकाई में भी इस विस्तार की प्रवृत्ति दिखाई देती है। यह अचेतन और स्वार्थमय है। शरीर बाहरी उपादानों को आत्मसात् करके अपना बना लेता है। किन्तु इस आत्मीयता से शरीर की ही वृद्धि होती है। उपादानों का अस्तित्व शरीर की वृद्धिशील इकाई में विलीन हो जाता है। इन्द्रियों में अहंकार की इकाई का विस्तार कम स्वार्थमय रूप में होता है। स्पर्श की जिस संवेदना में जिस चेतना की शिखा की चिनगारी है, उसका सबसे अधिक सुखमय रूप पारस्परिक है। आंख और कान रूप और शब्द को इतना महत्त्व देते हैं कि उन्हें इस आत्मीय भाव में इतना आनन्द है कि अहंकार की इकाई इस आनन्द के सागर में निमग्न हो जाना चाहती है। इसमें निमग्न होकर वह विलीन नहीं होती वरन् सांस्कृतिक अभिषेक पर्व में एक पवित्र और समृद्ध रूप में प्रकाशित होती है। वस्तुतः इकाई के विलय का विचार और उसकी आशंका भी इकाई के कठोर आग्रह पर ही अवलम्बित है। इस दृष्टिकोण में यह भूल है कि यह इकाई के प्राकृतिक दृष्टिकोण का उपयोग संस्कृति के प्राकृतिक क्षेत्र में करता है। ईश्वरवादी धर्मों में मनुष्य और ईश्वर दोनों के सम्बन्ध में व्यक्तित्व की इस इकाई का आग्रह है। अधिकांश पश्चिमी दर्शन इकाई के विलय से आशंकित हैं।

मानवीय जीवन और चेतना के धरातल पर यह इकाई शिथिल हो जाती है और व्यक्तित्व के अहंकार की इकाई मनुष्य जीवन में दूसरी इकाइयों के साथ आत्मीयता की आकांक्षा करती है। इस आत्मीयता में उसे अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है। प्रेम और विश्वास के कारण यह आत्मीयता आनन्द का स्रोत होने के साथ-साथ अभय का आधार भी है। इस आत्मीयता के अभाव में आनन्द संभव नहीं है। यह आत्मीयता अनेक इकाइयों के आत्मभाव में ही सम्पन्न होती है। इसीलिए उपनिषदों के प्रजापति को अकेले में आनन्द नहीं आया। इसका आशय यही है कि इकाई की कठोरता आनन्द की बाधा है; यद्यपि इकाइयों का विलय आनन्द के लिए अपेक्षित नहीं है। प्राकृतिक इकाइयों के कठोर आग्रह से ऊपर उठते ही जीवन में सामंजस्य और आत्मीयता का स्फोट होता है। यह आत्मीयता का भाव मानसिक और सांस्कृतिक धरातल पर उदित होता है। अतः प्रकृति और गणित की इकाई के दृष्टिकोण से इसे नहीं समझा जा सकता। यह एक भिन्न धरातल का भाव है, जिसे प्रकृति और गणित के दृष्टिकोण से नहीं वरन् अपने स्वरूप के दृष्टिकोण से ही समझा जा सकता है।

प्रजापति का उपाख्यान जीवन और संस्कृति के इसी मर्म का संकेत करता है। प्रजापति अकेले थे। इस अकेलेपन में उन्हें आनन्द नहीं आया। अकेलेपन में उन्हें भय भी लगा। अतः उन्होंने बहुरूप प्रजा की सृष्टि की। बहुरूप प्रजा की अनेकता में आत्मीयता के भाव से आनन्द और अभय उदित हुए। उपनिषदों में एक प्रसंग यह भी है कि बहुरूप सृष्टि करके प्रजापति ने उसमें प्रवेश किया। शंकराचार्य ने इस प्रसंग के भाष्य में यह लिखा है कि यह प्रवेश भौतिक पदार्थों की गति के समान नहीं है। भौतिक पदार्थों की गति एक स्थूल गमन है। इस स्थूल गमन में एक वस्तु जहां होती है वहां से दूसरे स्थान की ओर गमन करती है जहाँ कि वह नहीं होती। उस स्थान पर पहुँचने पर फिर वह अपने पहले स्थान पर नहीं रहती। भौतिक और स्थूल पदार्थों का रूप उनकी इकाई में सीमित होता है। अतः वे एक ही स्थान पर रह सकते हैं। एक स्थान को छोड़कर ही वे दूसरे स्थान की ओर गमन करते हैं। यह भौतिक जगत में दिक्, देश अथवा स्थान का नियम है। इसी प्रकार भौतिक जगत में काल का नियम भी है। एक वस्तु एक समय में एक ही स्थान पर रह सकती है। उसी समय में वह दूसरे स्थान पर नहीं हो सकती। देश और काल भौतिक जगत व्यवस्था के कठोर नियम हैं। भौतिक पदार्थ इन नियमों का अतिक्रमण नहीं कर सकते। यह भी मूलतः इकाई के नियम का ही उपरूप है। भौतिक जगत की व्यवस्था में वस्तु, देश और काल तीनों की इकाइयों की संगति आवश्यक है। अतः प्रवेश आदि गमन के रूपों में गतिशील पदार्थ का एक स्थान को छोड़कर ही दूसरे स्थान पर जाना संभव होता है। ऐसा होने पर भी पदार्थों की इकाइयाँ अलग–अलग रहती हैं। दो या अधिक इकाईयाँ अपने रूप को छोड़कर जब एक तीसरी इकाई का निर्माण करती है तभी उनका विलय होता है। इस विलय में नवीन इकाई का परिमाण दोनों इकाइयों के परिमाण के योग के बराबर होता है। परिमाण का यह नियम गणित का कठोर सिद्धान्त है। देश और काल के नियमों की भाँति यह भी भौतिक व्यवस्था का आधार है।

किन्तु मन और आत्मा ऐसे भौतिक पदार्थ नहीं हैं। मन को दर्शनों में भौतिक माना गया है। आज मन में जो स्मृति और कल्पना की शक्ति है वह देश, काल, इकाई, परिमाण आदि के भौतिक नियमों से शासित नहीं होती। आत्मा का भाव चाहे वह चेतन हो अथवा अचेतन तथा वह स्मृति, कल्पना आदि किसी भी रूप में हो, एक विस्तारशील भाव है। यह विस्तार गणित और गमन के अनुसार नहीं है। स्मृति और कल्पना काल के नियमों

का अतिक्रमण करती है। वर्त्तमान में रहते हुए भी हम अतीत का स्मरण और भविष्य की कल्पना करते हैं। अध्यात्मवाद के तर्क के अनुसार देश, काल, इकाई आदि का विषय रूप में ज्ञान करने वाली चेतना इनसे अतीत है। अतः इनके नियम उस पर लागू नहीं होते। इस तर्क के आधार पर अध्यात्मवाद आत्मा को अनन्त, असीम, अमृत और.शाश्वत मानता है। तर्क की दृष्टि से उनकी यह धारणा बहुत कुछ संगत है। समाधि अथवा मोक्ष में आत्मा के इस रूप का साक्षात्कार भी होता है। साधारण जीवन के अनुभव में भी हमें आत्मा के इस अतिक्रान्त रूप का आभास होता है। स्मृति और कल्पना के रूप में चेतना देश और काल दोनों का अतिक्रमण करती है। हम वर्त्तमान में रहकर भी भूत और भविष्य का भावन करते हैं। एक स्थान पर रह कर भी मनोरथ पर आरूढ़ होकर अनेक स्थानों का भ्रमण करते हैं। वर्त्तमान के भाव में भी कल्पना के द्वारा चेतना का अथवा आत्मा का विस्तार सम्भव है। संभव ही नहीं, यह विस्तार जीवन का सांस्कृतिक भाव है, जो प्रकृति की भूमि पर विकसित होकर जीवन को सुन्दर और मंगलमय बनाता है। इस विस्तार में व्यक्तित्व की इकाइयों का एक ऐसा अद्भुत रूप में समागम होता है जिसमें न तो इन इकाइयों का विलय होता है और न वे किसी तीसरी इकाई का निर्माण करती है। वस्तुतः शरीर के भौतिक पिण्ड को छोड़कर जीवन के मानसिक और आत्मिक भाव को भौतिक जगत और गणित के इकाई के नियम से देखना उचित नहीं है। मन और आत्मा भौतिक नहीं हैं और न वे भौतिक नियमों से शासित होते हैं। इन्द्रियों की जिस सम्वेदना में चेतना का रूप बालक के जीवन में अंकुरित होता है, उसमें भी विस्तार के इस रूप का आभास मिलता है। इकाई और गति के भौतिक नियमों से ग्रहीत होने के कारण भारतीय दर्शन ऐसा मानता है कि हमारी चक्षु और श्रवण की इन्द्रियाँ सचमुच शरीर से निकल कर सूक्ष्म (किन्तु भौतिक) रूप में 'रूप' तथा शब्द के स्रोत के पास जाती है। तभी वे इन गुणों का ग्रहण करती हैं। विज्ञान का मत इससे विपरीत है। रूप और शब्द प्रकाश तथा लहरियों के रूप में हमारे चक्षु और श्रवण में प्रवेश करते हैं। यह संवेदना की प्राकृतिक प्रक्रिया है। किन्तु संवेदना के अनुभव में हमें एक अपूर्व विस्तार का भान होता है। ऐसा प्रतीत होता है, मानो हम अपने स्थान पर रहते हुए भी दूसरे पदार्थों का आलिंगन करते हैं, मानो हमारी चेतना अपने विस्तार की परिधि में दूर-दूर के विषयों को समेट लेना चाहती है। विस्तार के इसी भान के कारण भारतीय दर्शनों को इस सिद्धान्त की प्रेरणा मिली कि मानों हमारी इन्द्रियाँ दूर तक जाकर विषयों को भेंटती हैं। यह विस्तार चेतना का स्वरूप और स्वभाव ही

है। भौतिक तत्वों में प्रकाश में यह लक्षण मिलता है। प्रकाश एक स्थान पर रहते हुए भी सूक्ष्म भाव से दूसरे स्थानों को भी प्रकाशित करता है। इसलिए सभी दर्शन चेतना को प्रकाश स्वरूप मानते हैं। प्रकाश का एक भास्वर रूप है। अग्नि, आतप, चाँदनी आदि के तैजस रूपों में यह प्रकट होता है। यह आत्मा के सचेतन रूप के समान है। प्रकाश का अभास्वर रूप हमें छाया के विविध स्तरों पर दिखायी देता है। यह मन तथा आत्मा के अवचेतन रूप के समान है। दोनों ही रूपों में प्रकाश का चेतना अथवा आत्मा के समान विस्तार होता है। प्रकाश की उपमा एक और दृष्टि से भी उपयुक्त है। अन्य भौतिक पदार्थों की भाँति प्रकाश की स्थिर निश्चित और सीमित इकाई नहीं होती।जैसा कि आत्मा की संकोच-विकास-शीलता के प्रसंग में जैन आचार्य कहते हैं, एक ही दीपक का प्रकाश छोटी और बड़ी कोठरियों में संकुचित और विस्तृत होता है। इसी प्रकार एक ही आत्मा जन्म-जन्मान्तर में छोटी बड़ी देहों में समायोजित होती है। आत्मा अथवा चेतना को देश की दृष्टि से देखना अनुचित है। संकोच के सम्बन्ध में भी जैनमत समीचीन नहीं है। प्रकाश एक भौतिक पदार्थ हे। अतः भौतिक पदार्थों की परिधि उसके विस्तार ही प्रकाश का मौलिक स्वरूप है। यह प्रकाश का मौलिक अर्थ भी है। प्रकाश के समान ही मनुष्य की आत्मा और चेतना का स्वरूप ही विस्तार है। प्रकाश और चेतना दोनों दूसरे विषयों को उद्घाटित करते हैं। यह विषयों के सम्बन्ध में प्रकाश और चेतना का रूप है। किन्तु प्रकाश की कोई निश्चित और परिच्छिन्न इकाई नहीं है जैसी कि भौतिक और स्थूल पदार्थों की होती है। विस्तारमुखी स्वभाव के कारण प्रकाश की इकाई की सीमाएं निश्चित नहीं की जा सकतीं। इसी प्रकार मनुष्य के व्यक्तित्व अथवा आत्मा की भी कोई निश्चित इकाई नहीं है। व्यक्तित्व और आत्मा सदा विकास की ओर अभिमुख रहते हैं। एक ही स्थान पर (देश में) दो अथवा अधिक प्रकाशों का संगम हो सकता है। इस संगम में वे प्रकाश अधिक उज्ज्वल और विस्तृत होते हैं। इस संगम में उनके स्रोतों की इकाइयों का विलय आवश्यक नहीं है। इसी प्रकार मनुष्यों के व्यक्तित्व में (भाव) चेतना के विस्तार का स्रोत होता है। देश, काल, इकाई, परिणाम आदि के प्राकृतिक नियमों का अतिक्रमण करके इन भावों का संगम होता है। इस संगम में भाव अधिक उज्ज्वल और समृद्ध होते हैं। प्रकाश की भाँति आत्मा के भाव की गति भी स्वभावतः विस्तार की ओर है। इस विस्तार में ही उसका स्वरूप समृद्ध होता है। प्रकाश एक भौतिक तत्त्व है। अतः प्रकाशों के संगम का परिणाम गणित के इकाई और परिमाण के नियमों के अनुसार होता है। वैज्ञानिक उसे नाप सकते हैं। किन्हीं अर्थों में

प्रकाश के समान होते हुए भी आत्मा के भाव भौतिक नहीं होते। अतः उनका विस्तार देश-काल के नियमों से शासित नहीं है और न उनके सँगम का परिणाम गणित के परिमाणगत नियमों के अनुसार होता है। इस संगम में एक और दो तीन नहीं होते वरन् अधिक होते हैं। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार व्यक्तित्व अथवा आत्मा कठोर इकाइयाँ नहीं हैं उसी प्रकार उनका संगम भी इकाइयों के योग के निश्चित परिमाण के अनुरूप नहीं होता। व्यक्तित्व और आत्मा का स्वभाव विस्तार और समृद्धि है। अतः उनका संगम भी समृद्धशील होता है। जिन अनिश्चित विस्तारों का योग भावों के संगम में होता है उनके स्वरूप का अतिशय संगम में और भी समृद्ध हो जाता है। विस्तार, अतिशय और समृद्धि ही आत्मा के लक्षण हैं। आत्मा के इन्हीं लक्षणों के द्वारा आत्माओं का संगम आनन्द में फलित होता है। सुख दुख संवेदना की भौतिक अनुभूति है, जो देश, काल, इकाई और परिणामों के नियमों से शासित रहती है। आनन्द इनसे अतीत एक अपूर्व और अद्भुत अनुभव है। यह अनुभव सम्वेदना के समान व्यक्ति की इकाई में केन्द्रित नहीं रहता। शरीर में सम्पन्न होने के कारण व्यक्तिगत अवश्य प्रतीत होता है किन्तु व्यक्ति-निष्ठता इसका पूर्ण स्वरूप नहीं है। व्यक्तित्व की इकाई के एकान्त में यह अनुभव सम्भव नहीं होता। इसलिए प्रजापति को अकेले में आनन्द नहीं आया और प्रजापति के समान ही अकेले होने पर किसी मनुष्य को भी आनन्द नहीं आ सकता। यह विचार करने योग्य है कि प्रजापति के समान अकेली स्थिति कभी भी किसी भी मनुष्य की नहीं होती। प्रजापति 'पूर्णतः' अकेले थे। यह सृष्टि के पूर्व का एकाकीपन था, जब सृष्टि का कोई भी पदार्थ और जीव उत्पन्न नहीं हुआ था। यह धरती, धरती के वृक्ष, पशु पक्षी और मनुष्य तथा यह आकाश और आकाश के तारे कोई भी न थे। ऐसे परम शून्य और कठोर एकाकीपन की स्थिति मनुष्य की कभी नहीं होती। मनुष्य का जन्म ही मनुष्यों में होता है। कम से कम माता की गोद तो सभी को मिलती है और उस गोद के आश्रय के साथ एक अत्यन्त स्निग्ध और सरस आत्मा का संगम शैशव में ही मनुष्य को मिलता है। बड़े होने पर जब कभी भी घर अथवा वन में अकेले होते हैं तब भी हम प्रजापति के समान अकेले नहीं होते। प्रजापति का एकान्त कठोर और पूर्ण था। आत्मीय-भाव से नहीं वरन् दूरदर्शन से भी उस एकान्त को भंग करने के लिए कोई पदार्थ अथवा जीव नहीं था। अकेले होने पर भी हमारा एकान्त इतना कठोर और पूर्ण नहीं होता। यदि निकट से नहीं तो दूर से इस एकान्त को भंग करने के लिए संसार और इतिहास में अनेक पदार्थ और प्राणी हैं। कल्पना के द्वारा हम उनके साथ आत्मीयता स्थापित कर

अपने एकांत भाव को दूर कर सकते हैं। कल्पना की गति अलौकिक है और स्वच्छन्द है। वह दूरतम लोकों में विहार कर सकती है। इसी कल्पना के द्वारा कवियों की आत्मा ने नन्दन वन और नक्षत्रों में भी विहार किया है। स्मरण और कल्पना के द्वारा मनुष्य परोक्ष पदार्थों और प्राणियों की संगति प्राप्त करके अपना एकान्त दूर कर सकता है। अतः वह जिसे पूर्ण एकान्त समझता है वह भी प्रजापति का पूर्ण एकान्त नहीं है। निकट और दूर के अनेक पदार्थों तथा प्राणियों के साथ प्रत्यक्ष और काल्पनिक संगति की संभावना इस एकान्त के क्लेश और भार को बहुत हल्का बना देती है। किन्तु ऐसी स्थिति में भी मनुष्य इस एकान्त को सहन नहीं कर सकता। विवशता के कारण ही वह कभी इसे स्वीकार करता है। तनिक भी स्वतन्त्रता होने पर वह किसी न किसी उपाय से इस एकान्त को दूर करता है। अकेली विधवाएँ तोता-मैना पाल कर उन्हें ही अपना संगी बना लेती थीं और उनके साथ बातें करके ही अपने एकाकीपन का भार हल्का करती थीं। बहुत सी विधवाएँ देवताओं की मूर्त्तियों को ही अपना साथी बनाकर अपना एकान्त दूर करती हैं। उनकी सेवा और पूजा के द्वारा कल्पना के भाव में ऐसा ही आनन्द प्राप्त करती हैं जैसा कि मनुष्यों की साक्षात् संगति में प्राप्त होता है। ग्राम और वन के निवासी अकेले होने पर पशु-पक्षियों के साथ ही अपना बन्धुभाव स्थापित करते हैं। वृक्षों, लताओं और जड़ पदार्थों तक को अपना संगी बनाकर मनुष्य अपने एकान्त को दूर कर सकता है। एकान्त उसे इतना असह्य होता है। कभी विवशता के कारण प्रत्यक्ष रूप में अकेला होने पर वह कल्पना के द्वारा अपने प्रियजनों का संग प्राप्त करता है और अपना एकान्त दूर करता है। जहाँ तक संभव होता है वह प्रत्यक्ष रूप में ही अकेला नहीं रहता। एकान्त अप्रिय होने के कारण वह अनजान नगर की सड़कों और उसके बाजारों में ही बिना प्रयोजन के घूमता है। उन लोगों के बीच में भी उसका एकान्त कम से कम बाहरी रूप में दूर हो जाता है। भाव की दृष्टि से चाहे वह अकेला हो किन्तु स्थिति और सत्ता की दृष्टि से तो वह अकेला नहीं होता। मन से भी मनुष्य कभी अकेला नहीं रहता। मन की कल्पना शक्ति से वह अपना अकेलापन दूर कर लेता है। मनोरथ पर चढ़कर वायु-वेग से वह अपने बन्धुओं के पास पहुँच जाता है। प्रजापति सत्ता और भाव दोनों की दृष्टि से अकेले थे। उनको सृष्टि का अभाव होने के कारण मनुष्य के जैसे उपकरण उपलब्ध नहीं थे जिनके द्वारा वे अपना एकान्त-भाव दूर कर सकते। इसीलिए उन्हें इस एकान्त में आनन्द नहीं आया और उन्हें भय लगा। ऐसा कठोर और पूर्ण एकान्तभाव अपनी अपार शून्यता के कारण

कितना क्लेशमय और कितना भयंकर हो सकता है, इसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। मनुष्यों से भरी नगरी और दुनियाँ में अल्पकाल के लिए भी अकेले होने पर हम दुःखी और भयभीत होते हैं। अकेले घर में हमारा चित्त उदास रहता है और हमें भय लगता है। वन के सूने मार्ग में अकेले होने पर हम भयभीत होते हैं। घर के आस-पास में ऐसे लोगों के रहने पर भी हमें संतोष रहता है जिनके साथ हमारा कोई संवन्ध नहीं है, क्योंकि कम से कम वे हमारी सत्ता और स्थिति का अकेलापन तो दूर करते हैं। भाव का अकेलापन हम कल्पना के द्वारा दूर कर देते हैं। सूने मार्ग में कोई अपरिचित, किन्तु शान्तिपूर्ण, साथी मिल जाने पर भी हमें प्रसन्नता होती है। यदि वह चुपचाप ही हमारे साथ चलता रहता है तो भी हमें सन्तोष रहता है। घर और वन का एकान्त इतना पूर्ण और कठोर नहीं होता जितना कि प्रजापति का एकान्त था। फिर भी हमें उसमें क्लेश और भय का अनुभव होता है। इसकी तुलना में प्रजापति का जैसा पूर्ण और कठोर एकान्त कितना अधिक क्लेशपूर्ण और कितना अधिक भयावह होगा, इसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते।

अस्तु, सत्ता और भाव दोनों ही रूप में एकान्त मनुष्य को परम असह्य और अत्यन्त अप्रिय है। दुर्भाग्य से कभी अकेला रहने के लिए विवश होने पर भी वह उसे यथाशक्ति दूर करने का प्रयत्न करता है। प्रत्यक्ष में ऐसा संभव न होने पर वह कल्पना के द्वारा ही उसे दूर करता है। कल्पना मनुष्य की पूर्णतः स्वच्छन्द शक्ति है। उस पर किसी भी शासन अथवा नियम का प्रतिबन्ध नहीं हो सकता। सुनते हैं कि प्राचीन ऋषि-मुनि और तपस्वी वन्य आश्रम और पर्वत कन्दराओं में अकेले रहते थे। संभव है कुछ योगी पूर्णतः अकेले भी रहते हों, क्योंकि तपस्वी के लिए एकान्त का सहन संभव है। वस्तुतः एकान्त का सहन ही तप का बीज है। फिर भी कठोर एकान्त का वरण करने वाले योगी विरले ही होंगे। अधिकांश ऋषि-मुनियों का जीवन कठोर एकान्तमय नहीं था। वे वन्य आश्रमों अपने परिवार और शिष्यों के साथ रहते थे। उस सरल और पवित्र आश्रम-जीवन में आत्मीयता का भाव इतना समृद्ध और उत्कृष्ट था कि अन्यत्र दुर्लभ है। आधुनिक युग के श्री अरविन्द, श्री रामकृष्ण, श्री रमण जैसे योगी भी अकेले नहीं रहते थे। इनमें श्री अरविन्द का एकान्त सबसे अधिक कठोर था। किन्तु यह एकान्त भी पूर्ण नहीं था। प्रजापति के एकान्त की जैसी पूर्णता तो मनुष्य की स्थिति में असंभव है किन्तु मनुष्य की स्थिति में भी कितना एकान्त संभव है उसे भी

श्री अरविन्द ने स्वीकार नहीं किया था। उनके एकान्त का सबसे कठोर रूप उनका मौन और अदर्शन था। किन्तु इतने कठोर और तपःपूर्ण एकान्त में भी वे सत्ता और भाव दोनों की ही दृष्टि से पूर्णतः अकेले न थे। सत्ता की दृष्टि से श्री माताजी का सम्पर्क उनके एकान्त की कठोरता को मृदुल बनाता था। वर्ष में एक-दो बार दर्शन देकर वे शिष्य-वर्ग को कृतार्थ करते थे। किंतु साथ ही उनका एकान्त भी जन संगम के सागर से अभिषिक्त होकर सरस बनता था। इसके अतिरिक्त अपने अगणित शिष्यों से पत्र-व्यवहार के रूप में उनका सम्पर्क था। वे अकेले घर में रहने वाले विधुर अथवा विधवा से भी कम अकेले थे, क्योंकि आश्रम में रहने वाले अगणित शिष्यों का प्रेम पूर्ण सम्पर्क उनके चतुर्दिक रहता था। परोक्ष रहते हुए भी यह सम्पर्क उनके भाव में अपरोक्ष था। सत्ता की दृष्टि से अकेले रहते हुए भी ऐसा सम्पर्क आनन्द का स्रोत और अभय का आश्वासन है। संक्षेप में श्री अरविन्द का एकान्त प्रजापति के एकान्त की तुलना में अनेक आत्मीय जनों के साथ प्रत्यक्ष और परोक्ष आत्मभाव से सम्पन्न था। श्री अरविन्द से अधिक कठोर एकान्त का जीवन कदाचित् ही किसी ने व्यतीत किया होगा। ऋषि-मुनियों और तपस्वियों में भी कदाचित् ही किसी का जीवन पूर्णतः एकान्तमय हो। जगत और समाज के कोलाहल से दूर अपनी एकान्त कन्दरा में भी वे पूर्णतः अकेले न थे। अधिकांश मुनियों के आश्रम में एक आत्मिक परिवार सा रहता था। कन्दरावासी भी पशुओं और वृक्षों के साथ अवश्य ही आत्मभाव रखते होंगे। जिन्होंने कभी सौभाग्य से इन एकान्तवासी योगियों के दर्शन किए हैं उन्होंने उनको अत्यन्त उदार और सहृदय पाया है। यह उदारता और सहृदयता उनके विषद आत्मभाव की द्योतक है। इससे यही प्रकट होता है कि एकान्त साधना आत्मभाव को और विशद बनाती है। एकान्त तपस्या का जीवन में यही मूल्य है। एकान्त साधना अपने आप में साध्य नहीं है और न अपने आप में उसका मूल्य हैं।

जीवन का सत्य और साध्य एकान्त नहीं वरन् अनेक व्यक्तियों के साथ समात्मभाव है। साधना के एकान्त में इस समात्मभाव का सत्य प्रखर रूप में स्फुटित होता है। यही तपस्या और साधना का महत्त्व है। साधना के एकान्त में प्रखर होकर यह समात्मभाव संस्कृति की दिव्य सृष्टि में साकार होता है। इस सृष्टि की अनेकरूपता में सम्पन्न होकर समात्मभाव आनन्द का स्रोत बनता है। प्रजापति ने इसी आनन्द की प्राप्ति के लिए बहुरूप प्रजा की सृष्टि की और उनके साथ आत्मभाव स्थापित किया। विश्व की सृजनात्मक

परम्परा का यही रहस्य है। यही समात्मभाव धर्म, दर्शन, कला, साहित्य, संस्कृति आदि का भी मूल तत्व है। इस समात्मभाव का तात्पर्य आत्मा का समभाव है। चेतनाआत्माका स्वरूप है। वेदान्त में इस आत्मा को चिन्मय माना है। ज्ञान को चेतन मानकर ज्ञाता के निर्विषय और तुरीय चेतना को आत्मा की संज्ञा दी है। जड़ विषयों के विरोध में आत्मा को चेतन मानते हैं। किंतु जीवन का सम्पूर्ण सत्य जड़ और चेतन की विरुद्ध-कोटियों में सीमित नहीं किया जा सकता। वह एक ऐसा भाव है जिसमें जड़ और चेतन तथा दोनों के बीच की अनेक कोटियाँ समाहित है। वह इन सब कोटियों से व्यापक और विशाल है। उसके पूर्ण रूप का अधिगम न सचेतन चेतना में हो सकता है और न तुरीय चेतना में सम्भव है। जड़ता की निश्चेतन स्थिति से भिन्न करने के लिए इसे चेतना से रहित मानना उचित नहीं है। किन्तु इसका समग्र रूप सचेतन चेतना और तुरीय चेतना दोनों को समाहित कर उनसे अधिक व्यापक है। जीवन का यही व्यापक सत्य आत्मा है। यही सत्य का समग्र स्वरूप है। यह जड़-सत्ता की भाँति उदासीन इकाई नहीं है। इसलिए इसे सत्ता के स्थान पर भाव कहना अधिक उचित है। भाषा के प्रयोग में भाव में चेतना का भी अन्तर्भाव है। जीवन का यह स्वरूप भाव चेतना के सभी धरातलों को समाहित करने के लिए एक अपूर्व रस आनन्द से पूर्ण हैं। आत्मा के इस स्वरूप का आनन्द व्यक्तित्व की इकाई में सम्पन्न नहीं होता। इसीलिए प्रजापति को अकेले में आनन्द नहीं आया। इसीलिए किसी भी जीवको अकेलेमें आनन्द नहीं आता। इसीलिए प्रत्येक जीव और विशेषतः मनुष्य अपने बन्धुओं की संगति खोजता है। जीवों और बन्धुओं की संगति मात्र में उसे आनन्द नहीं मिलता। इसीलिए वह उनके साथ आत्मभाव स्थापित करता है। इकाइयों की उदासीन अनेकता में इकाइयाँ अनेक होकर भी अपनी-अपनी इकाई में सीमित रहती हैं। यह जड़ सत्ता और जीवों की प्राकृतिक स्थिति हैं। वेदान्त की तुरीय चेतना में यह इकाई पूर्णत: विलीन हो जाती है। इकाई की सीमा में तो किसी को आनन्द नहीं आता, इसीलिए प्रजापति के समान ही एकान्त किसी को सह्य और प्रिय नहीं हैं। इसीलिए प्रत्येक जीव अन्य इकाइयों के साथ संगति की आकांक्षा करता है। इसीलिए योगियों द्वारा प्रवर्तित एकान्त साधना की परम्परा अधिक दिन तक नहीं चल सकी। वेदान्त की जिस तुरीय चेतना में व्यक्तित्व की इकाई का विलय हो जाता है वह भी बहुत कम साधकों को अभीष्ट हुई है। समात्मभाव जीवन की अनेक इकाइयों का ऐसा आत्मीय भाव है जो न इकाई की कठोर सीमा को प्राप्त हो सकता है और न इकाई के आधार को खण्डित करता है। जीवन विशेषत: मनुष्य

जीवन कोई कठोर इकाई नहीं है। कठोर इकाई के रूप का आरोपण जीवन को असह्य होता है। जीवन की अनिश्चित इकाई अन्य अनिश्चित इकाइयों के साथ आत्मभाव प्राप्त करके ही आनन्दित होती है। इस आत्मभाव को कठोर इकाई की कल्पना के आधार पर नहीं समझा जाता। कठोर इकाई का दृष्टि-कोण सम्वेदना की सचेतन परिधि और उसके स्वार्थमय अन्वय से उदित होता है। भौतिक पदार्थों को हम कठोर इकाई मानते हैं। किन्तु उनमें से असंख्य पदार्थ ऐसे हैं जिनकी इकाइयाँ अपनी कठोरता को छोड़कर बृहत्तर इकाइयों को जन्म देती हैं। भौतिक सत्ता की मूल इकाई परमाणु है, जो अदृश्य है। अतः हम इन इकाइयों के संयोग से बनी हुई बृहत्तर इकाइयों को ही भौतिक इकाई मानते हैं। ये इकाइयाँ धातुओं के समान एक दूसरे में विलीन होती हैं और मिट्टी के समान इनके कण अलग-अलग भी हो सकते हैं। इससे भौतिक सत्ता की उदासीन स्थिति प्रकट होती है। पृथ्वी इस उदासीन सत्ता का विराट रूप है। किन्तु संभवतः उसका वह सबसे मृदुल रूप है। इसी मृदुलता के कारण पृथ्वी सबकी माता है। वह अपने मृदुल अंक में सबको धारण करती है और सबका पालन करती है। पृथ्वी के गर्भ से ही वनस्पतियों में जीवन का आदि रूप उदित हुआ है। पृथिवी की अपेक्षा अधिक मृदुल संभवतः जल है। जल में इकाइयों का रूप पृथिवी के कणों के समान पृथक नहीं हो सकता। जिसे हम जल के कण कहते हैं वे वस्तुतः जल के कण नहीं हैं, वरन् कण-समूह हैं और वे भी क्षण भर पृथक नहीं रह सकते। क्षण भर में आकाश से गिर कर वे आपस में अथवा पृथिवी में मिल जाते हैं। इकाइयों की यह अभिन्नता जीवन का मौलिक और सर्वोत्तम रूप है। संभवतः इसीलिए संस्कृत भाषा में जल का पर्याय 'जीवन' है। जल में इकाइयों की अभिन्नता के साथ-साथ जो बहुरूप समयोजन है वह भी जीवन का अभीष्ट रूप है। जल एक आकार में स्थिर भी रह सकता है, यद्यपि स्थिरता उसका स्वभाव नहीं है और स्थिरता में वह सड़ता है। वह पृथिवी और वायु में मिल भी जाता है। किन्तु जल का स्वभाव द्रवत्व के कारण गति है। मानों वह सबसे भेंटने के लिए निरन्तर आगे बढ़ता है। जल के जीवन्त स्वभाव के कारण ही सम्भवतः सृष्टि के आदि में जल में ही जीवन का आरम्भ हुआ है। उसकी द्रवता और मृदुलता के अंक में जीवन स्फुरित हुआ। जल के रूप में ही जीवन का मर्म निहित है। इसीलिए जल के बिना किसी भी रूप में जीवन संभव नहीं हो सकता। वनस्पतियाँ जल से ही अंकुरित होती है। पशु-पक्षी और मनुष्य जल से ही जीते हैं। उनके शरीर में भी जल का भाव बहुत है। स्थिर होने पर जल वायु के मार्ग से अपने स्वभाव का अनुसरण करता है। तप से

ऊर्जित जल पर्जन्य बन कर तपोमय जीवन के समान ही अधिक फलित होता है। वायु जल से भी अधिक सूक्ष्म और अदृश्य होती है। जल में यदि पृथिवी के समान कण अलग नहीं हो सकते तो क्षण भर के लिए स्थूल-कण समूह तो दिखायी देते हैं। वायु में इकाइयों के स्थूल समूह भी अलग नहीं हो सकते। मानो समस्त वायु-मण्डल एक समग्र इकाई है। आकाश वायु से भी अधिक सूक्ष्म और अखण्डनीय है। वह एक पूर्ण और अनन्त इकाई है। इस इकाई के खण्ड नहीं हो सकते।

तेज का रूप विचित्र है। वह प्रकट और अप्रकट दोनों है। उसके समग्रता और इकाई दो रूप भी अलग-अलग दिखायी देते हैं। सूर्य के अतिरिक्त उसका कोई प्रकट रूप स्थायी नहीं है। तेज का सूक्ष्म रूप भी सक्रिय है। वह वायु और जल को गति देता है। जल, पृथिवी और वायु में तेज के संयोग से ही जीवन का उदय हुआ है। तेज के कण पार्थिव कणों के आधार में प्रकट हो सकतें हैं। अन्यथा प्रकट तेज इकाइयों का समुदाय है। सूक्ष्म तेज एक समग्र इकाई है जो आकाश के अतिरिक्त समग्र विश्व में व्याप्त रहती है। तेज की इस समग्र इकाई में अनन्त इकाइयाँ अर्न्तहित रहती हैं। दीपक की शिखाओं और इन्धन की ज्वालाओं की भाँति ये इकाइयाँ सहज मिलकर एक हो जाती हैं। प्रकाश-रूप इनके फल की इकाइयां भी एक रूप हो जाती है। तेज की इकाइयाँ मिलकर एक अधिक उज्ज्वल इकाई को जन्म देती है, जिसके तेज और प्रकाश दोनों ही अधिक तीव्र होते हैं। इकाइयों के सम्मिलन से तेज की समृद्धि होती है। यह समृद्धि ही जीवन का लक्षण है। इसीलिए संभवतः तेज के संयोग से ही विश्व में जीवन स्फुरित होता है। तेज ही जीवन की आत्मा है। इसीलिए भगवान को तेजस्वरूप माना गया है। वेदों में गायत्री-मंत्रों में भी दिव्य तेज की वन्दना है। वायु जीवन का प्राण है। श्वास से ही सब प्राणी जीते हैं। प्राण-वायु तेज और जीवन का आधार है। जीवन का स्पन्दन और तेज की स्फूर्ति इसी पर अवलंबित है। इसीलिए उपनिषदों के सृष्टि-क्रम में वायु से अग्नि अथवा तेज की उत्पत्ति मानी गई है। तेज का प्रकट रूप प्राण-वायु में व्याप्त तेजस् तत्त्व का ही स्फोट है। इस प्रकार तेज का उद्भव ही जीवन है। इसीलिए तेज से जल की उत्पत्ति मानी गई है, जिसका एक पर्याय 'जीवन' है और जो जीवन का आधार है। जल से पृथिवी के उदय का अर्थ यह है कि पार्थिव रूपों में ही उद्भूत जीवन साकार होता है। जल की रसात्मकता से पार्थिव कण संगठित होते हैं। किन्तु इस संगठन का इकाइयाँ अलग-अलग भी हो जाती है। जीवन

के मूर्त्त रूपों में यह संगठन घनिष्ठ होता है। इस संगठन के रहते ही जीवन भी रहता है। इस संगठन के विच्छिन्न होने पर जीवन भी उच्छिन्न हो जाता है। सङ्गठन की इकाइयों का विच्छेद ही मरण है। इसीलिए उसे 'पंचत्व-प्राप्ति' कहा जाता है। 'पंचत्व' का अर्थ यह है कि जीवन की सजीव इकाई में संगठित भूत तत्व पृथक-पृथक हो जाते हैं।

जीवन की सजीव इकाई में तत्वों की इकाइयों का संगठन एक अद्‍भुत रूप में होता है। भूतावस्था में इकाइयों का संगठन एक ऐसे रूप में होता है, जिसमें एक बृहत्तर इकाई में सम्मिलित होते हुए भी अन्य इकाइयाँ अपने स्वरूप में भी अक्षुण्ण बनी रहती हैं। दर्शन की परिभाषा में इकाइयों के इस संगठन को 'संयोग' कह सकते हैं। संयोग वाह्य सम्बन्ध है। घनिष्ठता आन्तरिक सम्बन्ध से आती है। पत्थर, धातु आदि भौतिक पदार्थों में भी इस घनिष्ठता के कुछ रूप दिखायी देते हैं। किन्तु सजीव इकाई में यह घनिष्ठता अधिक पूर्ण है। इसीलिए इस घनिष्ठता का विच्छेद मरण बन जाता है। किन्तु दूसरी ओर भौतिक पदार्थों में संयोग के द्वारा इकाइयों का सम्मिलन केवल संयुक्त आकार और परिमाण को जन्म देता है। नवीन गुण भी इकाइयों के गुणों के मिश्रित रूप होते हैं। सजीव इकाई में एक जीवन का अपूर्व गुण तो होता ही है, किन्तु इसके साथ-साथ इस सजीव इकाई का विकास भी अद्‍भुत रूप से होता है। समृद्धि इस विकास की शैली है। भौतिक संगठनों की भाँति सजीव इकाई लघुतर इकाइयों के बाहरी संयोग का परिणाम नहीं है। इसके विपरीत वह एक मूल और बीज रूप इकाई के विभाजन से विकसित होती है। इस बीज रूप इकाई का केवल विभाजन नहीं होता। किसी अन्तर्निहित शक्ति के द्वारा इसका विभाजन होता है। किन्तु इस विभांजन का फल विभाजित अंगों का समवाय होता है। इकाइयों का यह विभाजन ही समृद्धि का सूत्र और जीवन का लक्षण है। निर्जीव भौतिक पदार्थों में यह नहीं मिलता। किसी तेजोमय शक्ति के समृद्धिशाली स्वरूप से यह लक्षण जीवन को प्राप्त हुआ है। बीज के विभाजन में शक्ति का स्फोट होता है। आत्म-विभाजन बीजाणु की इकाई का विशेष धर्म है। किन्तु इसके अतिरिक्त एक कठोर समग्रता का संगठन भी जीवन की इकाई का विशेष लक्षण है। इस कठोरता में जीवन की समृद्धि संरक्षित रहती है।

अस्तु जहाँ भौतिक इकाइयों में भी सम्मिलन की प्रवृत्ति दिखायी देती है वहाँ दूसरी ओर उनका संगठन संयोग मात्र है। इन संगठन में इकाइयों

का स्वरूप पूर्णतः नष्ट नहीं होता और इन संगठनों के छिन्न होने पर भी वह नष्ट नहीं होता। भौतिक इकाइयों का रूप अक्षुण्य और अमृत है चाहे उनके संगठनों में समृद्धि नहीं होती। इसके विपरीत बीजाणु के विभाजन से सजीव इकाइयों का समृद्ध रूप संगठित होता है। इकाइयों का विभाजन और समवाय जीवन के दो तन्त्र हैं। विभाजन से समृद्धि होती है, और समवाय से इकाइयों की घनिष्ठता एक कठोर समग्रता को जन्म देती है। इस अपूर्व स्वभाव के कारण ही सम्भवतः जीवन की समग्र इकाई में एक कठोर संकोच उत्पन्न हो गया। नश्वर होने के कारण मानो वह अपने अस्तित्व के प्रति इतनी सजग हो गई है कि इस सजगता ने स्वार्थ और अहंकार का रूप ले लिया है। संयोग में भी अक्षुण्ण और अमृत होने के कारण मानो भौतिक इकाइयाँ संयोग और विभाजन के प्रति उदासीन हों। ये भौतिक इकाइयाँ अपने स्वरूप और स्वभाव में अवश्य स्थिर रहती हैं। किन्तु इनमें कोई स्वार्थ नहीं होता। ये स्वार्थ और परार्थ के भावों से उदासीन होती हैं। किन्तु सजीव इकाई अपनी समग्रता में रूढ़ होने के कारण स्वार्थ के प्रति अधिक सजग है। सम्भवतः इसी सजगता के कारण सजीव इकाइयों का सम्मिलन नहीं होता। वे अपने रूप की सीमा में सदा अलग रहती हैं। उनका बाह्य संयोग हो सकता है। किन्तु उनका आन्तरिक समवाय नहीं होता। वस्तुतः सजीव इकाई की कठोर समग्रता का स्वार्थ ही उसकी वृद्धि का सूत्र है। भौतिक इकाइयों के तत्वों और अपने संगठन में आत्मसात करके ही सजीव इकाई बढ़ती है और संरक्षित रहती है। उसकी गति और क्रियाएँ भी अपने रूप के संरक्षण के लिये ही होती हैं। अतः उन्हें स्वार्थमय कह सकते हैं। संवेदनाओं में भी उसका केन्द्र स्वार्थ में ही होता है, यद्यपि इन्द्रियों में शरीर की अपेक्षा परार्थ भाव अधिक विकसित हुआ है। दृष्टि और स्पर्श की संवेदना में परार्थ भाव समात्म-भाव बन जाता है। एक सजीव इकाई दूसरी सजीव इकाई के दर्शन और स्पर्शन से आनन्दित होती है। किन्तु इसमें भी ये इकाइयाँ अपने स्वरूप में ही रूढ़ रहती हैं, यद्यपि समात्मभाव में इन इकाइयों को सुख मिल सकता है। संवेदना सचेतनता ही मानो केन्द्रित हो कर अहंकार बन जाती है। यह अहंकार स्वार्थ का बिन्दु और बीज है। इसी से प्रेरित होकर सजीव इकाई की प्रकृति और प्रवृत्ति स्वार्थ में संलग्न रहती है।

किन्तु दूसरी ओर उसकी गति परार्थ और समात्मभाव की ओर भी होती है। गन्ध, श्रवण आदि में परार्थ भाव अधिक है। दृष्टि और स्पर्श में

समात्मभाव भी विकसित होता है। किन्तु इनका समात्मभाव वर्तमान और सम्मेदना तक ही सीमित है। मन में स्मृति और कल्पना के द्वारा इस समात्मभाव का विस्तार भूत, भविष्य और परोक्ष में होता है। भौतिक होते हुए भी मन प्रकृति की इकाइयों के कठोर नियम से शासित नहीं है। न वह भौतिक इकाइयों की भाँति संयोग-वियोग के प्रति उदासीन है और न सजीव इकाई की भाँति सम्मिलन में असमर्थ हैं। मन में मानों प्रकृति और चेतना का संगम हुआ है। अतः उसे दोनों के स्वभाव का वरदान मिला है। उसे अपनी इकाई रूप की भी चेतना और उसका विराग है। किन्तु वह इसमें ही सन्तुष्ट नहीं है। अपने रूप में रहते हुए भी मन दूसरे मनों में मिल जाना चाहता है। शरीर की सजीव इकाई को भी दृष्टि और स्पर्श में समात्मभाव की आकांक्षा मानो मन से ही मिली है। प्रकृति से शासित न होने के कारण मन का अद्भुत धर्म स्वच्छन्द रूप से सम्पन्न होता है। उसमें न उसकी इकाई के रूप का विलय होना आवश्यक है और न साथ ही इस इकाई के कठोर स्वार्थ का आग्रह रहता है। संयोग और वियोग के नियम भी उस पर लागू नहीं होते। भौतिक और शारीरिक संयोग होने पर भी मन विलग रह सकते हैं। समवाय में मन अभिन्न भी हो जाते हैं। संयोग में वे मिलकर एक भी होते हैं। वियोग में वे पृथक भी हैं। किन्तु जिस प्रकार संयोग में भी वे अलग रह सकते हैं उसी प्रकार वे वियोग में भी मिल सकते हैं। मन की गति प्रकृति के नियमों से शासित नहीं है। स्मृति और कल्पना के चमत्कार के कारण उसकी गति अद्भुत और विचित्र है। इस विचित्रता में जीवन की एक नई विमा प्रकट होती है जो समृद्धि और समात्मभाव के रूप में जीवन की नवीन विभूतियों के अमृत द्वार खोलती है।

मन में प्रकृति और चेतना का संगम है। अतः उसमें प्रकृति और आत्मा दोनों के लक्षणों का समवाय है। प्रकृति की इकाई मन में अहंकार के रूप में केन्द्रित हुई है। किन्तु अहंकार की सचेतन इकाई जड़ न होने के कारण उसका कोई निश्चित और स्थिर रूप नहीं है। सचेतन होने के कारण वह उदासीन नहीं वरन् सचेष्ट है, केवल संकोचशील ही नहीं वरन् विस्तारशील भी है। अपने अनिश्चित स्वरूप को स्थिर रखते हुए भी वह दूसरे इकाइयों से मिलकर एक हो जाना चाहती है। इसीलिए इस अहंकार का विस्तार अन्य पदार्थों और व्यक्तियों के साथ एकात्मभाव में होता है। इस विस्तार में प्रकृति की इकाई आत्मा के स्वरूप का अनुशीलन करती है। वेदान्त के अनुसार आत्मा अन्ततः चिन्मय और एक है। एक कहने से यदि इकाई का भ्रम हो तो उसे 'अद्वितीय' कहना अधिक उचित है। उपनिषदों में आत्मस्वरूप ब्रह्म को एक

कहने के बाद शीघ्र ही अद्वितीय कहकर इस भ्रम का संशोधन कर दिया है। एकता और अनेकता उन इकाइयों का लक्षण है जो एक दूसरे से पृथक समझी जाती हैं। अनेकता इकाइयों की ही अनेकता है। अत: यह सारी धारणा है कि वह अपने स्वरूप की सीमा और उसके संकोच में स्थिर रहती है। प्रकृति में इकाइयों का रूप कठोर और उदासीन है। अन्तिम इकाइयाँ तो अनन्त और अमृत हैं। किन्तु इकाइयों के समूह विशेषत: पार्थिव रूपों में कुछ कठोर दिखायी देते हैं। इन समूहों के संगठन अपने रूप की रक्षा में भी कुछ दृढ़ता दिखाते हैं। सम्भवत: इन इकाइयों की सम्वेदना से ही मनुष्य में अपने व्यक्तित्व की इकाई का अहंकार विकसित होता है। अहंकार की चेतना के निर्माण में इस सम्वेदना का बहुत कुछ योग हो सकता है। इसके साथ-साथ शरीर की सम्वेदनाएं और आकांक्षाएँ भी इसको दृढ़ बनाती है। शरीर के निर्माण में संगठित इकाई का रूप भौतिक इकाइयों से भी अधिक घनिष्ठ और प्रिय बन गया है। शरीर का मोह इसी प्रियता का फल है। शरीर की इकाई इस दृष्टि से कठोर है कि वह दूसरी इकाइयों में मिल नहीं सकती। शरीर की इकाई के इस मोह का कारण कदाचित् यह है कि जहाँ भौतिक इकाइयों का मूल रूप सङ्गठनों में अक्षुण्ण रहता है वहाँ सजीव इकाई विभाजन और विकास में अपने स्वरूप की बलि देकर शरीर का निर्माण करती है। मूल इकाई के अक्षुण्ण न रहने के कारण सजीव शरीर में संगठन की इकाई अधिक दृढ़ बन गई है। वह अपने विकास और संरक्षण के लिए भी बहुत चेष्टा करती है। शरीर के विकास के साथ-साथ अहंकार की चेतना तथा रक्षा की चेष्टा और अधिक बढ़ती है। इस दृष्टि से शरीर की इकाई भौतिक इकाइयों से पूर्णत: विपरीत है।

आत्मा का स्वरूप इन दोनों से ही भिन्न है। यह भिन्नता इस रूप में नहीं है कि आत्मा इकाई के रूप की पूर्णत: उपेक्षा करती है और उसके लिए आत्मा में कोई स्थान नहीं है। इकाई के इन रूपों से विरोध होने पर आत्मा भी इनसे भिन्न एक इकाई बन जायगी। भेद अनेकता को जन्म देता है और अनेकता इकाइयों का ही लक्षण है। इसी भ्रम की आशंका से वेदान्त ने आत्मा को एक न कहकर अद्वैत कहा है। अद्वैत एकता का प्रतिपादन नहीं, वरन् द्वैत अथवा भेद का निराकरण है। वस्तुतः आत्मा का स्वरूप न इन इकाइयों के समान है और न इनके विपरीत है वरन् दोनों से विलक्षण है। आत्मा के इस विलक्षण स्वरूप में अन्य समस्त रूपों का समाहार है। किन्तु

इसके अतिरिक्त कुछ अतिशय भी हैं। प्रायः इसी अतिशय को आत्मा का मुख्य स्वरूप मानकर वेदान्त दर्शनों में जगत और जीवन के अन्य रूपों की निन्दा होती रही है। किन्तु वस्तुतः आत्मा में कोई भी रूप उपेक्षणीय नहीं है। केवल इतना ही है कि ये रूप अपनी सीमाओं का आदर करें और अपने को ही पूर्ण तथा परम सत्य न समझें। इनसे परे सत्य की खोज इनसे अतीत सत्यों का संकेत करती है। केवल आत्मा पूर्ण सत्य है और इस पूर्ण में समस्त रूपों का समाहार है। इस समाहार के कारण ही सृष्टि के विभिन्न धरातलों से विभिन्न रूप उदय हुए हैं, जिनमें अणुओं की अमृत इकाइयाँ प्रथम, भौतिक संगठन माध्यमिक और सजीव शरीर अन्तिम है। माध्यमिक संगठनों में आणविक इकाइयाँ अक्षुण्ण रहती हैं, अतः वे संयोग और वियोग के प्रति उदासीन हैं। शरीर के संगठन में बीजाणु की इकाई अपने अस्तित्व की बलि देती है। इसीलिए इस इकाई में संगठन की रक्षा का मोह प्रबल है। इकाइयों के संगठनों के ये दोनों विपरीत रूप अपने आप में महत्त्वपूर्ण हैं। इनको ही पूर्ण सत्य मानना चाहे भ्रम हो, किन्तु इनके सीमित रूप मनुष्य जीवन की समृद्धि सम्भावनाओं के आधार हैं। हम कल्पना नहीं कर सकते कि यदि इकाइयों के संगठनों के ये दोनों ही रूप अपने आकारों में स्थिर न होते तो जीवन की क्या दशा होती। भौतिक इकाइयों के स्थिर न होने पर हमारी समस्त बाहरी व्यवस्था विशृंखल हो जाती है। शरीर की इकाई के स्थिर न होने पर जीवन का आधार ही उच्छिन्न हो जाता है। शरीर की इकाई में स्वार्थ का उत्कर्ष और अहंकार का उदय अतिचार के कारण चाहे कितना ही निन्दनीय हो, किन्तु अपनी मर्यादाओं में यह अत्यन्त हितकर है। शरीर की इकाई अचेतन और सचेतन स्वार्थ के कारण अपने पोषण और रक्षण में समर्थ है। इससे हम एक दूसरे के उत्तरदायित्व और भार से कितने मुक्त रहते हैं, इसका अनुभव शिशु-पालन के भार को समझने पर ही हो सकता है। शरीर की यह स्वार्थमय समर्थता मनुष्य की मुक्ति का कारण है। शरीर को बन्धन का कारण मानने वाले अध्यात्मवादियों ने मुक्ति की दिशा में शरीर के इस महान् योग का मूल्य नहीं समझा। सामाजिक व्यवस्था में सन्तान के स्वतन्त्र और स्वावलंबी बनने पर हमें इस मुक्ति की महिमा का अनुभव होता है। शरीर की इकाई में संरक्षण और निर्वाह की समर्थता का पूर्ण विकास अन्य क्षेत्रों में मुक्ति समृद्धि की भूमिका है।

आत्मा के पूर्ण स्वरूप में इकाइयों के इन सभी रूपों का उचित स्थान है। इसीलिये आत्मा की स्वतन्त्र इच्छा से ही सृष्टि के विभिन्न धरातलों

पर इकाइयों के विविध रूप प्रकट हुए हैं। किन्तु दूसरी ओर इन इकाइयों का उद्भव ही सत्य का पूर्ण स्फोट नहीं है। आत्मा के पूर्ण रूप में इन इकाइयों का उचित स्थान है। सृष्टि और जीवन में इनका उचित महत्त्व है। किन्तु आत्मा के स्वरूप में इनके अतिरिक्त कुछ अतिशय भी हैं। आत्मा के स्वरूप का यह अतिशय इकाइयों के समस्त रूपों से अतीत और विलक्षण है। इस विलक्षणता के कारण इकाइयों के किन्हीं भी लक्षणों के अनुरूप आत्मा की कल्पना भी नहीं की जा सकती। वह न एक है और न अनेक हैं। उसका न उद्भव होता है और न नाश। वह न दूर है न निकट है। दूर भी है और निकट भी है। वह न पुरुष है और न स्त्री। किन्तु एक ओर वह जहां इन सब रूपों से अतीत है वहां वह इन सब रूपों में व्याप्त भी है। अतीत होने की दृष्टि से जहां वह आकाश के समान अलिप्त है वहां व्याप्त होने की दृष्टि से वह सभी रूपों का समर्थन भी करती है। इन समस्त रूपों के पुष्प आत्मा के ही अनन्त अंचल में खिलते हैं। इन पुष्पों से ही आत्मा का अंचल और सृष्टि का आंगन भरा है। ये पुष्प उपेक्षणीय नहीं, किन्तु आदरणीय हैं। इनमें आत्मा का सौन्दर्य साकार हुआ है। ये उल्लास के साधन और अर्चना के उपकरण हैं। इन पुष्पों के गर्भ में ही सृष्टि के सौन्दर्य की अनन्त परम्पराएं पलती हैं। हां, आत्मा का समस्त सौन्दर्य और स्वरूप इनमें ही समाप्त हो जाता। इनसे अतीत उसके स्वरूप के अतिशय की कल्पना इन रूपों के अनुरूप नहीं की जा सकती। किन्तु वह स्वरूप इन रूपों से विलक्षण है। अतः जहां एक ओर वह इकाइयों के सभी रूपों का आदर और समर्थन करता है वहां दूसरी ओर वह इकाइयों के लक्षणों से अतीत है। इकाई की निरूढ़ता का समर्थन करते हुए भी वह उससे उदासीन हो सकता है। इस उदासीनता में इकाइयों का विलय भी असंभव नहीं है। आकाश के समान इस आत्मा का ऐसा अलिप्त और अनन्त रूप भी है, जिसमें इकाइयों का भेद मिथ्या है।

बुद्धि में आत्मा का उदासीन रूप प्रकट हुआ है। बुद्धि का स्वरूप निर्वैयक्तिक है। वह अपने और दूसरे के दोनों के व्यक्तित्व की ओर से उदासीन रहती है। बुद्धि के स्वरूप में अहंकार का लेश नहीं होता; यद्यपि मनुष्य की प्रकृति के प्रभाव से बौद्धिक विचारों में भी अहंकार का भाव आ जाता है। किन्तु यह भाव विचार के स्वरूप से बाहर होता है क्योंकि वह बुद्धि के स्वरूप का अन्तरंग नहीं है। अपने स्वरूप में बुद्धि और विचार व्यक्तित्व और अहंकार के ऊपर होते हैं। इसीलिए प्रत्येक मनुष्य अपने विचार का गर्व करते हुए भी उसे एक निरपेक्ष सत्य के रूप में प्रस्तुत करता है। प्रायः ईमानदारी

से विचार करने पर विचार हमारे अहंकार के विपरीत होता है। दूसरों के द्वारा प्रस्तुत किये जाने पर भी हम ऐसे विचारों से पराभूत हो जाते हैं। मनुष्य का अहंकार भी अपना दुराग्रह करता है, किन्तु विचार की निर्वैयक्तिकता, निष्पक्षता, निरपेक्षता, तटस्थता और उदासीनता का बोध स्वच्छ विचार के क्षणों में प्रत्येक बुद्धिमान मनुष्य को होता है। ऐसे क्षणों में वह निस्वार्थ और निरहंकार भाव से किसी विचार की यथार्थता को स्वीकार करता है। यह उदासीन विचार बुद्धि का धर्म और व्यापार है। इस उदासीनता का रूप यही है कि विचार और उसके लक्ष्भ भूत सत्य की सत्ता तथा उसका महत्त्व किसी की व्यक्तिगत वासना पर निर्भर नहीं है। वे अपने आप में ही प्रतिष्ठित हैं। मनुष्य की चेतना में निरपेक्ष भाव से इस सत्य को परखने की सत्ता है। इसी शक्ति का नाम 'बुद्धि' है। व्यक्तित्व और अहंकार से ऊपर होने के कारण यह बुद्धि अनेक रूप नहीं वरन् एक रूप है। व्यक्तित्व और अहंकार के भेद से ही अनेक रूपता उत्पन्न होती है। बुद्धि और विचार इनसे ऊपर हैं। इसीलिए सांख्य दर्शन के सर्ग-क्रम में बुद्धि को अहंकार से ऊपर रखा गया है और वह एक ही मानी गई है। अनेक व्यक्तित्वों के आश्रय में उदित होते हुए भी वह एक रहती है। विचारों की एकता होने पर अथवा एक विचार को अनेक व्यक्तियों के द्वारा समान रूप से स्वीकृत होने पर बुद्धि की एकरूपता प्रकट होती है। बुद्धि और विचार सूक्ष्म तत्व हैं। उनकी एकता को स्थूल और भौतिक पदार्थ की एकता की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। यह एकता इकाई के संगठन के रूप में नहीं है वरन् इकाई के प्रति उदासीनता के रूप में है। इसीलिए विचारों संश्लेष विचारों के विस्तार के रूप में होता रहता है। विचारकों की इकाइयों का परिच्छेद निश्चित करना कठिन है। ये अनिश्चित इकाइयाँ विस्तारों में विलीन होती रहती हैं। इन विस्तारों के अन्तर्गत परिभाषा और लक्षणों के द्वारा तर्क-शास्त्र सूक्ष्म भेद स्थापित करता रहता है। यह भेद ही विवेक का रूप है। किन्तु यह विवेक तर्क का व्यवहार मात्र है। प्रायः इस विवेक को ही बुद्धि का प्रमुख रूप मानते रहे हैं। तर्क के व्यवहार के लिए यह उचित है। किन्तु यह विवेक की बुद्धि का सम्पूर्ण स्वरूप नहीं है। विवेक बुद्धि का प्रकट रूप है। इससे भी अधिक निगूढ़ बुद्धि का निरपेक्ष और उदासीन रूप है। बुद्धि के इस रूप में समता रहती है। सत्व के उत्कर्ष के कारण बुद्धि में साम्य अधिक रहता है। इस समता के कारण ही विचार की विविक्त इकाइयों में विरोध नहीं रहता। वे विरोध के अतिक्रमण और संगति की ओर अभिमुख रहती है। विविक्त इकाइयों के स्वरूप और सत्य में भी यह निरपेक्ष भाव निहित रहता है। बुद्धि की इस निरपेक्षता के आधार पर ही हम दूसरों

से तर्क करते हैं और उनसे आशा करते हैं कि वे हमारे विचारों को स्वीकार करें। बुद्धि और विचार की एकरूपता का अर्थ यह नहीं है कि विचार एक अखण्ड इकाई है। संभवतः ऐसा हो और विचारों की एकाइयाँ केवल एक व्यावहारिक भेद हो किन्तु यहाँ एक रूपता से हमारा अभिप्राय केवल इतना ही है कि व्यक्तित्वों के भेद का प्रभाव विचार के स्वरूप का आवश्यक अंग नहीं है। वह व्यक्तित्व की ओर से उदासीन रहता है। विचार यह आशा करता है कि सभी व्यक्ति उसे समान रूप से स्वीकार करेंगे। विचार का सत्य व्यक्तित्वों से स्वतन्त्र और उनके स्वरूप में ही निहित होता है। इस दृष्टि से वह अनेक व्यक्तित्वों के लिए अनेक रूप है और समान भाव से स्वीकार्य है। विचार के सम्बन्ध में जो अहंकार और आग्रह उत्पन्न होता है वह विचार का स्वरूप नहीं, मनुष्य के स्वभाव का आरोपण है। अपने स्वरूप में विचार उदासीन सम और शान्ति है। विचार में भेद और भ्रम हो सकता है। यह विचार करने वाले की बुद्धि के उत्कर्ष पर निर्भर है। किन्तु समाज में विरोध अहंकार के आग्रह के कारण होता है। यदि मनुष्य विचार की उदासीनता और समता का आदर करता तो विचार के क्षेत्र में ही नहीं, समाज में भी संघर्ष न होता मनुष्य को बुद्धिमान प्राणी मानकर प्राचीन विचारकों ने बहुत बुद्धिमानी का परिचय दिया है। बुद्धि का समभाव ही मनुष्यता का मर्म है। यह समभाव व्यक्तित्व के अहंकार और विरोध को शान्त करता है। बुद्धि और विचार की उदासीनता तथा निरपेक्षता व्यक्तित्व की ओर उदासीन भाव से समता का द्वार खोलती है। केवल इतना है कि इस उदासीनता के कारण चिंतन के शून्य और शुष्क क्षेत्र में समता का यह द्वार खुलता है। विचार चाहे मानसिक क्रिया हो किन्तु स्वयं विचार के स्वरूप में व्यावहारिक अर्थ में क्रिया की प्रेरणा नहीं होती। क्रिया की प्रेरणा विचार में नहीं, भाव में होती है। इस भाव के दो रूप हैं। एक जिसे भावना अथवा संवेग कहते हैं और जिसका बीज प्राकृतिक प्रवृत्तियों में रहता है। प्राकृतिक होने के कारण इस क्रिया का रूप स्वार्थमय होता है। अहंकार के सजग रूप में तथा अचेतन रूप में भी ये प्रवृत्तियाँ क्रियाँ को प्रेरित करती हैं। इन क्रियाओं का उद्देश्य सुख रहता है। सुख्य व्यक्तिगत और अनुकूल सम्वेदना है। व्यक्तिगत होने के कारण यह स्वार्थमय होती है। भाव का दूसरा रूप वह है जो व्यक्ति में आश्रित और प्रवृत्ति से प्रेरित होते हुए भी इनके स्वार्थ में सीमित नहीं है। भौतिक पदार्थ एवम् प्राकृतिक प्रवृत्तियाँ इसके उपकरण और निमित्त बन सकते हैं। किन्तु इनका कठोर स्वार्थ उस भाव के स्वरूप का नियामक नहीं है। भाव का यह रूप व्यक्तित्व की ओर से पूर्णतः उदासीन नहीं होता। किन्तु

व्यक्तित्व के स्वार्थ और सीमा का आग्रह इसमें नहीं होता। बुद्धि और विचार स्वरूपतः अपने और दूसरे दोनों के व्यक्तित्व की ओर से उदासीन रहते हैं। किन्तु यह उदासीनता आवश्यक रूप से व्यक्तित्व की अपेक्षा अथवा उसका तिरस्कार नहीं है। व्यक्तित्व के आग्रह की भाँति व्यक्तित्व की उपेक्षा भी विषमता का कारण है। बुद्धि की समता आग्र और उपेक्षा दोनों से अतीत होने के कारण है। इसी समता से व्यक्तित्वों का सामञ्जस्य और समात्मभाव की संभावना निहित रहती हैं। बुद्धि की निरपेक्ष उदासीनता से भिन्न और विपरीत रूप प्राकृतिक प्रवृत्तियों का है। वे स्वार्थमय होती हैं। यह स्वार्थ व्यक्तित्व के अनुराग और आग्रह के रूप में प्रकट होता है। बुद्धि की उदासीनता और समता व्यक्तित्व के इस अनुराग को मर्यादित तथा इस आग्रह को मन्द कर सकती है। यह व्यक्तित्वों के सामंजस्य का मार्ग है। इस सामंजस्य में ही सामाजिक शान्ति और आनन्द का सूत्र निहित है। किन्तु बुद्धि और विचार में उदासीनता के कारण इस सामंजस्य की सजीव प्रेरणा नहीं है। बुद्धि विरक्त है। वीतराग होने के कारण बुद्धि में प्रवृत्ति के समान प्रेरणा नहीं है। इसीलिए विचारजीवी व्यक्ति क्रिया की ओर से उदासीन होते हैं। इसीलिये वे साधारण कार्यों से भी अधिकतम सेवा और सुविधा की आशा करते हैं। इसीलिए विचारों के प्रतिपादन और उपदेश समाज में कार्यान्वित नहीं हो सके उपदेशक सुनाकर और स्रोता सुनकर सन्तुष्ट रहते हैं। ज्ञान वह अपने आप में मूल्यवान है। अतः वह अपने स्वरूप में ही सन्तुष्ट रहता है। वह श्रोताओं को ही नहीं ज्ञानी उपदेष्टाओं को मी बुद्धि द्वारा प्रकाशित आदर्शों को चरितार्थ करने की प्रेरणा बहुत कम देता है। इसका परिणाम यह होता है कि बुद्धि का आदर करते हुए भी मनुष्य दूसरों के व्यक्तित्व का बहुत कम आदर करता है। ज्ञानियों में ज्ञान का अहंकार और दूसरों के व्यक्तित्व का अनादर सबसे अधिक होता है। कारण यह है कि व्यक्तित्व के प्रति उदासीनता बुद्धि और विचार का लक्षण है। किन्तु दूसरी ओर अपने व्यक्तित्व का अहंकार और मोह मनुष्य का प्राकृतिक स्वभाव है। इस स्वभाव का आग्रह ज्ञानियों में भी रहता है। पश्चिमी संस्कृति में जहाँ एक ओर अत्यन्त गम्भीर और परिष्कृत विचार का विकास होता रहा है वहाँ दूसरी ओर जीवन में प्रकृति और प्रवृत्ति की प्रेरणा प्रमुखतः काम करती रही है। भारतीय संस्कृति के विधायकों ने मूल रूप में प्रकृति की स्वार्थमय भावना और ज्ञान की उदासीनता दोनों से भिन्न किन्तु दोनों से संगत एक अपूर्व भाव की जीवन में प्रतिष्ठा की थी। किन्तु बुद्धि में मनुष्य की अधिक रुचि होने क कारण उपनिषदों के बाद बौद्धिक दर्शनों का ही विस्तार अधिक हुआ है। वेदान्त का अध्ययन

और उपदेश करते हुए भी लोग प्रवृत्ति में अधिक लीन रहे। प्रकृति के आग्रह के कारण ही दर्शनों में परस्पर विरोध और संघर्ष रहा।

प्रकृति के व्यक्तिगत स्वार्थ तथा बुद्धि की उदासीनता का सामंजस्य उस भाव में होता है जो दूसरों के व्यक्तित्व के प्रति बुद्धि के समभाव से प्रेरित होकर आत्मीयता की सरसता से अनुप्राणित होता है। 'भाव' का अर्थ सत्ता भी है। क्योंकि भू धातु और उसके रूपों में उदासीन सत्ता के अतिरिक्त शक्ति और क्रिया का भी अन्तर्भाव है। 'भू' का भाव 'अस' के समान केवल उदासीन सत्ता का नहीं है। वह केवल अस्तित्व की ही नहीं वरन् अस्तित्व को आकार देने वाली शक्ति और क्रिया की भी सूचक है। क्रिया का संकेत तो धातु के रूपों में ही निहित है। 'भवति' का अर्थ केवल 'है' नहीं है वरन् भवति 'होता है' के क्रियात्मक अर्थ की वाचक है। इस होने की क्रिया के पीछे शक्ति भी अन्तर्निहित है। शक्ति के बिना क्रिया संभव नहीं है। अंतः 'अस' की उदासीन सत्ता के विपरीत भू का क्रिया के संकेत और शक्ति के अन्तर्भाव से सम्पन्न है। यही शक्ति शैव-तंत्रों की कला शक्ति है जिसके द्वारा विश्व रूपों की रचना होती है। भाव शक्ति का रचनात्मक रूप है। केवल उदासीन सत्ता भी शक्ति के बिना संभव नहीं हो सकती। शक्ति के द्वारा ही कोई अपनी सत्ता को स्थिर रख सकता है। इसी प्रकार चेतना के सम्बन्ध में 'भाव' का अर्थ उदासीन ज्ञान नहीं है। उदासीन ज्ञान केवल निर-पेक्ष दृष्टि है, वह सृष्टि नहीं है। दर्शन की शक्ति इसके भी मूल में रहती है। किन्तु भाव का अभिप्राय केवल दर्शन की शक्ति नहीं है जो न रचनात्मक है और न रागात्मक, ज्ञान वीतराग है। वह अपने आप में पवित्र और उज्ज्वल है। किन्तु राग की सरसता और सृजन की महिमा उसमें नहीं होती। बाहरी और भौतिक निर्माण में ही नहीं, आन्तरिक निर्माण में भी उदासीन ज्ञान प्रेरणा नहीं बन पाता। इसीलिए शास्त्रों की रचना और ज्ञानियों के उपदेश मनुष्य समाज को आदर्शों के अनुकूल बनाने में सफल नहीं हुए। उदासीन ज्ञान में क्रिया की शक्ति और आचार का प्रेरणा नहीं है। इसीलिए दार्शनिक सिद्धान्तों के द्वारा विश्व में कोई रचनात्मक क्रान्ति नहीं हुई। स्वतंत्रता मनुष्य का जन्म सिद्ध अधिकार है। इसे चाहे स्पष्ट शब्दों में लोकमान्य तिलक ने ही पहली बार कहा हो, किन्तु मनुष्य ही नहीं पशु भी सदा स्वतंत्र रहने का प्रयत्न करता है। बालक भी गोद से उतर कर स्वच्छन्द रूप से खेलने में प्रसन्न रहता है। सामाजिक और राजनीतिक स्वतंत्रता के आन्दोलन भी नेताओं के सक्रिय नेतृत्व और उनकी सजीव प्रेरणाओं से आरम्भ हुए। बुद्धि और ज्ञान

का प्रकाश मात्र उनके लिए पर्याप्त नहीं था। नेताओं की सजीव प्राण प्रेरणा ने ही जनता को जागरित और उत्साहित किया। पराधीनता जनता की प्राकृतिक सुविधाओं का हनन करती है। अतः स्वतंत्रता की आकांक्षा के पीछे प्रकृति की प्रेरणा भी रहती है। प्राकृतिक सुविधाओं की सहज प्रेरणा ही साम्यवादी क्रान्तियों की मूल शक्ति रही है। इसी शक्ति के आधार पर साम्यवाद फैलता जा रहा है। मजदूरी, रोटी और सुविधा के अधिकारों के लिए आन्दोलन करते हैं। वे साम्यवाद के सामाजिक, राजनीतिक और दार्शनिक सिद्धान्तों को नहीं समझते। प्रकृति की प्रेरणा का अवलंब लेकर ही धर्म और अध्यात्म की बाहरी व्यवस्थाएँ लोगों को आकर्षित करती है। किन्तु ये अवलंब ही धर्म और अध्यात्म को अपने लक्ष्य से भ्रष्ट करते हैं। ज्ञान के द्वारा प्रकाशित धर्म और अध्यात्म के तत्व अपने उदासीन स्वभाव के प्रभाव से जीवन की प्रेरणा नहीं बन पाते। भक्ति की भ्रान्ति, वेदान्त की असफलता और ईसाई धर्म की निष्फलता के ये ही कारण हैं। इस्लाम की जो कुछ भी सफलता हुई उसका मूल कारण उसके धार्मिक तत्व नहीं वरन् वे प्राकृतिक अवलम्ब हैं, जो इस्लाम के धार्मिक अभियानों की प्रेरणा बना। इस धार्मिक अभियानों में प्राप्त होने वाले धन, वैभव, यश, विलास आदि इस तथ्य के प्रमाण हैं।

अस्तु, तात्पर्य यह है कि क्रिया की प्रेरणा और शक्ति मूलतः प्राकृतिक प्रवृत्तियों में है। ये प्राकृतिक प्रवृत्तियाँ स्वार्थमयी हैं। इसीलिए बिना किसी उपदेश और शिक्षा के भी सदा से मनुष्य की प्रवृत्ति स्वार्थ साधन में रही है। धर्म और अध्यात्म के उपदेशों के अभीष्ट लक्ष्यों और आदर्शों की ओर मनुष्य की प्रवृत्ति बड़ी शिक्षा और प्रेरणा के बाद भी कठिनाई से होती है। इसका कारण यही है कि ज्ञान रूप से उदासीन होता है। उसमें प्रकाश होता है किन्तु प्रेरणा नहीं होती। प्रकृति में सहज प्रेरणा होती है। किन्तु उसकी प्रवृत्ति स्वार्थ में ही होती है प्रकृति से प्रेरित होकर मनुष्य जो कुछ करता है वह अपने सुख के लिए ही करता है। ज्ञान के उपदेश परार्थ और परमार्थ के उच्च लक्ष्यों को प्रकाशित करते हैं। किन्तु उदासीन ज्ञान में हमारे जीवन को इन लक्ष्यों की ओर प्रगतिशील बनाने की प्रेरणा और शक्ति नहीं होती। ज्ञान भी चेतना का भाव है क्योंकि चेतना अपनी प्रकाशमयी शक्ति से ज्ञान के रूपों में साकार होती है। किन्तु ज्ञान का उदासीन भाव उस सामंजस्य को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है जिसमें प्रकृति के व्यक्तिगत स्वार्थ के आधारों पर दूसरों के साथ आत्मीयता का सरस और समभाव प्रतिष्ठित होता है।

बुद्धि और ज्ञान की उदासीनता उनके निर्वैयक्तिक स्वरूप के कारण समभाव का सूत्र अवश्य है, किन्तु बुद्धि और ज्ञान इस समभाव को रस से अंचित नहीं कर सकते। रस राग का स्फोट है। प्राकृतिक, व्यक्तिगत और स्वार्थमय राग मोह कहलाता है। प्रकृति की प्रेरणाऐं इस मोह से ही मधुर बनती हैं। बुद्धि और ज्ञान वीतराग होते हैं। वे प्रकृति के राग से अतीत होते हैं। किन्तु उनमें राग का कोई अन्य उत्कृष्ट रूप भी नहीं होता। भाव की सरसता प्रकृति के मोह और ज्ञान की उदासीनता निर्वैयक्तिक है। अपने स्वरूप से वे अपने और दूसरों के व्यक्तित्व से समान रूप से निरपेक्ष हैं। वे व्यक्तित्व की धारणा से अतीत हैं। किन्तु भाव इन दोनों से विलक्षण है। वह न उस एकान्त संभव में है जिसमें प्रकृति कृतार्थ हो सकती है और न उस निर्वैयक्तिक उदासीनता में संभव है जिसके शून्य आकाश में ज्ञान का सूर्य प्रकाशित होता है। यह व्यक्तित्वों की उस अनेकता और पारस्परिकता में अनुष्ठित होता है। जिसमें प्रकृति का राग केवल स्वार्थ का मोह नहीं रहता, जिसमें प्रकृति के स्वार्थमय प्रवाह समता के संगम में मिलते हैं और जिसमें प्रकृति के राग स्वार्थ के आधारों में रहते हुए भी एक अपूर्व रस-सागर के अनन्त कलों पर उच्चतर श्रेय और सौन्दर्य के क्षितिजों का स्पर्श करते हैं। इस समभाव के रस और सौन्दर्य में प्रकृति के स्वार्थ और राग विलीन नहीं हो जाते। किन्तु स्वार्थ की सीमाऐं विरोध का कारण नहीं बनती। इन सीमाओं के विस्तार एक आन्तरिक आत्म-भाव दूसरे व्यक्तित्वों में होते हैं और प्राकृतिक धरातलों पर सांस्कृतिक सौन्दर्य के नव-नव पर्व रचते हैं।

रसमयी संस्कृति का यह भाव प्रकृति के समान स्वार्थ में सीमित नहीं होता, यद्यपि उसमें प्रकृति की सी ही प्रेरणा रहती है। दूसरी ओर वह बुद्धी और ज्ञान के समान व्यापक तथा उदार होता है किन्तु इसमें इनकी उदासीनता नहीं होती। प्रकृति की प्रेरणा और बुद्धि की उदारता का इस भाव में अपूर्व संगम है। किन्तु साथ ही वह प्रकृति की स्वार्थमयता और बुद्धि की उदासीनता दोनों से मुक्त है। आत्मा का भाव होने के कारण यह शरीर, मन, अहंकार, बुद्धि आदि सबकी भूमियों में व्याप्त रहता है। किन्तु यह किसी की सीमाओं में निबद्ध नहीं हैं। इसीलिए इसे आत्मा का भाव कहना अधिक उचित है। 'समात्मभाव' इसकी उपयुक्त संज्ञा है। समता इसका लक्षण है। समता के लक्षण से युक्त यह आत्मा का वह विलक्षण भाव है जो शरीर, मन, अहंकार और बुद्धि की भूमियों में व्याप्त होता है और साथ ही अपने विलक्षण स्वरूप में भी प्रतिष्ठित रहता है। इस भाव की स्वरूपगत स्वतंत्रता का प्रमाण

यह है कि जिन भूमियों में यह व्याप्त रहता है उनको अपने स्वरूप के संस्कार देकर उन्नत और परिष्कृत बनाता है। इसीलिए इसे संस्कृति का मूल भाव मानना उचित है। उदासीन सत्ता और उदासीन ज्ञान से भिन्न सक्रियता और सृजनात्मकता इस भाव के लक्षण हैं। समता के तान्त्रिक अर्थ में सक्रियता और सृजनात्मकता के भाव भी सभाविष्ठ हैं। शैव तंत्रों में 'सम' का अर्थ साम्य के भाव से है जो निश्चलता, अविक्रियता, सन्तुलन, सामंजस्य समानता आदि अनेक भावों का सूचक है। इनमें कई भावों के सूचक पद स्वयं 'सम' के उपसर्ग से युक्त हैं। अतः यह एक प्रकार की पुरुक्ति है। समानता अथवा बराबरी 'सम' का सबसे सरल और मुख्य भाव है। समानता को प्रायः बाहरी दृष्टि से देखते हैं क्योंकि बाहरी विषमता से अनेक अनर्थ उत्पन्न होते हैं। अनर्थों को जन्म देने वाली बाहरी विषमताएं भी मिटाने योग्य हैं। इन्हें मिटाने के लिए समाज के इतिहास में सदा क्रान्तियाँ होती रहीं। किन्तु इन अनर्थों के मिट जाने पर भी जगत और समाज में अनेक विषमतायें रहेंगी। ये विषमतायें अमंगलकारी नहीं हैं। इसके विपरीत समाज के मंगल और सौन्दर्य को बढ़ाने में इनका बहुत योग रहता है। मैदान से लेकर पर्वत शिखरों तक का उतार-चढ़ाव सौन्दर्य का ही नहीं, मंगल का भी कारण है। वर्षा के अतिरिक्त और भी अन्य कल्याणकारी व्यवस्थायें उस पर निर्भर हैं। वृक्षों और जीवों के शरीर-विन्यास में भी अंगों का उतार-चढ़ाव है। 'सम' होने पर देह का यह सौन्दर्य न होता। नारी के शरीर का सौन्दर्य तो प्रमुखतः अंगों की अतिशय विषमता पर ही अवलंबित है। कला और काव्य में इस विषमता के सौन्दर्य को बहुत गौरव मिला है। यह सत्य है कि बाहरी विषमता जगत की व्यवस्था और शरीर की रचना दोनों में ही सौन्दर्य और श्रेय का विधान करती हैं। किन्तु श्रेय और सौन्दर्य के विपरीत होने पर यह विषमता मिटाने योग्य है। साथ ही यह भी महत्वपूर्ण है कि समता की भूमि पर ही यह बाहरी विषमता मिटाने योग्य है। साथ ही यह भी महत्वपूर्ण है कि समता की भूमि पर ही यह बाहरी विषमता मंगल और सौन्दर्य का विधान कर सकती हैं। अतः बाहरी दृष्टि से भी समता की भूमि पर ही यह बाहरी विषमता मंगल और सौन्दर्य का विधान कर सकती हैं। अतः बाहरी दृष्टि से भी समता की भूमि का मौलिक महत्व है। इनके भी वे रूप स्पृहणीय हैं जो मंगल और सौन्दर्य के साधक हैं। इनके अमंगलकारी रूप व्यक्ति और समाज के रोग तथा विकारों के रूप में निकलते हैं।

किन्तु समता का वास्तविक स्वरूप आन्तरिक है। वह दो अथवा

अधिक सत्ताओं की बाहरी अथवा परिमेय तुल्यता न होकर एक आन्तरिक और अपूर्व भाव है। जहाँ बाहरी रूप की तुल्यता इसका मुख्य अंग नहीं है, वहाँ बाहरी रूपों की अमंगलकारी विषमता भी इसकी घातक है। इसीलिए भौतिक साधन, शरीर, सुख, मानसिक स्वतन्त्रता व्यक्तिगत अधिकार आदि की समानता प्राप्त करने के लिए समाज में क्रान्तियाँ होती हैं। किन्तु अमंगलकारी होने पर ही ये विषमतायें मिटाने योग्य है। अन्यथा इन विषमताओं में ही जीवन के मंगल के सूत्र और सौन्दर्य के स्रोत हैं। स्त्री और पुरुष, गुरु और शिष्य आदि की शारीरिक तथा मानसिक विषमतायें विषमता के उन रूपों के उदाहरण हैं जो समाज के श्रेय और सौन्दर्य के मौलिक आधार हैं। आन्तरिक और स्वरूपगत समता का इस विषमता से कोई विरोध नहीं है क्योंकि दोनों का लक्ष्य समान रूप से समाज का मंगल और सौन्दर्य है। समत्व का यह आन्तरिक भाव समता और विषमता के विविध बाह्य रूपों में सम्पन्न होता है। साथ ही वह अपने स्वतन्त्र स्वरूप में भी प्रकाशित होता है। माता-पुत्र, पिता-पुत्र, पति-पत्नी, गुरु-शिष्य आदि अनेक सम्बन्धों में की विषमता में समत्व का भाव अत्यन्त सुन्दर और मंगलमय रूप में स्फुटित होता है। सत्ता की इकाई अथवा समानता इस ममत्व के भाव का आवश्यक अंग नहीं है। कदाचित यह उस भाव की बाधक हो। इकाई की एकता में तो समता और विषमता का प्रश्न ही उठना कठिन है। इसीलिए ब्रह्मवादी दर्शनों में सृष्टि के प्रपंच और समाज के अनर्थों की व्याख्या करना कठिन हो जाता है। अतः इकाई की समता का प्रश्न इकाइयों की अनेकता में ही उठता है। उदासीन सत्ता की स्थिति में अनेक इकाइयों की विषमता होते हुए भी कोई महत्व नहीं रखती। ज्ञान भी उदासीन है। वह भी सत्ता के अथवा अपने रूपों की विषमता का विवेक करके ही कृतार्थ हो जाता है। अतः समता केवल अस्तित्व अथवा ज्ञान का भाव नहीं है वरन् वह एक सक्रिय सृजनात्मक आन्तरिक स्वरूपगत और स्वतन्त्र भाव है, जो मंगल और सौन्दर्य के लिए समता की भूमि पर विषमता की रचना करता है और विषमताओं के बीच समता का अनुसन्धान करता है। तत्व शास्त्र की दृष्टि से मूल तत्व का समभाव अपने स्वरूप के लाभ और उसकी समृद्धि के लिए ही सृष्टि में निरन्तर साकार होता है। अध्यात्म साधना की दृष्टि से मनुष्य विषमताओं के बीच इसी समता का अनुसन्धान करके कृतार्थ होता है। तत्व, शास्त्र और अध्यात्म दोनों में आवश्यक और उचित हुए भी इकाई का आधार रहता है। तत्व शास्त्र एक ही तत्व से सृष्टि का विस्तार मानता है। उस तत्व की समता के आधार में विषमता का स्फोट होता है। अनेक दर्शन इस स्फोट के पीछे

एक अन्तर्निहित शक्ति की प्रेरणा मानते हैं। शैव और शक्ति दर्शनों में यह सिद्धान्त अधिक स्पष्ट है। किन्तु ऐसा मानने पर एक इकाई की कठोर कल्पना खण्डित हो जाती है। शिव (तत्व) और शिव को अभिन्न तथा उनके भाव को अद्वैत मानते हुए भी इकाई की धारणा उनमें लागू नहीं होती। इकाइयाँ एक दूसरे से भिन्न होती हैं। शिव और शक्ति अभिन्न है। वे दोनों मिलकर भी इकाई का निर्माण नहीं करते। समत्व भिन्न इकाइयों का सम्बन्ध नहीं है। उसे अभिन्नों का आन्तरिक भाव कह सकते हैं। 'शिव' शक्ति का अन्तर्मुख भाव है। 'शक्ति' शिव की बहिर्मुखी स्फूर्ति है। तंत्रों में इसी शक्ति को कला, सुन्दरी आदि नामों से पुकारते हैं। यह अनेक रूप विश्व के सौन्दर्य का विधान करती है। किन्तु इस विषमता में शिव और शक्ति का सामरस अखंडित रहता है। यह अविक्रियता, अविचलता, अविरोध आदि के अर्थ में साम्य की अवस्था है। इन इकाइयों की बाहरी अथवा आन्तरिक समता नहीं कह सकते। दूसरी ओर अध्यात्म की साधना भी साधक की इकाई को मानकर चलती है। इकाई वस्तुतः सत्ता का भाव है। उसमें सृजन और क्रिया का भाव नहीं होता। इसीलिए साधना के मार्ग में बहुत मन्द प्रेरणा रहती है। अध्यात्म के वास्तविक मार्ग में साधकों की वास्तविक प्रगति बहुत कम होती है। इनमें अधिकांश प्रकृति की प्रवृत्तियों और भ्रान्तियों में ही उलझे रहते हैं। साधक की इकाई और साधना के एकान्त को मानकर ही अध्यात्म असफल हुआ। इसी प्रकार ब्रह्म अथवा ईश्वर की इकाई मानकर तर्क-शास्त्र और धर्म-शास्त्र कठिनाइयों से आपन्न हुए। इकाइयों की तुल्यता केवल गणित और विज्ञान का सिद्धान्त है। इकाइयों के स्वागत रूप और परिमाण में प्रकृति साकार होती है। किन्तु तुल्य परिमाणों में प्रकृति का जड़ रूप ही अधिक मिलता है। जीवित रूप में प्रकृति इकाइयों की विषमता में ही अपने सौन्दर्य को रूप देती है। प्रत्येक जीव की आकृति दूसरे से भिन्न है। प्रकृति के जड़ रूपों में भी विषमता ही अधिक मिलती है। जड़ रूपों में भी इकाइयों की बाह्य तुल्यता मनुष्य उत्पन्न करता है। जीव में मनुष्य का इतना अधिकार नहीं है। अनधिकार चेष्टा से मनुष्य जीवों की हत्या कर सकता है। किन्तु वह उन्हें तुल्य इकाइयों का रूप नहीं दे सकता। आन्तरिक दृष्टि से अध्यात्म ने साधकों की इकाइयों की तुल्यता स्वीकार की है। यह अध्यात्म और संस्कृति का बहुत सही सिद्धान्त है। साम्यवाद और जनतंत्र दोनों इसी पर आधारित हैं। किन्तु राजनीति के उदासीन सिद्धान्त के रूप में इसे मानना व्यक्तित्व की इकाई को केवल सत्ता के उदासीन आधार पर ही छोड़ देना है।

समता के स्वरूपगत और आन्तरिक भाव का आरम्भ इकाई की सीमा और परिधि में नहीं होता। एक इकाई का आन्तरिक साम्य निष्क्रिय और निष्फल है। अध्यात्म की निष्फलता इसका प्रमाण है। अनेक इकाइयों को पृथक मानकर उनकी बाह्य अथवा आन्तरिक तुल्यता में भी समता का भाव सम्पन्न नहीं होता। किसी सीमा तक सजीव और सचेतन इकाइयों को मानकर विषमता के कारणों का निर्धारण और निवारण किया जा सकता है। इस निवारण से सचेतन इकाइयों का आन्तरिक साम्य बढ़ेगा, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु इकाई की सीमा में रहकर ही चेतना कृतार्थ नहीं हो सकती। अध्यात्मवाद के तर्क समस्त परिमेय इकाइयों की चेतना का विषय मानकर चेतना को उससे अतीत मानने हैं। समस्त परिच्छेदों से अतीत होने के कारण आत्मा अनन्त है। किन्तु इस अनन्त की भी कल्पना इकाई के रूप में करने पर समता का अर्थ केवल आन्तरिक साम्य रह जाता है। तत्व शास्त्र के मूल सिद्धान्त की दृष्टि से इसमें जो कठि-नाइयाँ हैं वे सृष्टिवादों में प्रकट होती है। अध्यात्म के आरोह क्रम की मन्दगति और ऐतिहासिक निष्फलता इकाई के आन्तरिक साम्य की दूसरी विडम्बना है। अस्तु समत्व का वास्तविक रूप इकाई और एकान्त के आग्रह को छोड़कर तथा उनसे उत्पन्न उदासीनता से मुक्त होकर अनेकत्व के सक्रिय और सृजनात्मक समभाव में ही मिल सकता है। इन अनेकों में बाह्य और आन्तरिक विषमता होते हुए भी अतुल्यता नहीं है। इकाइयों के परिमाण की दृष्टि से अतुल्यता, आकार और परिमाण का अन्तर है। किन्तु जीवन की दृष्टि से वह अनादर और गौरव का भाव है। अतः समत्व के भाव की पहली कसौटी यह है कि व्यक्तियों के परस्पर संबंध में कहीं भी अनादर और अगौरव का लेश न हो। परस्पर आदर और गौरव में ही समत्व का भाव सम्पन्न होता है। शिव-शक्ति की कला को मस्तक पर धारण करते हैं। पार्वती उनकी सेवा करती है। एक ओर लक्ष्मी का आसन विष्णु के वक्ष पर है तो दूसरी ओर वे उनके चरण झंसती है। आत्मीयता के कारण समत्व में अनादर के लिए स्थान नहीं है। उसमें गौरव और आदर का असीम उत्साह है। इसी गौरव में अनेक विषमताओं में समता का आत्मीय और आन्तरिक भाव सम्पन्न होता है। इस समता के भाव के लिए अनेकता आवश्यक है। किन्तु यह अनेकता कठोर इकाइयों की अनेकता नहीं है। कठोर इकाइयों की एकता में आन्त-रिक और आत्मीय भाव की समता नहीं हो सकती। उनमें बाहरी तुल्यता की समता ही सम्भव है। इकाई का आग्रह समभाव की सम्भावना का

घातक है। इकाई की कठोरता जीव-जगत में स्वार्थ को कठोर बनाती है। स्वार्थ का अर्थ 'स्व' की धारणा पर निर्भर है। अतः वह व्यापक भी हो सकता है। किन्तु साधारण अर्थ में उसकी धारणा और गति अपनी ओर ही होती है। यह संकोच की गति है, विस्तार की गति नहीं।

मनुष्य का सचेतन व्यक्तित्व पूर्णतः कठोर और ऐसी संकोचशील इकाई नहीं है। उसके शरीर की अचेतन क्रियाएं तो पूर्णतः स्वार्थमय हैं। इस स्वार्थमय गति से ही शरीर का विकास होता है। अतः यह स्वार्थ भी सृष्टि के मंगल का मार्ग है। शरीर के विकास और पोषण पर ही विश्व के समस्त उच्च आदर्श और सांस्कृतिक मूल्य अवलंबित हैं। 'कुमार सम्भव' में शिव ने सत्य ही कहा है कि शरीर ही धर्म का खाद्य साधन है। किन्तु शरीर की गति भी पूर्णतः स्वार्थमय नहीं हैं। उसकी सम्वेदनायें दूसरी इकाइयों की ओर अभिमुख होती हैं और उनके साथ सामंजस्य में सुख प्राप्त करती हैं। चेतना के गंभीर रूपों में दूसरों के साथ सम्पर्क और सामंजस्य की आकांक्षा और भी अधिक तीव्र होती है। यह सामंजस्य स्थूल और बाहरी इकाइयों के सम्पर्क के समान केवल संयोग नहीं है। संयोग में जो इकाइयाँ मिलती हैं, प्रायः उनका अपना रूप अलग ही बना रहता है। यह संयोग एक सन्निधि मात्र है। किंतु चेतना कोई भौतिक और स्थूल पदार्थ नहीं है। उसका कोई कठोर इकाई रूप नहीं होता। व्यक्तित्व के अहंबोध में एक अनिश्चित केन्द्रीयता अवश्य होती है। किन्तु अहंबोध का यह केन्द्र सूर्य के मडल की भाँति सदा अपने तेज का विस्तार और विकीरण करता रहता है। चेतना के इस अनिश्चित बिन्दु का विलय होना चेतनाओं के सम्मिलन के लिए आवश्यक नहीं है। इस बिन्दु के रहते हुए भी (वरन् यह कह सकते हैं कि रहते हुए ही) चेतनाओं के सम्मिलन में भाव की समृद्धि और स्फूर्ति का आनन्द उदित होता है। केवल व्यक्तित्व की इकाई का स्वार्थमय और संकोचशील आग्रह इस सम्मिलन के आनन्द का बाधक है।

अस्तु, चेतना के भाव क्षेत्र में इकाइयों के आग्रह और विलय दोनों से विलक्षण रूप में चेतनाओं का सम्मिलन होता है। सत्ता की इकाई और ज्ञान की निर्वैयक्तिकता दोनों से भिन्न होने के कारण इसे आत्मा का भाव कहना ही उचित है। आत्मा न इकाई में रूढ़ है और न इकाइयों की आग्रहविहीन केन्द्रीयता उसके विस्तार में बाधक है। इस विलक्षण स्वभाव के कारण ही आत्मा रस स्वरूप है। 'रस' का अर्थ आनन्द है। किन्तु भौतिक

जगत में 'रस' का अर्थ द्रव है। 'जल' को रस कहते हैं। फलों और वनस्पतियों का द्रव तत्व 'रस' कहलाता है। इस रस का लक्षण यह है कि इसके विस्तार में अनेक इकाइयों का अपना रूप विलीन हो जाता है, जैसे बिन्दु, सागर में विलीन हो जाते हैं। किन्तु इस विलय में इकाइयों की कठोर सीमाऐं ही खण्डित होती हैं। उनके तत्व नष्ट नहीं होते। वस्तुतः हम जिस द्रव की इकाई मानते हैं वह इकाई नहीं है वरन् अनेक इकाइयों का समुदाय है। इस समुदाय में मूल इकाइयों का रूप भी सुरक्षित रहता है और वे समुदायों को भी जन्म देती हैं। इकाइयों के रूप अलक्ष्य रहते हैं और समुदाय ही प्रकट होते हैं। बिन्दु, सरोवर और नदी के विलय में केवल छोटे समुदाय विलय होकर बड़े समुदायों को जन्म देते हैं। रस के इन छोटे बड़े समुदायों में इकाइयाँ अलक्ष्य और समुदाय ही प्रकट रहते हैं। इसका संकेत यही है कि इकाइयों का आग्रह रस के स्वरूप अनुकूल नहीं है। फलों के रस में और भी अनेक इकाइयों के तत्व अलक्षित रूप से मिलकर उसे अधिक सुन्दर, अधिक स्वादु और अधिक हितकर बनाते हैं। इसी प्रकार मनुष्य जीवन में भी अलक्ष्य रूप से इकाइयों के रूप रहते हुए सम्मिलित रूप में अभिन्न हो जाते हैं। इकाइयों के नष्ट होने के कारण इन समुदायों को भी कठोर अर्थ में इकाई नहीं कहा जा सकता। फिर भी सम्मिलित रूप की व्यापकता में ही ये इकाइयाँ गौरव पाती हैं। इस गौरव में ही इनकी लघुता महानता के क्षितिजों की ओर बढ़ती है। इस सम्मिलन और विस्तार में ही जीवन का आनन्द है। चेतनाओं का यह विलक्षण संगम ही समात्मभाव का वास्तविक रूप है।

समात्मभाव आत्मा का समभाव है। अध्यात्मवादी दर्शन प्रायः आत्मा को क्रिया से अतीत और अविकारी मानते हैं। उनकी दृष्टि से समत्व का अर्थ निष्क्रयता और अविकारिता ही है। तत्व दृष्टि से यह सत्य भी हो किन्तु यदि इसी आत्मा से सृष्टि हुई है तो उसे ऐसा मानना भी पूर्णतः सत्य नहीं है। इसीलिए शैव-दर्शनों में परसतत्व को शक्ति अथवा स्पन्द से अभिन्न मानते हैं। सृष्टि इस शक्ति अथवा स्पन्द की स्फूर्ति है। इसी को 'कला' कहते हैं। विश्व शिव की कला का विलास है। यह अध्यात्म के अवरोह क्रम की बात है, जिसमें हमारा अधिक अधिकार नहीं है और हमारे ज्ञान की गति भी सीमित है। मनुष्य जीवन की स्थिति में साधना के आरोह क्रम को ध्यान देना ही अधिक उचित है। आत्मबोध को साधना का लक्ष्य मानते हैं। अधिकांश अध्यात्म दर्शन व्यक्तिगत और एकान्त साधना में तुरीय और निर्विकल्प आत्मा के साक्षात्कार को ही साधना की कृतार्थता ही मानते रहे

हैं। इसे वे आनन्दमय भी मानते हैं। यह एकान्त और निरपेक्ष आनन्द है। साधना के इस एकान्त और निरपेक्ष मार्ग में कितनों की गति हो सकी है और कितने उसमें कृतार्थ हुए हैं, यह कोई भी अपनी ओर देखकर जान सकता है। वेदान्ती महात्माओं में भी कोई विरले ही मुक्ते प्राप्त कर सके होंगे। दर्शन बनकर वेदान्त में साधना की अपेक्षा मीमांसा का महत्व अधिक बढ़ गया। इसका कारण केवल यह है कि आत्मा की एकान्त और निष्क्रय साधना कठिन ही नहीं वरन् एक आत्म विरोधी बात है। स्वयं प्रजापति को भी अकेले में आनन्द नहीं आया है। मनुष्य उन प्रजापति की ही प्रजा है। उन्हें भी एकान्त में आनन्द नहीं आता। एकान्त व्यक्तित्व की इकाई का परिच्छेद है जिसकी सीमा में सुख नहीं है। आनन्द का उदय इकाई की सीमा के आग्रह को छोड़ कर दूसरी इकाइयों के साथ सक्रिय और सृजनात्मक समात्मभाव में होता है। यह ध्यान रखना चाहिये कि इस आग्रह को छोड़कर इकाइयाँ भौतिक इकाइयों की भाँति कठोर नहीं रह जाती। अतः इसे इकाइयों का समात्मभाव कहना एक उपचार मात्र है। यह आत्मा का समभाव है जिसे इकाई की कठोर सीमा में बांधा नहीं जा सकता। मनुष्य-जीवन में सचेतन व्यक्तियों के इस समात्मभाव में ही आनन्द है। आत्मा क्रिया और विकार से अतीत है। इस दृष्टि से यह समात्मभाव एक अनन्त भाव है। उपनिषदों की 'भूभा' के आनन्द का यही रहस्य है। किन्तु इस अनन्त रूप की कल्पना जीवन में कठिन है। यदि संभव भी हो तो भी यह साधना के अन्त में ही हो सकती है। इसके पूर्व मानव जीवन में इसे इन रूपों में ही ग्रहण करना उचित है। जिन रूपों में ये सामान्यतः प्राप्त और संभव होते हैं। इन रूपों का आकार अनन्त नहीं है क्योंकि साधारण जीवन में अनन्त की धारणा कठिन है। किन्तु ये रूप इकाइयों के कठोर परिच्छेदों में सम्पन्न नहीं होते। उपनिषद के अनुसार 'अल्प में आनन्द नहीं हैं। इकसा अर्थ यही है कि इकाइयों के कठोर परिच्छेदों की सीमित और संकोचशील वृत्ति में आनन्द सम्पन्न नहीं होता। प्रजापति के समान एकान्त की स्थिति में प्रत्येक मनुष्य को अकेलेपन की शून्यता और आनन्दहीनता का अनुभव होता है। इसीलिए स्वतंत्र इच्छा से उसे कोई स्वीकार नहीं करता। विवश होने पर भी यथा सम्भव एकान्त को दूर करने का यत्न करता है। यह सम्भव न होने पर कल्पना के द्वारा ही दूसरों का संग प्राप्त करता है। मन से मनुष्य कभी अकेला नहीं रहता। जब मन में अकेलेपन का कुछ अनुभव होता है तो वह इससे विचलित और खिन्न रहता है। उसकी अन्तर्तम आकांक्षा सदा समात्मभाव प्राप्त करने के लिए सचेष्ट रहती है। माता के साथ इसी समात्मभाव में मनुष्य का जन्म होता है।

वय के विकास के साथ वह अपने माता-पिता, भाई-बहिन, बन्धुओं, मित्रों, कुटुम्बियों, परिचितों, आदि के साथ समात्मभाव में आत्मा की समृद्धि 'विभूति' को प्राप्त करना चाहता है। चाहे अनन्त की धारणा जीवन में कठिन हो, किन्तु आत्मा का भाव सदा विस्तार की ओर अभिमुख रहता है इस विस्तार में अपने अस्तित्व और बोध की कठोर इकाई के आग्रह को छोड़कर दूसरों के भाव के साथ समभाव प्राप्त करना चाहता है इस समभाव में ही आनन्द की स्फूर्ति होती है। चाहे प्रकृति के स्वार्थ का आग्रह इस समभाव के आनन्द को खंडित करता रहे, फिर भी अपनी चेतना के गहनतम तल में मनुष्य सर्वदा इस बात का अनुभव करता है कि इस समभाव में ही जीवन का सत्य और सार निहित है।

विषय और क्रिया से अतीत होने के कारण चाहे आत्मा का तात्विक रूप अनन्त और अचल हो, किन्तु मनुष्य जीवन के व्यवहार में भौतिक उपकरणों के निमित्त और क्रियाओं के प्रसंग में यह समभाव अधिक सरल और साधारण रूप में स्फुट होता है। आत्मा का निरपेक्ष समभाव जीवन में अचेतन रूप में उसी प्रकार व्याप्त रहता है। जिस प्रकार विश्व में आकाश व्याप्त है। किन्तु इस समभाव और उसके आनन्द के स्फुट रूप सक्रिय और सृजनात्मक सम्बन्धों में भौतिक उपकरणों के अवलंब से ही साकार होते हैं। अध्यात्म को शुद्ध रूप का आग्रह जीवन से असंगत होने के साथ-साथ अव्यवहार्य और निष्फल भी है। जीवन के उपादानों में अध्यात्म का रूप साकार और सफल होता है। जीवन सक्रिय है। क्रिया ही जीवन का गति और प्राण है। भौतिक उपकरण जीवन के आवश्यक अवलंब हैं। सन्त और योगी भी उनका परित्याग नहीं कर पाते। जीवन के भौतिक उपकरण प्राकृतिक प्रवृत्तियों से निर्मित हैं। प्रवृत्तियाँ स्वार्थमय हैं। किन्तु ये प्राकृतिक उपकरण और क्रियायें जीवन के श्रेष्ठ और सांस्कृतिक भावनाओं के निमित्त भी बन सकते हैं। स्वार्थ का जीवन में अपना हितकर रूप है। किन्तु निमित्तों के इन रूपों में उस स्वार्थ का विस्तार प्रवृत्तियों के पीठ पर संस्कृति की प्रेरणा प्राप्त करता है। जीवन के सजीव रूप में इन निमित्तों के सरोवर में ही संस्कृति का कमल खिलता है। इन भौतिक निमित्तों और प्राकृतिक क्रियाओं की भर्त्सना करके अध्यात्मवादी दर्शनों में अध्यात्म और मानव संस्कृति दोनों को ही निष्फलता का मार्ग दिखाया। अध्यात्म की निष्फलता सर्वविदित है, यद्यपि अध्यात्म के प्रतिपादन, प्रचार को ही अध्यात्म समझने के कारण हम इन निष्फलता को स्वीकार नहीं करते। अध्यात्म की चर्चा ही अध्यात्म नहीं

है। अध्यात्म का वास्तविक स्वरूप साधना है जिसके सम्बन्ध में प्रायः हमें भ्रम रहता है। भौतिक रूपों में उलझे रहने के कारण हम वस्तुतः अध्यात्म के मार्ग में अधिक नहीं बढ़ पाते। अध्यात्म दर्शनों के अनुसार जो तत्व साक्षात्कार अध्यात्म साधना का फल है। वह कितने साधनों को कितनी मात्रा में प्राप्त होता है। आपको ऐसे सन्त और साधक कितने मिले हैं जिनका लौकिक और स्वार्थमय दृष्टिकोण अध्यात्म की मान्यताओं का खण्डन नहीं करता। सत्य यह है कि अध्यात्म का लोकातीत रूप चाहे तत्व दृष्टि से सही हो किन्तु जीवन की दृष्टि से व्यवहार्य नहीं है। लौकिक जीवन के भौतिक उपकरणों और प्राकृतिक प्रवृत्तियों के संगम में ही अध्यात्म सफल हो सकता है। ये जीवन के आवश्यक उपकरण हैं। इनकी अनिवार्यता के कारण अध्यात्म के अपार उपदेश भी लोक जीवन को इनसे विरत नहीं बना सके। अध्यात्म की भर्त्सनाओं का इतना फल अवश्य हुआ कि लौकिक जीवन की प्राकृतिक सरसता भी भंग हो गई और उसमें सांस्कृतिक संभावनाओं का समुचित विकास न हो सका। अध्यात्म की भर्त्सनाओं के निरन्तर घोष सुनते रहने के कारण जीवन और संस्कृति के प्रति लोक का उत्साह मन्द हो गया। उत्साह के बिना न प्राकृतिक जीवन में उल्लास रहता है और न संस्कृति की साधना के लिए प्रेरणा मिलती है। लोकातीत अध्यात्म के उपदेशों ने लौकिक जीवन के मूल्य, माधुर्य और सौन्दर्य को बहुत मन्द बना दिया है। यही निरुत्साह और मन्दता भारतवर्ष की ऐतिहासिक पराजय का मूल कारण है। इन्हीं के कारण आत्म रक्षा के लिये अपेक्षित एकता और संगठन भी संभव न हो सके। उत्साह के द्वारा ही प्रकृति के आधार पर सामाजिक संगठन और सांस्कृतिक एकता' का विधान हो सकता है। लौकिक जीवन और प्रकृति की निन्दा करके अध्यात्म ने संस्कृति के इस विजयशील विकास का आधार उच्छिन्न किया। प्रकृति से विवश किन्तु ज्ञानियों से निन्दित लोक-जीवन आदर्शों की विडम्बना करता हुआ स्वार्थ में संकुचित रहता है। इस स्वार्थ और संकोच के कारण ही भारतवर्ष का सामाजिक जीवन विशृङ्खल रहा और विशृङ्खल रहने के कारण संगठित न रह सका। असम्भव आदर्शों की छलपूर्ण विडम्बना ने अध्यात्म को भी असफल बनाया। लोकातीत अध्यात्म में कोई स्वरूपगत प्रेरणा नहीं है। आत्मा का प्रकाश रूप मान्य है और यह सत्य है कि इस प्रकाश की प्रभा मन्दतम मनुष्य के अन्तस में पूर्णतः तिरोहित नहीं होती। किन्तु आत्मा के इस अनुच्छेद्य प्रकाश में कोई प्रेरणा नहीं है। इसीलिये अध्यात्म के मार्ग में गति कठिन होती है। निष्ठावान साधक भी प्रकृति के मोह से छुटकारा नहीं पाते। अतः अपने लोकातीत स्वरूप का

आग्रह करने वाला अध्यात्म अपने को असफल बनाता है। साथ ही लौकिक मूल्यों की निन्दा करके वह लौकिक कल्याण के भी संकट में डालता है। इस अलौकिक अध्यात्म के प्रभाव से ही भारतीय जीवन लोक और अध्यात्म दोनों ही दिशाओं में असफल रहा। इसी असफलता की स्थिति में द्विवधा में दोनों गये, 'माया मिली न राम' की कहावत चरितार्थ हुई।

अस्तु, लौकिक उपकरणों और प्रवृत्तियों के आधारों में ही अध्यात्म की साधना संभव और संस्कृति के अध्यवसाय सफल होते हैं। जो समात्म-भाव अध्यात्म और संस्कृति का सार है वह भी लौकिक उपकरणों और क्रियाओं के निमित्त में ही कृतार्थ होता है। जीवन में इसके अनुभव और उदाहरण असंख्य और सरलता से मिल सकते हैं।

अध्याय २

कविता की भागीरथी

कविता की कोई सर्वमान्य परिभाषा कठिन है। सामान्यतः सभी लोग कविता के रूप को पहचानते और किसी न किसी अंश में उसका आनन्द लेते हैं। किन्तु कविता के स्वरूप के निरूपण का प्रयत्न करते हुए इस सम्बन्ध में अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं। इसका कारण यह है कि कविता मानवीय कृतित्व की एक व्यापक व्यंजना है। उसकी व्यापक परिधि में जीवन और कला की अनेक प्रेरणाओं और विधियों का समाहार है। मानवीय चेतना के अनेक रूप, पक्ष और धरातल हैं। संभव है भागीरथी के स्रोत की भाँति विश्व मानस के अन्तर से उदित होने वाली कोई एक मूल प्रेरणा ऐसी हो जिसे हम कविता का उद्गम कह सकें। भागीरथी के उद्गम की भाँति ही कविता की इस मूल प्रेरणा को खोजना कठिन है। चेतना के उस ऊर्ध्व और दुर्गम देश में मन की गति कठिन है। आदि-कवि की विगलित करुणा के गोमुख से कविता की भागीरथी के उदात्त और उज्ज्वल समारंभ के पीछे मानवीय चेतना की कितनी दुर्लक्ष्य सरणियों का सहयोग है, यह अन्वेषण सहज नहीं है। सामान्य जीवन के समतल पर कविता की भागीरथी के जिस प्रौढ़ प्रवाह से हम सामान्यतः परिचित हैं तथा जिसके पुण्य तटों पर हम प्रायः अवगाहन करते हैं, उसके निर्माण में भी उद्गम के दुर्गम देश की न जाने कितनी सहस्र धाराओं का सहयोग है।

कविता के लिए भागीरथी की यह उपमा सुन्दर ही नहीं उपयुक्त भी है। वस्तुतः यह कविता की भाषा में ही कविता के स्वरूप की परिभाषा है। कविता जीवन की भागीरथी है। तर्क की दृष्टि से इस परिभाषा में आलंकारिता का दोष भले ही हो किन्तु कविता की दृष्टि से यह परिभाषा अत्यन्त उपयुक्त और अर्थपूर्ण है। इस परिभाषा में हमें कविता के स्वरूप का उसी प्रकार साक्षात्कार होता है जिस प्रकार स्वयं कविता के रूपों में मानवीयजीवन और आत्मा के स्वरूप का साक्षात्कार होता है। जिस प्रकार जगत के ऊर्ध्व लोकों से भागीरथी गंगा का उद्गम होता है उसी प्रकार मानवीय चेतना

के ऊर्ध्व लोकों में कविता का मूल स्रोत है। हिमालय के उज्ज्वल शिखरों पर सूर्य के सप्तरंग आतप के पड़ने से आरम्भ होने वाला हिम का विगलन ही भागीरथी के प्रवाह का आदिसूत्र है। उसी प्रकार मानवीय चेतना में सत्व के उत्कर्ष जीवन की रश्मियों से रंजित और विगलित होकर कविता के प्रवाह का आरम्भ करते हैं। सूर्य विश्व की जीवन-शक्ति है; वही हिम के विगलन का प्रेरक है। हिम के साथ सूर्य के सम्पर्क में आलोक की वर्णविभूति भी विच्छुरति होती है। प्रवाह की तरंगों पर यह वर्ण-विभूति इन्द्रधनुषी स्वप्नों का अनन्त विधान करती है। हिम के उज्ज्वल सत्य में स्रवण के शिवम् के साथ अभिव्यक्ति के सुन्दरम् का उदय होता है। उसी प्रकार सत्व के उत्कर्ष में जीवन की ऊष्मा के सम्पर्क से जिस व्यापक करुणा में चेतना का द्रवण होता है, वही कविता का प्रथम दर्शन है। जीवन की ध्वनि पर तरंगित चेतना के इस प्रवाह में सांस्कृतिक विधानों के अनन्त इन्द्रधनुष कल्पना की तूलिका से अंकित होते हैं। सत्व के मंगलमय स्रवण की करुणा में कल्पना के ये चित्र-विधान ही सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं।

सत्य की भूमि पर मंगल की गति में सौन्दर्य की सृष्टि ही कविता का पूर्ण रूप है। सत्य जीवन की स्थिति है। उसमें उज्ज्वल आलोक की समष्टि है, किन्तु गति नहीं है। सत्व का उत्कर्ष होने के कारण ही अध्यात्मवादी दर्शन परम सत्य को अचल और अविकारी मानते रहे हैं। हिमाचल इसी सत्य के उत्कर्ष का प्रतीक है। जीवन की ऊष्मा के सम्पर्क से सत्व का हिमाचल विगलित होता है। करुणा का यही स्राव कविता का आदि स्रोत है। आदि कवि का प्रथम उच्छ्वास इसी कविता के प्रवाह का प्रथम बिन्दु है। यह स्रवण ही शिवम् है। आत्मदान इसका स्वरूप है। अभिव्यक्ति की प्रेरणा बनकर यही आत्मदान सुन्दरम् की सृष्टि करता है। जीवन की ऊष्मा से विगलित होकर हिम का तीव्र प्रवाह पृथ्वी के प्रदेशों को अपना जीवन समर्पण करता है। उसका यही आत्मदान प्रकृति के वृक्ष, वीरुध, लता, गुल्म, पादप तृणादि में के रूपों में पल्लवित, पुष्पित और फलित होता है। अभिव्यक्ति का सौन्दर्य बनकर यही आत्मदान खेत, शाद्वल, उपवन, वन आदि की सृष्टि करता है। इसी प्रकार सत्व की करुणा रसमय आत्मदान के द्वारा मंगलमयी गति से जीवन के सौन्दर्य-लोकों की रचना करती है।

जिन सूक्ष्म और दुर्लक्ष्य धाराओं के रूप में सत्व के इस विगलित

प्रवाह का आरम्भ होता है, उनका अनुसन्धान इन ऊर्ध्वलोकों के श्रद्धालु और साहसपूर्ण यात्री कर सकते हैं। सत्व के उत्कर्ष के उत्तुंग कैलाश और उसके अंचल में लहराते करुणा के निर्मल मानसरोवर के दर्शन विरले ही पुण्यशाली कर पाते हैं। उपत्यकाओं और तराइयों के वासियों को उन सहस्रधाराओं के कौमार्य में कविता की भागीरथी की विकसित लीलाओं का दर्शन अवश्य होता है। उन्हें इन सहस्रधाराओं के शत-शत संगमों पर निर्मित होने वाले शतशः प्रयागों के पुण्य का भी लाभ होता है। लोक-जीवन की साधारण समतल भूमि के निवासियों को तो एक मन्थर और समवेत प्रवाह के रूप में ही इस कविता की भागीरथी के दर्शन होते हैं। इसी के तट पर उनके अनेक सांस्कृतिक तीर्थ निर्मित हैं। इस रस की भागीरथी में अनुराग की यमुना के संगम से निर्मित एक प्रयाग ही उनका तीर्थराज है। इस कविता भागीरथी का मधुर-मधुर कल-कल ही उनकी दिव्य श्रुति है। उसका विशाल अंचल ही उनके जीवन का करुणामय आश्रय है। उद्गम के ऊर्ध्व लोकों की रसकुमारियों की क्षिप्र गति, चंचल लीला, बंकिम विलास, उज्ज्वल कांति और भन्द्र संगीत के वास्तविक रूप की कल्पना भी उनके लिए कठिन है। खेतों, शाद्वलों, उपवनों और वनों की विभूति को ही बहुत मानने वाले समतल-वासियों को इन ऊर्ध्व लोकों के देवदारु-वनों, गन्ध-मादनों, औषधि-प्रस्थों आदि के सौरभ और सौन्दर्य की कल्पना भी संभव नहीं है।

कविता की भागीरथी के उद्गम की सुषमा और विभूतियों का अनुसन्धान जितना दुष्कर है, उसके कौमार्य की सहस्रधाराओं के समवाय से निर्मित समतल की उदारधारा के दर्शन और अवगाहन का पुण्य उतना ही सुलभ है। उद्गम के रहस्य और चमत्कारों की प्रतिभा का दर्शन चाहे इसमें दुर्लभ हो किन्तु उसके रस का प्रसाद इसमें भी समान रूप से प्राप्य है। यह रस ही कविता की भागीरथी का स्वरूप और सार है। मूलतः कविता की भागीरथी का रस पवित्र और अविकार्य है। समतल के प्रवाह में यदि कोई विकार अथवा अपवित्रतायें मिलती हैं तो वे उस रस-प्रवाहिनी का स्वरूपगत दोष नहीं है, वे सभ्यता के विकारों के कलुष हैं। कविता की रसप्रवाहिनी इस कलुष को आत्मसात् और प्रच्छालित करने की शक्ति रखती है। सूरदास के समदर्शी भगवान के समान कविता की प्रवाहिनी इन कलुषों को भी आत्मसात् करके 'सुरसरी' की संज्ञा प्रदान करती है। वस्तुतः उपनिषदों के 'रसो वैसः' के अनुरूप रस ही इसका स्वरूप है। पुराणों में भागीरथी के रसप्रवाह को ब्रह्म-द्रव कहा गया है। कविता की भागीरथी का प्रवाह ब्रह्म के समान ही रसमय और अविकारी है। कविता ब्रह्म के रस-मय तत्व का ही संगीतमय प्रवाह है।

कविता की रसमय भागीरथी अपने मूल और दिव्य रूप में ब्रह्मा के कमण्डलु की विभूति है। ब्रह्मा सृजन का देवता है। क्षीर सागर पर शेष शय्या पर विराजमान विष्णु की नाभि से निःसृत कमल पर आसीन ब्रह्मा सृजन के प्रतीक हैं। क्षीर सागर मानवीय संस्कृति की आधारभूत मातृ-भावना का प्रतीक है। अनन्त की संज्ञा से विभूषित सत्य के अनुरूप शुभ्रवर्ण और सहस्र-फण-युक्त शेषनाग अनन्त और अनेक शाखाओं से सम्पन्न ज्ञान का प्रतीक है। 'विष्णु' चक्र और गदा से सूचित विक्रम के द्वारा शंख और पद्म से द्योतित धर्म और अध्यात्म के रक्षक हैं। मातृशक्ति की प्रेरणा और ज्ञान का सम्बल उनकी स्थिति का स्थाई आश्रय और अवलम्ब है। आदि-शक्ति की प्रेरणा और अनन्त ज्ञान के सम्बल से विष्णु अपने विक्रमों में सफल होते हैं। 'नाभि' देह का केन्द्र है। कमल जीवन के रस (जल) और कलुष (पंक) से उद्भूत जीवन की ऊर्ध्वगामी श्री का आसन है। उसी श्री की सृजनात्मिका विभूति से विष्णु के विक्रमों का केन्द्रीय प्रयोजन सफल होता है। सृष्टि के विधाता होने के साथ-साथ ब्रह्मा वेदों के आदि वक्ता भी हैं। सृष्टि प्रकृति है। वेद ज्ञान और संस्कृति के आगार हैं। ब्रह्मा प्राकृतिक और सांस्कृतिक सृजन के पौराणिक प्रतीक हैं। उनका कमण्डलु उनकी अर्चना का पात्र और साधना का उपकरण है। उसमें वर्तमान गंगा सृजन की साधना और अर्चना का रसमम तत्व है। ब्रह्म-लोक की वासिनी गंगा के पृथ्वी पर अवतार के लिए भगीरथ की तपस्या अपेक्षित है। कवि ब्रह्म-लोक की रसभूति को भूलोक में प्रवाहित करने वाला तपस्वी भगीरथ है। तप से ही उसकी साधना सफल हो सकती है। भूलोक में कविता की भागीरथी की रसधारा प्रवाहित करने के साथ-साथ वह अनन्त वैभव और अनन्त विलास के आकांक्षी लोक की कामना के प्रतीक स्वर्ग के अभिशप्त इन्द्र के छल से भस्म हुए अपने उद्वेजित पूर्वजों का भी उद्धार कर सकता है

किन्तु कवि रूपी भगीरथ की यह साधना शिव के सहयोग के बिना सम्भव और सफल नहीं हो सकती। शिव लोक मंगल के प्रतीक हैं। अनन्त ज्ञान के प्रतीक शेषनाग के फणों पर पृथ्वी की स्थिति है। उत्कृष्ट सत्य के शुभ्र संचय का प्रतीक कैलाश पृथ्वी का चूड़ामणि है। उस कैलाश पर आसीन 'शिव' सत्व के उत्कर्ष की साधना द्वारा प्राप्य लोक के चरम और उच्चतम मंगल के द्योतक हैं। शिव का गुम्फित जटाजूट साधना की सघन वीथियों का संकेत करता है। लोक की उच्चतम मंगल साधना की सघन वीथियाँ ही सृजन के देवता के साधना-पात्र के रस-प्रवाह को वलयित करने में समर्थ हैं। इस

लोक-मंगल की साधना और उसकी प्रीति के अनुग्रह से ही कवि-रूपी भगीरथ उस रस-प्रवाहिनी को पृथ्वी पर उतारने में समर्थ होता है। ब्रह्मा का यह वचन कि 'अन्यथा वह प्रवाह पाताल को चला जावेगा' लोक-मंगल की साधना के बिना रस-साधना की निष्फलता का व्यंजक है। पाताल विश्व का अधोलोक है। शिव की साधना के अभाव में कितनी रस साधना इस अधोलोक की गामिनी बनी है, यह कला, कविता और साहित्य का स्वस्थ अनुशीलन करने वाले पाठकों को अविदित नहीं है। शिव का स्वरूप स्वयं साधनामय है। भगीरथ और शिव का सहयोग रस और मंगल की साधना की संगति का सूचक है। तप और साधना प्रकृति के संस्कार के मार्ग हैं। रस और मंगल की दिशा में इस साधना की समन्वित गति ही पृथ्वी पर मंगलमयी रस-भगीरथी को अवतरित करने में सफल होती है। पौराणिक कल्पना में गंगा की धारा शिव के शीष से प्रवाहित होती है। लोक मंगल के शीष से प्रवाहित होने पर ही रस-भागीरथी कल्याणमय आनन्द का वरदान बन सकती है। भागीरथ के समान दृढ़ और दीर्घ साधना के द्वारा ही शिव के प्रसाद की विभूति मंगलमयी रस-भागीरथी पृथ्वी पर प्रवाहित होती है।

ब्रह्मा, शिव और भागीरथ के पौराणिक निभित्तों से निर्मित भागीरथी का यह रूपक कविता के स्वरूप उद्गम और अभिव्यक्ति के रहस्यों का एक अद्भुत मार्मिकता के साथ संकेत करता है। कविता का स्वरूप भागीरथी के समान ही रसमय है। यह रस साधारण भावों अथवा जलों के समान विकार-शील नहीं वरन् ब्रह्म-रस के समान अविकार्य है। उपनिषदों में इस रस के आश्रयभूत ब्रह्म को 'कवि' की संज्ञा दी गई है। वह सर्वद्रष्टा कवि अपने स्वरूप-भूत रसतत्व से विश्व की सृष्टि करता है। यह सृष्टि चिन्मय ब्रह्म के स्वभाव की अनायास अभिव्यक्ति है। भामती के मंगलाचरण में 'वीक्षितमेतस्य पंचभूतानि' और 'स्मितमेतस्य चराचरम्' में दिव्य सृष्टि के इस अनायास सौन्दर्य का संकेत मिलता है। ब्रह्मा सृजन के देवता हैं। उन्हें हम ब्रह्मशक्ति के सृजनात्मक रूप का प्रतीक मान सकते हैं। ब्रह्मा का ऋषि-रूप सांस्कृतिक साधना का सूचक है। साधना का कमण्डलु ही ब्रह्म की रस विभूति का आश्रय और त्रिलोक में उसके प्रवाह का आदि-स्रोत बनता है। सांस्कृतिक जगत में कवि अनन्त रस-लोकों का विधाता है। काव्य-शास्त्र की परम्परा में कवि को 'प्रजापति' माना है, यह उचित ही है। कवि स्रष्टा है। साथ ही ही वह द्रष्टा भी है। शंकराचार्य ने उपनिषदों के कवि का 'कविः क्रान्तदर्शी सर्वदृक्' भाष्य किया है। चतुर्मुख होने के कारण विश्व के स्रष्टा ब्रह्मा सर्व-

दर्शी हैं। वेद के विधाता होने के कारण वे सर्वज्ञ भी हैं। अनामिल ज्ञान-दृष्टि विधाता की सृष्टि-क्रिया का आलोक है। उज्ज्वल और अनामिल ज्ञान-दृष्टि से समन्वित होकर ही कवि की सांस्कृतिक सृष्टि भी सफल होती है। अस्तु, ज्ञानदृष्टि से युक्त सृष्टि ही कविता का रूप है। साधना से युक्त सृजनात्मक चेतना की अभिव्यक्ति कविता के रूप में होती हैं।

साधना से सत्व का उत्कर्ष होता है। कैलाश उसी का प्रतीक है। कवि का कैलाश उसका मस्तक है। यह कल्पना योग के प्रतीकवाद के अनुरूप है। तप और शक्ति साधना के सम्बल हैं। तप प्रकृति का मर्यादन तथा वशीकरण है। 'शक्ति' क्रिया की सामर्थ्य है। यों तो यह शक्ति अणु-अणु में व्याप्त है और आज उसके विस्फोट विश्व को प्रलय का द्वार दिखा रहे हैं। निसर्ग प्रकृति की सृजनात्मक क्रिया में शक्ति की अभिव्यक्ति प्रकृति की एक अन्तर्गत नियति बन गई है। शक्ति की कृत्रिम अभिव्यक्तियां मनुष्य-तंत्र हैं। मनुष्य की चेतना में शक्ति का स्वतन्त्र रूप अभिव्यक्त हुआ है। तन्त्रों में इस चिन्मयी शक्ति को 'चिच्छक्ति' की संज्ञा दी गई है। समस्त विश्व इस शक्ति का ही विलास है। विश्व का काव्य शक्ति की महाकला का अद्भुत सौन्दर्य है। कविता की सृष्टि भी कवि की शक्ति साधना का फल है। सत्व का उत्कर्ष शक्ति का भी अभ्युदय है। कवि की समर्थ चेतना की विभूति ही कविता बन कर विलसित होती है। जीवन की उष्मा से विद्रवित सत्व का हिमालय ही मानस के मार्ग से कविता की भागीरथी के रूप में प्रवाहित होता है। इस प्रवाह में सत्व की भास्वरता और कांति, शक्ति का वेग और गति, कल्पना का रंजित वीचिविलास तथा सृजन का अद्भुत सौन्दर्य और प्रगति का मन्द्र मधुर संगीत है।

कविता की भागीरथी की मौलिक कांति, वेग, संगीत आदि का परिचय तो उसके उद्गम के ऊर्ध्व लोकों में ही मिलता है, जो दुर्लभ है। समतल भूमि के निवासियों को इन तीनों के मन्द रूप का ही साक्षात्कार होता है। किन्तु वे भी अपनी कल्पना के द्वारा इन मूल रूपों का मानसिक साक्षात्कार प्राप्त कर सकते हैं। समतल के प्रवाह में भी कांति की अद्भुत आभा, गति का प्रबल वेग, सृजन की व्यापक विभूति और संगीत का मनोहर माधुर्य है। मन्द होते हुए भी प्रवाह का वेग अविच्छिन्न है और उसका विस्तार अधिक है। प्रवाह की यह अविच्छिन्न परम्परा कविता की वास्तविक गति है। महाभारत, वाल्मीकि रामायण आदि के समान विरले ही काव्यों में प्रवाह की

यह परम्परा मिलती है। अधिकांश काव्य भावों के सुन्दर सरोवर हैं जो युग की मान्यता के काल में तो स्वच्छ बने रहते हैं। किन्तु बाद में उपेक्षित होकर सिवार और काई से ढँक जाते हैं। राम चरितमानस के समान विरले ही सरोवर भाव की उस ऊर्ध्व भूमि पर स्थित हैं जहाँ ये विकार से कलंकित नहीं हो सकते। रवीन्द्रनाथ, जयशंकरप्रसाद, निराला और कुछ आधुनिक कवियों के गीतों में भावना के स्वल्प किन्तु स्वच्छ उत्स हैं जो अधिक दूर तक नहीं जाते फिर भी उनके प्रवाह में कान्ति, गति और संगीत है। कुछ सामयिक प्रबन्ध वर्षाकाल की नदियों की भाँति अपने आविल प्रवाह में गम्भीरता की भ्रांति उत्पन्न करके लोक की पूजा के पात्र बन जाते हैं। किन्तु शरद् के निर्मल वातावरण में वे दीन हो जाते हैं। जिन स्थायी काव्यों में विकार का कुछ अंश है वे उन अन्य नदियों के समान हैं, जिनका प्रवाह तो निरन्तर है किन्तु उनका उद्गम निम्न लोक के पर्वतों की सुगम और सुविदित कन्दराओं में है। कविता का उत्तम रूप तो भागीरथी का पवित्र और अविकारी प्रवाह ही है जो साधना के ऊर्ध्व लोकों से निःसृत होकर सामान्य जीवन की समतल भूमि को श्रेय और सौन्दर्य से निरन्तर अंचित करता रहता है और जिसका दीर्घ पथ मनुष्य के सांस्कृतिक तीर्थों का आश्रय है।

भागीरथी का उज्ज्वल और अमृत प्रवाह ही कविता का उत्तम रूप है। लोक-चेतना के गंगासागर में विलीन होकर भी इस प्रवाह की गति विच्छिन्न नहीं होती। जीवन की ऊष्मा से आन्दोलित होकर उसका रस-तत्व करुणामयी मेघमालाओं के रूप में अनन्त के मार्ग से साधना के उसी हिमालय की ओर चल पड़ता है जो कविता की भागीरथी का मूल उद्गम बनता है। इस प्रकार अविच्छिन्न रहकर कविता की भागीरथी का प्रवाह अपनी एकता में अनेकता का समाहार करके मानवीय जीवन के लिए सृजन और सौन्दर्य की मंगलमयी परम्परा की चिरन्तन प्रेरणा बन जाता है।

उद्गम की कान्ति, गति और संगीत के अतिरिक्त भागीरथी के प्रवाह की दिशा भी कविता के स्वरूप का मर्म उद्घाटित करती है। पौराणिक परम्परा के अनुसार गंगा 'त्रिपथगा' कहलाती है। तीनों लोकों में उसके प्रवाह की गति है। स्वर्ग की गंगा का नाम 'मंदाकिनी' है। भूलोक की गंगा 'भागीरथी' है उसी प्रकार पाताल में अधोलोक में भी गंगा का प्रवाह है। ये

तीनों लोक जीवन के ऊर्ध्व मध्यम और अधम लोकों के प्रतीक हैं। तीनों ही लोक गंगा के दिव्य प्रवाह के अधिकारी हैं। यद्यपि पुराणों का स्वर्ग अनन्त विलास और अनन्त वैभव की कामना का मूर्त्त रूप है किन्तु देवों में सत्व की प्रधानता की दृष्टि से हम उसे अध्यात्म के ऊर्ध्व लोक का प्रतीक मान सकते हैं। पाताल का अधोलोक विकृतियों और अनीतियों का तामस देश है। भूलोक सत्व और तम से संतुलित राग का लोक है। यही मनुष्य का मुख्य निवास है। सत्व के हिमालय से निःसृत होकर कविता की भागीरथी इसी में प्रवाहित होती है। अध्यात्म के ऊर्ध्व लोक में भी कविता के भागीरथी का प्रवाह हुआ है। अधोलोक भी इसके प्रसाद से वंचित नहीं है। किन्तु मध्यलोक की धारा ही मनुष्यों के कल्याण का मुख्य मार्ग है। भूगोल की भागीरथी का उद्गम शिव के साधनामय पीठ हिमालय से है। इससे इनकी मंगला-मूलकता स्पष्ट है। इसकी दिशा पूर्व की ओर है। ज्ञान के सूर्योदय के कारण पूर्व का महत्व अपूर्व है। सूर्य जीवन और ज्योति का स्रोत है। योग में वह आत्म का भी प्रतीक है। आत्मा का स्वरूप प्रकाश और शक्ति है। उस सूर्य की दीप्त रश्मियों से विगलित होकर ही सत्व का हिमालय भागीरथी के स्रोत में प्रवाहित होता है। उसके प्रवाह की दिशा भी पूर्व की ओर है जो सूर्य के उदय की दिशा है। निरन्तर प्रवाह का श्रेय और सौन्दर्य तो कविता की भागीरथी का लक्षण है ही, किन्तु इसके साथ-साथ ज्योति और जीवन के सूर्योदय की दिशा की निरन्तर व्यंजना करना भी उसकी स्वाभाविक गति है। वस्तुतः इसी व्यंजना के द्वारा कविता की भागीरथी जीवन की उज्ज्वल और रसमयी सृजन परम्परा की चिरन्तन प्रेरणा बन सकती है। भागीरथी की अपार महिमा के कारण गाँव-गाँव की बरसाती धारा को भी 'गंगा' का नाम मिला। इसी प्रकार कविता की प्रवाहिनी की अपार महिमा का साम्य पाकर अनेक रचनायें 'काव्य' पद की भागिनी बनी। किन्तु उनका स्वरूप कविता की भागीरथी से कितना भिन्न है यह दोनों में अवगाहन करने वाले विवेकीजन ही जान सकते हैं। जहाँ तक जल के प्रवाह का सम्बन्ध है वहाँ तक ये बरसाती धारायें भी 'पयस्विनी' की परिभाषा के अन्तर्गत ही हैं। उसी प्रकार जहाँ तक रस के प्रवाह का सम्बन्ध है कविता के नाम से प्रसिद्ध सभी रचनाओं में वह किसी न किसी परिमाण में मिलता है। प्रश्न यह है कि काव्य का सामान्य स्वरूप क्या है और किस आधार पर काव्य के उस सामान्य में विशेष विभेद किये जा सकते हैं इस विभेद का क्या अधिकार और महत्व है? काव्य की सामान्य परिभाषायें बहुत व्यापक हो जाती हैं। अतः अनेक रचनायें इसके अन्तर्गत आ जाती हैं। किन्तु दूसरी ओर काव्य की किसी भी परिभाषा

का पूर्णतः निर्वाह दुर्लभ है। पूर्णता बड़ी कठिन कोटि है। अतः वह अत्यन्त दुर्लभ भी है। विरली ही कृतियों में परिभाषा की पूर्णता का आभास मिलेगा। परिभाषाओं के भेद के अतिरिक्त उनके निर्वाह की अनेक कोटियाँ हैं। इस प्रकार कविता के सामान्य में अनन्त विशेषों का समावेश हो जाता है। यही कारण है कि अनेक प्रकार से भिन्न प्रतीत होने वाली अनेक कृतियाँ कविता के अन्तर्गत सम्मिलित होती रही हैं।

यदि कविता का एक सामान्य लक्षण संभव भी हो तो भी उसके निर्वाह के अनेक उपकरण और धरातल हैं। इन उपकरणों और धरातलों का सापेक्ष भेद कविता के रूपों में भेद उत्पन्न करता है। जिस एक ही सामान्य के अन्तर्गत होते हुए भी लोक की प्रत्येक वस्तु-विशेष दूसरी वस्तुओं से भिन्न हैं उसी प्रकार कविता के विशेष रूप भी उसके अन्य रूपों से भिन्न हैं। इस भेद के कारण ही जिस प्रकार एक ही सामान्य में समाविष्ट एक विशेष वस्तु को हम अन्य वस्तुओं से पृथक नहीं पहचानते हैं उसी प्रकार हम काव्य के विशेष रूपों को भी पृथक-पृथक पहचानते हैं। कालिदास के एक श्लोक को सुनकर हम तत्काल पहचान जाते हैं, चाहे उस श्लोक को हमने पहले न पढ़ा हो। तुलसीदास, पन्त, प्रसाद, निराला, महादेवी आदि प्रत्येक की रचना में एक अपनी विशेषता है जिसके द्वारा हम उसे पहचानते हैं। इतना अवश्य है कि यह पहचान उस विशेषता के साथ हमारे परिचय पर निर्भर है। इस विशेषता को हम कवि अथवा काव्य के व्यक्तित्व की विशेषता कह सकते हैं। इस दृष्टि से काव्य के उतने ही भेद होंगे जितने कवि हैं। किन्तु काव्य के उपकरणों और धरातलों के आधार पर अन्य प्रकार से काव्य के भेद किये जा सकते हैं। साम्य के आधार पर एक वर्ग के अन्तर्गत इस विभाजन में अनेक रचनायें आ सकती हैं। यह विभाजन काव्य के सामान्य लक्षण और अनन्त विशेषों के बीच में है। आलोचना ही नहीं काव्य के आस्वादन की दृष्टि से भी उसके इस त्रिविध निरूपण का महत्व है। इसलिए साहित्य के इतिहास में काव्य शास्त्रों में काव्य के सामान्य लक्षण के साथ-साथ उसके भेदों का भी निरूपण किया गया है। आधुनिक अध्ययन और आलोचना की रुचि प्रत्येक कवि की मौलिक विशेषता में भी है।

सामान्यतः कविता को कला का शब्दमय रूप माना जाता है। कविता भाषा के माध्यम से भाव की अभिव्यक्ति है। साधारणतः हम भाषा के मुखर रूप को ही जानते हैं। किन्तु भारतीय शब्द-दर्शन में शब्द की और

भी कई कोटियाँ बताई हैं। चतुर्विध वाक् के अन्तर्गत, परा, पश्यन्ति, मध्यमा और वैखरी चार कोटियाँ हैं। इनमें हमारी परिचित भाषा वाक् का अन्तिम और सबसे स्थूल रूप है। अन्य तीन रूपों को हम सामान्यतः नहीं जानते। शब्द-दर्शन में 'शब्द' को 'ब्रह्म' माना गया है। ब्रह्म चिन्मय है। अतः शब्द का मूल स्वरूप भी चैतन्य है। मुखर शब्द उसी का विवर्त हैं, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार वेदान्त में जगत के पदार्थ ब्रह्म के विवर्त है। मुखर भाषा के द्वारा कविता में जिस भाव की अभिव्यक्ति की जाती है वह भी कवि के मानस में चिन्मय ही होता है। इस चिन्मय भाव को हम कविता का आन्तर-रूप कह सकते हैं। मुखर भाषा में उसकी अभिव्यक्ति उसका बाह्य रूप है। भारतीय काव्य शास्त्र में इस बाह्य रूप को काव्य पुरुष की देह माना गया है। आन्तरिक चिन्मय भाव उसकी आत्मा है। जिस प्रकार चिन्मय आत्मा की शक्ति देह को अनुप्राणित और संचालित करती है उसी प्रकार भाव की विभूति शब्दों के देह में व्याप्त रहती है। देह और आत्मा का सामंजस्य ही मनुष्य का जीवन है। उसी प्रकार चिन्मय भाव के साथ शब्द के बाह्य रूप का सामंजस्य ही कविता का जीवन है।

इसलिए भारतीय काव्य शास्त्र में काव्य की सबसे अधिक सामान्य और सम्भवतः सबसे प्राचीन परिभाषा शब्द और अर्थ का सहितभाव (साहित्य) है। "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्" काव्य शास्त्र के अत्यन्त प्राचीन आचार्य भामह का प्रसिद्ध वचन है। यद्यपि भामह वक्रोक्ति को काव्य का स्वरूप मानते हैं, फिर भी शब्द और अर्थ के साहित्य के बिना वह संभव नहीं। आगे चलकर भामह के अनुयायी कुन्तक ने 'वक्रोक्ति से युक्त शब्दार्थ के साहित्य' को काव्य मानकर भामह का अभिप्रेत स्पष्ट कर दिया। कुन्तक की वक्रोक्ति के समान अन्य आचार्यों ने ध्वनि, अलंकार, गुण, रीति, रस आदि में से एक अथवा कई तत्वों से विशिष्ट शब्दार्थ के साहित्य को काव्य का लक्षण माना है। शब्दार्थ का साहित्य प्रायः सभी परिभाषाओं में समान है। तात्पर्य यह है कि शब्दार्थ का साहित्य भारतीय काव्य शास्त्र के अनुसार कविता की परिभाषा का एक आवश्यक अंग है। वस्तुतः यही कला के अन्य रूपों से काव्य का भेदक भी है। कला के अन्य रूपों का माध्यम शब्द अथवा अर्थ-सहित शब्द नही। यहाँ हम शब्द का प्रयोग भाषा के व्यवहार में रूढ़ अर्थ-युक्त शब्द के अर्थ में करते हैं। यदि सामान्य नाद अथवा ध्वनि के अर्थ में हम 'शब्द' को ग्रहण करें तो संगीत भी शब्द के अन्तर्गत आ जायेगा। संगीत का शब्द केवल नाद अथवा ध्वनि है। शुद्ध संगीत में भाव अथवा अर्थ

का संयोग आवश्यक नहीं। वह केवल ध्वनि का लययुक्त क्रम है। सामान्यतः हम जिसे संगीत समझते हैं वह काव्य और संगीत का सम्मिश्रण है। यदि संगीत के लिए सार्थक ध्वनि आवश्यक होती तो संगीत के मूल स्वरों की स्थापना पशु-पक्षियों के स्वरों में नहीं की जाती। चित्रकला वर्णों (रंगों) के माध्यम से रूप की रचना है। भाव की अभिव्यक्ति इसका भी आवश्यक अंग नहीं है, अन्यथा अल्पनाओं (डिजाइन) के समान भावहीन रचनाओं को चित्रकला में सम्मिलित नहीं किया जा सकता। नृत्यकला का माध्यम मनुष्यों के अंगों की गति है। उसमें भाव का अनुयोग स्वाभाविक है। अतः उसे भाव से अलग करना कठिन है; फिर भी यह कहा जा सकता है कि अंगों की गति ही नृत्य कला का मुख्य रूप है।

अस्तु, माध्यम की दृष्टि से भाषा में प्रसिद्ध शब्द का अर्थयुक्त रूप अन्य कलाओं की तुलना में काव्य का भेदक हो सकता है। किन्तु इस मान्यता के निर्वाह की सफलता शब्द और अर्थ के अर्थ पर निर्भर है। शब्द अभिव्यक्ति के संकेत मात्र हैं। इनका निर्माण अक्षरों से होता है, जिन्हें 'वर्ण भी कहते हैं। संस्कृत का 'वर्ण' पद कई अर्थों का द्योतक है। मूलतः वर्ण संकेत अथवा चिन्ह को कहते हैं जिसके द्वारा हम किसी व्यक्ति अथवा वर्ग को पहिचानते हैं। इसी अर्थ में 'वर्ण' समाज के वर्गों का वाचक बना। 'वर्ण' रंग को भी कहते हैं। रंग और रूप चित्रकला के माध्यम हैं। वे चित्रकला की भाषा हैं। नृत्य की गति और भंगिमायें भी अभिव्यक्ति के संकेत हैं। उन्हें हम नृत्य की भाषा कह सकते हैं। यकि भाषा को एक व्यापक अर्थ में अभिव्यक्ति के अंगों का समूह मानें तो सभी कलाओं को भाषा का रूप मानना होगा और वर्ण इस सामान्य भाषा के चिन्ह होंगे। भाषा और वर्ण के इस व्यापक अर्थ से समस्त कलाओं की एक सामान्य परिभाषा हो जाती है। इस परिभाषा के अनुसार कला संकेतों के द्वारा रूप अथवा भाव की अभिव्यक्ति है। यह कला के व्यक्त और वाह्य रूप की ही परिभाषा है। उसका आन्तरिक स्वरूप चिन्मय अनुभूति है जिसे हम 'भाव' कह सकते हैं। यदि भाव में रूप की अनुभूति भी सम्मिलित है तो कला की यह सामान्य परिभाषा सभी कलाओं पर लागू हो जाती है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि भिन्न-भिन्न कलाओं का इसके अतिरिक्त कोई अपना विशेष रूप भी है, जिसके द्वारा वे एक दूसरे से पृथक समझी जाती हैं। भाषा और वर्ण की जो व्यापक व्याख्या ऊपर की गई है उसके अनुसार तो कला के माध्यमों में भी भेद करना कठिन है। भारतीय आचार्यों ने शब्द को काव्य का माध्यम माना है। केवल ध्वनि

अथवा नाद के अर्थ में शब्द संगीत का भी माध्यम है। अतः अर्थ से युक्त शब्द कविता का माध्यम है। तात्पर्य यह है कि मुख से उत्पन्न ध्वनिमय संकेत अन्य कलाओं से संगीत तथा काव्य के विभेदक हैं तथा 'अर्थ' काव्य का संगीत से विभाजन करता है।

किन्तु 'अर्थ' का अभिप्राय क्या है? यदि अर्थ का आशय संकेत में निहित तत्व से है तब तो चित्र-विधान में ग्रहित रूप (आकार) तथा संगीत में निहित रूप (लय) भी अर्थ के अन्तर्गत हैं। चित्र और संगीत के रूप-विधान ऐन्द्रिक ग्रहण के विषय हैं, यद्यपि ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष में भी मन का सहयोग रहता है। शब्द का ग्रहण भी श्रवण के द्वारा होता है किन्तु उसके तात्पर्य ग्रहण में मन की क्रिया होती है। रूप और ध्वनि के सौन्दर्य का बोध बच्चों को भी होता है। किन्तु बुद्धि का विकास न होने के कारण शब्द के अर्थ का बोध उन्हें नहीं होता। शब्द बच्चों के लिए वस्तुओं के ध्वनिमय संकेत मात्र होते हैं। बौद्धिक भावों के संकेत रूप में शब्दों का बोध बच्चों को धीरे-धीरे होता है। इससे विदित होता है कि शब्द का अर्थ उसके रूप में निहित बौद्धिक अथवा मानसिक तत्व है। इसे हम 'चिन्मय भाव' कह सकते हैं। यद्यपि संगीत और चित्र के रूप-विधान में भी मन का सहयोग रखता है, फिर भी उसमें ऐन्द्रिक सम्वेदना की प्रमुखता है। शब्द के अर्थ ग्रहण में मनोव्यापार की प्रधानता है। ऐन्द्रिक व्यापार उसका निमित्त मात्र है। इसलिए शब्द दर्शन में वाणी के तीन रूपों में ऐन्द्रिक व्यापार का सन्निकर्ष नहीं है। उनमें चिन्मय भावतत्व का ही उत्तरोत्तर उत्कर्ष होता जाता है और अन्त में मध्यमा के स्वरूप में रूप का प्रायः विलय हो जाता है। परा तो पूर्णतः ही चित्-स्वरूप है।

अतः मानसिक अर्थ अथवा चिन्मय भाव ही शब्दों के माध्यम का मुख्य तात्पर्य है। एक सीमा तक हम इसे बौद्धिक कह सकते हैं किन्तु यह पूर्णतः बौद्धिक नहीं है। बुद्धि चेतना का सामान्य तथा विश्लेषणात्मक रूप है। विज्ञान और दर्शन बुद्धि के अध्यवसाय के फल हैं। इनमें विवेक-पूर्वक प्रत्ययों और सिद्धान्तों का सामान्य रूप निर्धारित किया जाता है। सामान्य होने के कारण मनुष्यों में उनका परस्पर सम्वाहन संभव है। बुद्धि द्वारा निर्धारित प्रत्ययों और सिद्धान्तों का रूप बहुत कुछ निश्चित होता है। निश्चित होने के कारण उनका सम्वाहन सुगम और सफल होता है। काव्य शास्त्र की भाषा में शब्द के इस निश्चित अर्थ को 'अभिधार्थ' कह सकते हैं। किन्तु यह

अभिधार्थ ही शब्द की भाव-सम्पत्ति का सर्वस्व नहीं है। शब्द के संकेत में अभिधार्थ के अतिरिक्त अधिक व्यापक अर्थ को व्यंजित करने की शक्ति होती है। इस शक्ति का नाम ही 'व्यंजना' है। आनन्द वर्धन ने इसे 'ध्वनि' की संज्ञा दी है। वे इसे काव्य की आत्मा मानते हैं। वस्तुतः यह व्यंजना कला का सामान्य लक्षण है। कला भाव की अभिव्यक्ति है। यह अभिव्यक्ति ही सौन्दर्य का स्वरूप है। चित्रकला में प्रायः रूप ही भाव होता हैं किन्तु आधुनिक चित्रकला में भाव के माध्यम के रूप में भी रूप के दर्शन होते हैं। पिकासो से प्रभावित अति आधुनिक चित्रकला में तो रूप की विकृति के द्वारा भाव की अभिव्यक्ति की जाती है। चित्रकला के प्रतीकात्मक रूप में भाव की ही प्रधानता है। संगीत का शुद्ध रूप चाहे ध्वनियों का भावहीन क्रम ही हो, संगीत की लय भाव की लहर बनकर ही हमारी चेतना को स्पर्श करती है। नृत्य और मूर्तिकला में तो मनुष्य की देह के माध्यम के प्रायः भाव की अभिव्यक्ति होती है। मनुष्य के अंग, विशेषतः उसका मुख, चिन्मय भावों की अभिव्यक्ति का सहज माध्यम है। इस प्रकार यदि कलाओं के रूपों में रूप के साथ-साथ उसके भाव की अभिव्यक्ति भी मान्य हो तो फिर काव्य और अन्य कलाओं में माध्यम के रूप के अतिरिक्त और कोई भेद खोजना कठिन होगा। इसी कारण पश्चिमी सौन्दर्य शास्त्र में कला के एक सामान्य के अन्तर्गत काव्य को भी सम्मिलित कर रहे हैं। यह कहना भी कठिन है कि शब्द में भाव की अभिव्यक्ति की क्षमता अधिक है। चित्रकला और नृत्य की ये मुद्राओं में बहुत से भावों की ऐसी मार्मिक और सजीव अभिव्यक्ति होती है जैसी काव्य में दुर्लभ है। इतना अवश्य है कि संभवतः भाव के सभी अभिप्रेत चित्र और नृत्य के द्वारा अभिव्यक्त नहीं किये जा सकते। भाव की व्यंजना में संभवतः शब्द की शक्ति अधिक व्यापक है। इसीलिये अभिव्यक्ति के माध्यमों में सबसे अधिक समृद्धि भाषा की हुई है।

भाषा शब्द संकेत के द्वारा अर्थ की अभिव्यक्ति का साधन है। शब्द में निश्चित अभिधार्थ की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त एक अनुरक्त और व्यापक भाव की अभिव्यक्ति की भी सामर्थ्य है। अभिधार्थ से भेद करने के लिए हम इसे 'आकूति' कह सकते हैं। काव्य शास्त्र की परम्परा में इसे व्यंग्यार्थ कहा जाता है। ध्वनि सम्प्रदाय में रस को मुख्य व्यंग्यभाव माना है। इसी आधार पर आगे चलकर विश्वनाथ ने काव्य की परिभाषा 'रसात्मक वाक्यम्' की है। ध्वनि अथवा व्यंजना शब्द की शक्ति अथवा उसके द्वारा भाव की अभिव्यक्ति की शैली है। विभाव, अनुभाव आदि सहकारी कारणों के सहयोग से मनुष्य के मन में रति आदि स्थायी भावों का जो परिपाक होता है उसी में रस की

निष्पत्ति होती है। भारतीय रसवाद का मूल उपनिषदों के 'रसौवै सः' में खोजा जाता है किन्तु काव्य-शास्त्र का मनोवैज्ञानिक रस उससे नितान्त भिन्न है। यद्यपि पंडितराज जगन्नाथ ने 'चिदावरणभंग' के सिद्धांत के द्वारा दोनों का समन्वय करने का प्रयत्न किया है। किन्तु रति आदि से अवच्छिन्न रहने के कारण न यह चिदावरणभंग ही पूर्ण हो सका और न इस समन्वय का रूप ही समीचीन बन सका। अवच्छेद भी चित् के आवरण ही हैं। चित् का वास्तविक स्वरूप इन अवच्छेदों को अतिक्रान्त करके ही उदित होता है। इस अतिक्रान्ति के क्रम विभाव के बिन्दुओं के अहंकार का विस्तार और विलय होता है। इसी विस्तार में चित् का आवरण भंग होता है और रस का उदय होता है। रस का यही वास्तविक स्वरूप है जिसे उपनिषदकारों ने ठीक-ठीक समझा। इसी रस का स्वरूप आनन्द है। चिद्-विन्दुओं का एकात्मभाव इसका लक्षण है। अनुभूति, सहानुभूति आदि से भेद करने के लिए हमने इसे समात्मभाव की सम्भूति कहा है। मोक्ष और समाधि से लेकर हमारे साधारण लोक व्यवहार तक इस सम्भूति के तारतम्य का क्रम सम्भव है। वस्तुतः सामाजिक जीवन, सभ्यता और संस्कृति में इसी का सूत्र आनन्द का स्रोत है। काव्य शास्त्रों में सामान्यत: जिसे रस माना है वह ऐन्द्रिक और प्राकृतिक सुख है, आत्मिक आनन्द नहीं है। काव्य शास्त्रों में काव्य के आनन्द को लोकोत्तर तथा ब्रह्मानन्द सहोदर माना है। ज्ञात नहीं कि काव्य का आनन्द किस अर्थ में लोकोत्तर है तथा किस अर्थ में ब्रह्मानन्द का सहोदर है। उपमा और अनुमान के लिए ब्रह्मानन्द के प्रसंग में विषयानन्द का भी उल्लेख मिलता है। लोकोत्तर से अभिप्राय ऐन्द्रिक सुख से अतीत आनन्द से है। कदाचित् इसलिए काव्यानन्द को ब्रह्मानन्द का सहोदर कहा है।

कला चाहे केवल अभिव्यक्ति हो और उसमें अभिव्यक्ति के सौन्दर्य की दृष्टि से चाहे भाव-तत्व का अधिक महत्व न हो, किन्तु काव्य में अभिव्यक्त (रूप) और तत्व दोनों का समान महत्व है तथा उनके समन्वय से ही श्रेष्ठ काव्य की सृष्टि होती है। 'शब्दार्थों सहितौ' का यही तात्पर्य है तथा कालीदास की 'वागर्थ सम्पृक्ति' का यही अभिप्राय है। इस दृष्टि से यदि हम काव्य का अवलोकन करें तो हमें अधिकांश काव्य का भाव-तत्व लौकिक ही प्रतीत होगा। काव्य-शास्त्र के रसवाद की कल्पना तथा अधिकांश काव्य कृतियों का उपादान लौकिक सम्वेदनाऐं और सुख ही हैं। ऐसी स्थिति में काव्य के अलौकिक आनन्द का आधार केवल अभिव्यक्ति की कला ही हो सकती है। यह सत्य है कि अभिव्यक्ति के सौन्दर्य में अद्भुत चमत्कार है।

वह साधारण को असाधारण तथा लौकिक को अलौकिक बना देती है। हमारा साधारण लोक-व्यवहार अभिधान पर आश्रित होता है। इस दृष्टि से अभिव्यक्ति की व्यञ्जना अलौकिक ही है। इस व्यंजना का कोई व्यावहारिक और लौकिक लाभ नहीं है, अतः यह स्वयं अपना लक्ष्य बनकर अलौकिक आनन्द की सृष्टि करती है। काव्य-शास्त्र और काव्य-कृतियों में इसके इतने व्यापक महत्व का यही कारण है। किन्तु केवल अभिव्यक्ति का सौन्दर्य कला और काव्य का सर्वस्व नहीं है। अभिव्यक्ति के अतिरंजित रूप में मनोविलास की आशंका होने लगती है।

मनोविलास अवस्थ मन का विलास है, वह स्वस्थ मन का आनन्द नहीं है। कला में विशेषतः काव्य में अभिव्यक्ति के रूप के साथ-साथ भाव तत्व का भी समान महत्व है। यह भाव-तत्व मूलतः जीवन का लौकिक रूप ही है। जीवन के इस लौकिक रूप के आनन्द के अनुरूप होने पर ही अभिव्यक्ति के सौन्दर्य से इसका उचित समन्वय हो सकता है। आनन्द का वास्तविक स्वरूप वही है जिसे उपनिषदों में 'रस' कहा है तथा एकात्मभाव इसका लक्षण है। प्राकृतिक सुख से इसका कोई विरोध नहीं है, किन्तु इसमें अन्वित होकर ही प्राकृतिक सुख आनन्द की कोटि तक पहुँच सकता है। इस अन्वय में ही जीवन और काव्य के रस तथा आनन्द का स्रोत है। खेद की बात है कि काव्य में यह अन्वय दुर्लभ ही है। अभिव्यक्ति के चमत्कार के आनन्द के अतिरिक्त भाव-तत्व के समन्वय के आनन्द की क्षमता बहुत कम काव्य में है। अधिकांश काव्य प्राकृतिक और लौकिक सुख का ही साधन है इसी कारण लोक की उसमें रुचि भी है। ब्रह्मानन्द के सहोदर पद का अभिलाषी होते हुए भी अधिकांश काव्य लोक की प्राकृतिक रुचि का ही रंजन करता रहा है। प्रायः इस काव्य में लौकिक संवेदना के तत्व को इतनी प्रबलता रही है कि अभिव्यक्ति के अलौकिक सौन्दर्य का चमत्कार भी लौकिक सुख के व्यक्तिगत रूप के आकर्षण का ही संवर्धन करता है।

काव्य के समग्र स्वरूप में रूप और तत्व दोनों का समान महत्व है। दोनों के समन्वय से ही काव्य का पूर्ण रूप निर्मित होता है। काव्य के रूप को अभिव्यक्ति अथवा व्यंजना कह सकते हैं। काव्य का तत्व जीवन और जगत का सत्य है। अभिव्यक्ति में अन्वित होकर वह एक व्यापनशील रूप धारण करता है। सत्य के सागर की लहरों में अभिव्यक्ति के आलोक की शिखायें अनन्त ज्योतिर्लोकों का निर्माण करती हैं। कल्पना के वीचविलास

में इन लोकों का रूप नव-नव आभा से निखरता रहता है। उसकी यह निरन्तर नवीनता ही सौन्दर्य की इस परिभाषा को सार्थक बनाती है—'क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैतित देव रूपं रमणीयताता:'। प्रकृति के काव्य में नये-नये रूपों की रचना होती रहती है। मनुष्य के काव्य में भी रचना का यह क्रम-अनन्त है। किन्तु मनुष्य का काव्य इस दृष्टि से अलौकिक है कि विकीर्ण होते हुए भी उसका सौन्दर्य और सौरभ प्रकृति के पुष्पों की भांति विशीर्ण नहीं होता। ये काव्य-कुसुम अपने अविनष्वर सौन्दर्य से मानव मन में नित्य नवीन भावों की रचना करते रहते हैं। काव्य की भावव्यंजना की व्यापकता और समृद्धि का यह पर्याप्त उदाहरण है। यह साकूत और व्यापक व्यंजना ही विज्ञान, शास्त्र और दर्शन से कला तथा काव्य की भेदक है। काव्य की अभिव्यक्ति का माध्यम 'शब्द' अर्थ-सन्निधान के कारण व्यंजना का साधन होने के साथ-साथ तत्व का वाहक भी है। यह तत्व जीवन और जगत का सत्य है। अभिव्यक्ति के माध्यम से वह चेतना का भाव-तत्व बन जाता है। विज्ञान और शास्त्रों के अभिधान में भी तत्व का चेतना से यही सम्बन्ध है। किन्तु उसमें अर्थ और आकृति की समानता के कारण कोई चमत्कार नहीं होता, अतः उनमें अवगति का आलोक तो होता है किन्तु अभिव्यक्ति का आह्लाद नहीं होता। अभिव्यक्ति की भंगिमा और आकृति की व्यापनशीलता दोनों मिलकर काव्य के भावतत्व में सौन्दर्य और आह्लाद का संचार करते हैं।

सभी कलाओं में भावतत्व का स्थान है और अभिव्यक्ति उनका सौन्दर्य है। चित्रकला, संगीत आदि में चाहे रूप की प्रधानता हो किन्तु काव्य में भावतत्व का महत्व अभिव्यक्ति के समान है। भाव सत्य का चिन्मय रूप है। अभिव्यक्ति के सौन्दर्य में अन्वित होकर वह रस का रूप ग्रहण करता है। रस का स्वरूप आनन्द है इसीलिए रसमय काव्य को लोकोत्तर आनन्द का प्रदाता माना गया है। उपनिषदों में इस रस का रूप आध्यात्मिक है और काव्य शास्त्र में इसका लौकिक रूप ही ग्रहण किया गया है। रस का यह लौकिक रूप मनोवैज्ञानिक, व्यक्तिनिष्ठ और संवेदनामय है। इसी कारण काव्य-शास्त्र के रसवाद में अनेक समस्यायें पैदा हुई और उपनिषदों के आध्यात्मिक रस से उसका समन्वय कठिन हो गया। उपनिषदों के रस की पूर्ण कल्पना करना कठिन है। वह एक दीर्घ और दुष्कर साधना है। किन्तु सामाजिक जीवन के आत्मीय सम्बन्धों में हमें उसकी झलक मिलती है। जो मनोवैज्ञानिक और व्यक्तिनिष्ट भाव काव्य-शास्त्र के रस का आधार है, वही मनुष्य जीवन सर्वस्व नहीं है। स्वार्थ प्रेक्रतिका स्वभाव है। प्रकृति का पुत्र होने के

कारण स्वार्थ का संश्लेष मनुष्य के जीवन में वर्तमान है, किन्तु वह अहंकार के एक अनिश्चित बिन्दु के रूप में है। जीवन के सम्बन्धों में उस बिन्दु का विस्तार सदा एक व्यापक परिधि में होता रहता है। प्रकृति के स्वार्थ में सुख है जो सम्वेदनामय है। मनुष्य के जीवन में चेतना का जागरण होने के कारण प्रकृति और सम्वेदना का स्वार्थमय सुख अपनी सीमाओं में सुरक्षित नहीं रह गया है। चेतना की व्यापनशीलता के संस्कार लेकर वे प्राकृतिक सुख आत्मिक आनन्द में अन्वित हो गये हैं। उनकी प्राकृतिक भूमि में भी अध्यात्म और संस्कृति के समृद्ध कल्पतरु पुष्पित हुए हैं। प्राकृतिक संवेदना और आत्मिक चेतना के इसी संगम में संस्कृति का बीज और रस का स्रोत है। रस संगम में उपनिषदों का आध्यात्मिक रस लोक-जीवन की विभूति बनता है। प्रकृति की भूमि में यह आत्मा का विलास है। कविता इसी रस की भागीरथी है।

भारतीय काव्यशास्त्र में रस को मनोवैज्ञानिक, व्यक्तिनिष्ठ और संवेदनाशील मानकर काव्य के विवेचन को एक ऐसे मार्ग पर डाल दिया जो जीवन और काव्य दोनों के वास्तविक लक्ष्य से दूर हो गया है। किसी सीमा तक यह सत्य है कि जीवन और काव्य दोनों के रस का अनुभव व्यक्ति के आश्रम में होता है और इस अनुभव में अहंभाव का संश्लेष भी रहता है। किन्तु रस के अनुभव में इनके अतिरिक्त एक और महत्वपूर्ण तत्व है। यही तत्व रस के उद्रेक का मुख्य कारण है। जो व्यक्ति और सम्वेदना काव्य शास्त्र में रस के मुख्य उपकरण माने गये हैं वे उसके निमित्त मात्र हैं। रस का वास्तविक स्वरूप सामाजिक समात्मभाव है जिसे अनुभूति, सहानुभूति, समानुभूति आदि से पृथक करने के लिए हम सम्भूति कह सकते हैं। क्रोचे और भारतीय काव्य शास्त्र दोनों ही एक प्रत्याहार के सीमित रूप में व्यक्ति को कला और काव्य के रस का आश्रय मानते हैं। ऐसे एकान्त व्यक्ति की कल्पना करना कठिन है। उपनिषदों के प्रजापति भी इस एकान्त में आनन्द न पा सके और उन्होंने मिथुन सृष्टि की रचना की। उसमें प्रवेश करके उन्होंने सानन्द की प्राप्ति की। यह प्रवेश आन्तरिक एकात्मभाव है। यही रस का मूल है। यदि एकान्त सम्भव हो तो उसमें रस का अनुभव तथा कला और काव्य की सृष्टि सम्भव नहीं है। एकान्त साधना और एकान्त भाव को एक समझना भ्रम है। बाह्य रूप में अकेले होते हुए भी हम मन से अकेले नहीं होते। भाव-प्रवण कल्पना के द्वारा अनेक वस्तुओं और व्यक्तियों से आत्मभाव स्थापित करके हम अपने एकान्त की शून्यता को सम्पन्न बनाते हैं। यही सम्पन्नता संस्कृति की समृद्धि तथा कला और काव्य का स्रोत है।

कला और काव्य के अनेक सिद्धान्तों में मानवीय चेतना के इस सांस्कृतिक सत्य का संकेत है, किन्तु किन्हीं कारणों से काव्य-परम्परा में इस मौलिक सत्य का समुचित उद्घाटन नहीं हो सका। भारतीय काव्य-शास्त्र में पात्रों के साथ दर्शक के तादात्म्य के प्रसंग आते हैं। क्रोचे की अनुभूति और कौलिंगवुड की कल्पना में भी कला के विषय के साथ कलाकार की चेतना के तादात्म्य का भाव है। बोलकेल्ट और लिप्स के द्वारा प्रतिपादित समानुभूति के सिद्धान्त में भी इस तादात्म्य का बीज है। किन्तु ये सभी सिद्धांत व्यक्तित्व और अहंभाव के बिन्दु में ही इस तादात्म्य का संकोचत करते हैं। वस्तुतः यह तादात्म्य संकोचन नहीं, विस्तार है। यह विस्तार चेतना की सहज वृत्ति है। इस विस्तार में अहंकार के बिन्दुओं का विलय नहीं, उन्नयन और सामंजस्य है। युगल अथवा अनेक बिन्दुओं में युगपत् उदय होने के कारण इसे 'समात्मभाव' कहना उचित है। यह अनुभूति नहीं सम्भूतिं है। पश्चिमी चेतना की वृत्ति बहिर्मुख है अतः कला के विषयों में वस्तुओं का ही प्रसंग प्रमुख रहा। व्यक्तिगत सम्वेदना में सीमित रहने के कारण भारतीय काव्य-शास्त्र भी इस सम्भूति की यथोचित कल्पना नहीं कर सका। सत्य यह है कि सृष्टि में विश्रृंखल अनेकता होने पर कलाकार की कल्पना मौलिक प्रेरणा से रहित होती है। काल्पनिक अथवा वास्तविक (और कल्पना का आधार वास्तविक ही होता है) साहचर्य, सहकार और सम्बन्ध के समात्मभाव में ही सृजनात्मक कल्पना को प्रेरणा मिलती है तथा इसी भाव की सम्भूति में सौन्दर्य और रस का उदय होता है।

समात्मभाव की सम्भूति जीवन का एक साधारण सत्य है। उसमें रहस्य अथवा अलौकिकता की कोई बात नहीं। हमें अपने आत्मीय सम्बन्धों में प्रायः इसका साक्षात्कार होता है। वस्तुतः मनुष्य के सम्बन्ध का यह सामान्य भाव है। मनुष्य का स्वरूप आत्मा और प्रकृति का संयोग है। यह संयोग किस प्रकार सम्पन्न हुआ, यह सृष्टि-शास्त्र की एक जटिल पहेली है। जीवन में इन दो विषम तत्वों की संगति का सिद्धान्त क्या है, यह दर्शन का एक दुरूह प्रश्न है। किन्तु सामान्य व्यवहार और अनुभव में इन समस्याओं और प्रश्नों के कारण कोई बाधा नहीं आती। सृष्टि-शास्त्र और दर्शन दोनों की कठिनाइयाँ कुछ मान्यताओं को लेकर हैं। इन मान्यताओं में विचार का विश्लेषण और कारणवाद का आग्रह मुख्य है। विश्लेषणात्मक होने के साथ-साथ वस्तु-रूपों के निश्चित परिच्छेद का निर्धारण विचार का स्वभाव है यद्यपि हीगल ने यह दर्शित किया था कि दूसरी ओर विचार इन परिच्छेदों का

अतिक्रमण भी करता है। हीगल के अध्यात्मवाद में इसी अतिक्रमण के आधार पर विचार और अध्यात्म का समन्वय हो सका। किन्तु तर्क, विज्ञान और व्यवहार में विचार का परिचित स्वभाव अवच्छेदन ही है। अवच्छेदन निश्चित एकरूपता की सीमा में वस्तुओं, व्यक्तियों और प्रत्ययों को निर्धारित करता है। पृथक्करण इसका धर्म और अनेकरूपता इसका फल है।

वस्तुतः यह परिच्छेद प्रकृति का विधान है। प्रकृति के रूप परिच्छिन्न आकार में ही व्यक्त होते हैं। मनुष्य की आत्मा को भी देह का परिच्छेद प्रकृति से ही प्राप्त हुआ है। परिच्छेदों की अनेकता व्यवहार को सम्भव बनाती है तथा साथ ही जीवन के भावों की समृद्धि का साधन भी है। पूर्णतः परिच्छिन्न और पृथक होने के कारण जड़ प्रकृति के पदार्थों में न कोई आन्तरिक सम्बन्ध है और न उनके भाव एवं रूप की समृद्धि होती है। जड़ प्रकृति के क्षेत्र में केवल स्वगत परिणाम की क्रिया है, किन्तु सजीव प्रकृति में पारस्परिक और आन्तरिक सम्बन्ध का विकास हुआ उसमें रूपों की अभिव्यक्ति परिच्छेदों में होते हुए भी एक सृजनात्मक धर्म में तत्वों का परस्पर अन्तर्भाव है। यह अन्तर्भाव एक आन्तरिक सम्बन्ध है। इसी के द्वारा प्रकृति के रूपों में समृद्धि होती है। पृथ्वी के रसों को आत्मसात करके बीज नित्य, नवीन पल्लवों, पुष्पों फलों में साकार होते हैं। सजीव प्रकृति के इस सृजनात्मक धर्म में कोई सचेतन भाव है अथवा नहीं यह कहना कठिन है, किन्तु इसमें रूप की समृद्धि एक परम्परा बन गई है यह स्पष्ट है।

मनुष्य में आन्तरिक सम्बन्ध का यह अन्तर्भाव सचेतन हो गया है। जहाँ प्रकृति का धर्म परिच्छेद है, वहाँ चेतना का धर्म विस्तार है। इन्द्रियों की दूर-गति में विषयों के ज्ञान भी चेतना के इस विस्तार का आभास मिलता है। कल्पना में यह चेतना अनन्त बन गई है। विषयों के ज्ञान में भेद और अनेकता प्रमुख जान पड़ती है। यह विचार के तटस्थ स्वभाव का फल है। किन्तु कला और कल्पना के क्षेत्र में यह पृथकत्व और परिच्छेद इतना कठोर नहीं रहता। पृथक होते हुए भी कल्पना के द्वारा कलाकार वस्तुओं के साथ एकात्मता का अनुभव करता है। वस्तुतः यह एकात्मभाव मानवीय सम्बन्ध का लक्षण है, इसीलिए कला और काव्य में प्रायः जिन वस्तुओं के साथ एकात्मभाव की स्थापना होती है उनमें मानवीय भावनाओं का आरोपण मिलता है। प्रकृति का मानवीयकरण कला और काव्य का एक परिचित तथ्य है। वस्तुओं के सम्बन्ध में जो एकात्मभाव आरोपण के द्वारा सम्भव

होता है मानवीय सम्बन्धों में वह स्वाभाविक है। चेतना की विस्तार-मुखी वृत्ति इसे सहज संभव बनाती है। हमारी इन्द्रियां ही बहिर्गामिनी नहीं हैं, वरन् हमारी चेतना भी विस्तारशील है। वस्तुतः इन्द्रियां चेतना के विस्तार का माध्यम हैं। इस दृष्टि से इन्द्रियां अध्यात्म की एक गर्हणीय बाधा नहीं है, वरन् उसकी व्यावहारिक सफलता की सहयोगिनी है। मनुष्य-देह में सजीव और सचेतन होकर प्रकृति अपनी जड़ सीमाओं से ऊपर उठ गई है। जहां उसके रूप, आकार और कुछ धर्मों में प्रकृति का परिच्छेदमूलक लक्षण भी वर्तमान है, वहां दूसरी ओर इन्द्रियों और मस्तिष्क के रूप में चेतना के साथ सहयोग की दिशा में भी उसका उत्कर्ष हुआ है। मनुष्य की देह में मानव प्रकृति आत्मा को साकार करने की साधना कर रही है।

आत्मा और प्रकृति का संगम होने के कारण मनुष्य की सत्ता में विरोध का बीज है। किन्तु यह विरोध ही उसके स्वरूप का सर्वस्व नहीं है। इस विरोध में भी एक नैसर्गिक संगति है तथा इस संगति को पूर्णतर बनाने की सम्भावना मनुष्य में निहित है। लिस्टोवैल का मत है कि कला में इस संगति को अद्भुत बनाने की क्षमता है वस्तुतः इसी संगति की समृद्धि संस्कृति की साधना का लक्ष्य है। जहां पृथकत्व और परिच्छेद प्रकृति का रूप है वहां संगति और समात्मभाव चेतना का लक्षण है। वेदान्त में आत्मा के एकत्व की जो स्थापना की गई है वह अपने पूर्ण रूप में चाहे कितनी ही दुरूह हो किन्तु आत्मीयता के सामाजिक सम्बन्धों में हमें एकात्मता का साक्षात्कार होता है। इस एकात्मता में चेतना का आत्म-विस्तार समृद्ध होता है। प्राकृतिक देह के परिच्छिन्न माध्यम में संभव होने के कारण इसमें विचार की कठिनाइयां पैदा होती हैं। विज्ञान अथवा मनोविज्ञान के अनुसार व्यक्ति को एक पृथक और स्वतन्त्र इकाई मानकर जब हम मनुष्य के जीवन और सम्बन्धों को समझना चाहते हैं तो कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं। इस कठिनाई का मूल व्यक्ति को वस्तु समझने में है। प्राकृतिक वस्तुओं के समान ही पृथक और परिच्छिन्न रूप में व्यक्ति को ग्रहण करके वैज्ञानिक दृष्टिकोण मनुष्य के साथ अन्याय ही नहीं करता वरन् वह जीवन के साधारण सत्य को भी भ्रांत बनाता है। किसी सीमा तक यह ठीक है कि प्राकृतिक परिच्छेद की सीमा और अहंभाव के केन्द्र में मनुष्य का व्यक्तित्व साकार होता है। किन्तु यही मनुष्य जीवन का सम्पूर्ण सत्य नहीं है। चेतना से अनुप्राणित होने के कारण एक अनिश्चित परिधि की ओर सदा उसका विस्तार होता रहता है। प्रकृति का पृथक्त्व जब मानवीय सम्बन्धों में

विरोध बन जाता है तभी इस अहंकार का उग्र और केन्द्रित रूप प्रकट होता है। बाह्य होते हुए भी यह विरोध एक आन्तरिक विषमता उत्पन्न कर देता है। इस विषमता से आन्तरिक अशान्ति होती है। इसके विपरीत प्रेम और सद्भावों के सम्बन्धों में सामाजिक संगति होती है। इसका फल आन्तरिक सामंजस्य होता है।

अहंकार के बिन्दुओं के इस सामाजिक और आन्तरिक सामंजस्य में एक व्यापक परिधि की ओर उनका विस्तार होता है। कुछ अध्यात्मवादी दर्शन इस विस्तार में अहंकार के बिन्दुओं का विलय मानते हैं, किन्तु यह आवश्यक नहीं है। वास्तविक मानवीय सम्बन्धों में इस विलय के बिना भी हमें विस्तार का साक्षात्कार होता है। वस्तुतः बिन्दु की केन्द्रीयता और उनके विस्तार के सम्बन्ध में एकता और अनेकता; भेद और अभेद आदि की समस्यायें विचार के विश्लेषणात्मक स्वभाव से उत्पन्न होती है। विचार का तटस्थ दृष्टिकोण सजीव और सचेतन व्यक्तियों को भी जड़ वस्तुओं की भाँति पृथक् और परिच्छिन्न रूप में देखना चाहता है। किन्तु सजीव और सचेतन व्यक्तित्व में प्रकृति के परिच्छेद की सीमायें उदार तथा उसके नियमों की नियति मृदुल हो गई है। इसी मृदुलता और उदारता में आत्मा के साथ सामंजस्य की ओर प्रकृति का उत्कर्ष सम्भव हो सका है। मनुष्य जीवन में प्रकृति के इस उत्कर्ष के कारण प्रकृति के नियमों और विचार के सिद्धान्त के अनुरूप जीवन के सत्यों का निर्धारण नहीं हो सकता। इसी कठिनाई से बचने के लिए वेदान्त के विधाताओं ने अपने दर्शन को अद्वैत-वेदान्त की निषेधात्मक और अनिश्चित संज्ञा दी। 'अद्वैत' का तात्पर्य यही है कि प्राकृतिक सत्ता और विचार-प्रणाली का भेद-मूलक रूप जीवन और चेतना के क्षेत्र में मान्य नहीं है। भेद के निषेध का अर्थ एकत्व की स्थापना नहीं है। वाचस्पति मिश्र ने स्पष्ट कहा है कि वेदान्त का उद्देश्य भेद का निराकरण है, अभेद की स्थापना नहीं 'एकत्व' प्रकृति की सत्ता का रूप और विचार का आग्रह है और दूसरी ओर वह अनेकत्व से सापेक्ष है। विचार के इसी द्वन्द की संध्या में जीवन और अध्यात्म का सत्य तिरोहित हो गया। एकत्व का आग्रह और स्वीकरण आकृति के रूप और विचार के चरणों में जीवन का आत्मसमर्पण है। मानवीय सम्बन्धों के समात्मभाव का रूप एकत्व और अनेकत्व के नियमों से अतीत है। वस्तुतः वह दोनों का सामंजस्य है। आत्मीय सम्बन्धों में हमें सामंजस्य का साक्षात्कार होता है। कला और संस्कृति की साधना का लक्ष्य यही सामंजस्य है। बाह्य और आन्तरिक संगति के द्वारा यह सामंजस्य जीवन को समृद्ध बनाता है।

प्रकृति की सत्ता और विचार के नियमों के एकत्व और अनेकत्व तथा परिच्छेद और पृथकत्व से अतीत समात्मभाव का सामंजस्य ही कला और सौन्दर्य का मूल है। किन्तु प्रकृति के प्रभाव और विचार के आग्रह के कारण कला और काव्य के अनेक सिद्धान्तों में इसके विपरीत स्थापनायें मिलती हैं। इन स्थापनाओं में प्राकृतिक पदार्थों की सत्ता और विचार के आग्रह के अनुरूप कलाकार, दर्शक अथवा पाठक के विविक्त व्यक्तित्व को ही कला अथवा काव्य की रसानुभूति का आधार माना गया है। यदि कलाकार अपनी आन्तरिक अनुभूति को ही सर्वस्व मानकर इसी से सन्तुष्ट रहता है तो कला की बाह्य अभिव्यक्ति और कलाकार के अतिरिक्त अन्य सामाजिकों के द्वारा उसके रसास्वादन के प्रसंग में पैदा होने वाली समस्यायें न उठती। कलाकार को अपनी कलानुभूति की पूर्णता के लिए 'स्वान्तः सुखाय' बाह्य अभिव्यक्ति की आकांक्षा भी होती किन्तु यदि वह उसे दूसरों तक न पहुँचने देता तो भी इस परिस्थिति में कोई अन्तर न पड़ता। सत्य यह है कि अभिव्यक्ति मनुष्य की चेतना का स्वभाव है। जिस ज्ञान के अनुसन्धान में आन्तरिक जिज्ञासा मनुष्य को प्रेरित करती है उस ज्ञान को भी वह दूसरों के प्रति प्रकट करने के लिए आकुल हो उठता है। सौन्दर्य की अनुभूति भी उसे अभिव्यक्ति के लिए उत्सुक बना देती है और वह दूसरों को अपनी अनुभूति में भाग लेने के लिए आमंत्रण देता है। कलात्मक अभिव्यक्ति इसी आमंत्रण की भाषा है। असंख्य कला-कृतियों और काव्यों में यही आमंत्रण साकार हुआ है। यह आमंत्रण कला और काव्य के सामाजिक स्वरूप का सूचक है। कला का वह आमंत्रण उसके स्वरूप को व्यक्तिगत अनुभूति के स्थान पर सामाजिक समात्मभाव की सम्भूति बना देता है।

वस्तुतः यही सम्भूति कला और काव्य का मूल स्रोत है। किन्तु पूर्व और पश्चिम के प्रायः सभी सिद्धान्तों में कला और सौन्दर्य की अनुभूति को व्यक्तिनिष्ठ माना गया है। दूसरी ओर कला की बाह्य और सामाजिक अभिव्यक्ति ने इन विचारकों और आचार्यों को यह मानने के लिए विवश कर दिया है कि दूसरे लोग भी कलाकारों की इस अनुभूति में भाग लेकर रस का अनुभव करते हैं। कलात्मक अनुभूति को व्यक्तिनिष्ठ मानने के कारण दूसरों के रसास्वादन की भी व्यक्तिनिष्ठता के आधार पर ही व्याख्या करने के लिए वे विवश हुए। एक दूसरे के अनुभव में भाग लेने की स्वाभाविक क्षमता जीवन का एक साधारण सत्य होते हुए भी इन आचार्यों को कला और काव्य के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण न जान पड़ी। अतः उन्होंने व्यक्तिनिष्ठता के आधार

पर ही सामाजिकों के द्वारा कला के रसास्वादन की व्याख्या की। भारतीय नाट्य-शास्त्र और काव्य-शास्त्र का रस सिद्धान्त इस व्याख्या का भारतीय रूप है। भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा में भरत से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक इस सिद्धान्त के विकास का विशद और विपुल रूप मिलता है। किन्तु इस समस्त परम्परा में अपने अहंभाव में सीमित व्यक्ति ही रसानुभूति का आश्रय रहा है। प्रश्न यह है कि 'पाठक काव्य के रस का आस्वादन किस प्रकार और किस रूप में करता है। नाटक में यह समस्या और भी जटिल हो जाती है। अभिनय का एक नवीन तत्व इस जटिलता का कारण है। नाटक को सम्मिलित करके कला और काव्य की अनुभूति की चार कोटियाँ हैं। सबसे पहली कोटि जीवन की रसानुभूति है जिसके आश्रय नाटक और काव्य के मौलिक और वास्तविक पात्र हैं। दूसरी कोटि इस अनुभूति का कवि के द्वारा अपनी चेतना में अनुभावन है। इस अनुभावन के बिना कवि अथवा कलाकार उसका चित्रण नहीं कर सकता। तीसरी कोटि नाटक की विशेषता है। नाटक में अभिनेता वास्तविक पात्र का रूप धारण करके उनके व्यवहार और भावों का अनुकरण करता है। चौथी कोटि सामाजिकों का रसास्वादन है। वे नाटक के दर्शन और काव्य के पाठ में रस-लाभ करते हैं। ये चारों व्यक्ति भिन्न हैं, किन्तु इनकी अनुभूति का आधार एक ही है। चार भिन्न भूमियों में स्थित व्यक्तियों में समान रसानुभूति का स्फुरण किस रूप में और किस प्रकार होता है, कला और काव्य का यही प्रमुख प्रश्न है।

भारतीय काव्य-शास्त्र में कवि को स्रष्टा माना गया है। किन्तु जिन पात्रों के जीवन व्यवहार और अनुभव का अंकन वह अपनी रचना में करता है, उनके साथ कवि के भाव सम्बन्ध की प्रथम कोटि का स्पष्ट विवेचन भारतीय काव्य-शास्त्र में नहीं मिलता। भारतीय साहित्य-शास्त्र में काव्य की परिभाषायें मुख्यतः काव्य के स्वरूप को लेकर ही की गई हैं। जिन आचार्यों ने कवि-कर्म के महत्वों का संकेत भी किया है, उन्होंने भी कवि की सृजनात्मक शक्ति को ही महत्व दिया है, रचना के उपादानों के साथ कवि के सम्बन्ध का निर्देश उनमें भी नहीं मिलता। किन्तु इसके विपरीत मूल पात्रों के साथ अभिनेता तथा दर्शक और पाठक के सम्बन्ध का विवेचन भारतीय काव्य-शास्त्र में बड़े ही विशद रूप में मिलता है। कलात्मक अनुभूति को व्यक्तिनिष्ठ मानने के कारण सामाजिक समानुभूति का मार्ग इन आचार्यों को दिखाई नहीं दिया। अतः उनकी व्याख्यायें अनुभूति की व्यक्तिनिष्ठता के आधार पर ही काव्य के रसानुभव की संगति सिद्ध करने के प्रयास हैं। ऐसी स्थिति में

तद्रूपता अथवा स्थानापन्नता के अर्थ में व्यक्तित्वों का तादात्म्य ही एक मात्र मार्ग प्रतीत होता है। सम्भवत: कवि अपने को पात्रों के साथ तद्रूप करके उनकी भावनाओं का अनुभावन तथा अंकन करता है। अभिनेता भी इसी तद्रूप भाव से उनका अभिनय करता है। दर्शक और पाठक भी तद्रूप भाव से ही नाटक अथवा काव्य का रसास्वादन करते हैं।

किन्तु व्यक्तित्वों की तद्रूपता में मनोवैज्ञानिक असंगति के अतिरिक्त अन्य अनेक आपत्तियाँ उपस्थित हो जाती हैं। मनोवैज्ञानिक आपत्ति की चर्चा कलानुभूति और व्यक्तिनिष्ठ मानने वाले भारतीय अथवा पश्चिमीय किसी भी आचार्य ने संभवतः नहीं की। मनोवैज्ञानिक तर्क की दृष्टि से यह कहना होगा कि यदि व्यक्तित्व ही अनुभूति का अधिष्ठान है तो अनुभूति के लिए व्यक्तित्वों की तद्रूपता संभव नहीं हो सकती। अपने केन्द्रों में सीमित इकाइयाँ एक दूसरे की स्थानापन्न नहीं हो सकती। व्यक्तिवाद एक प्रकार का मनोवैज्ञानिक परमाणुवाद है। प्रकृति के क्षेत्र की भांति व्यक्तित्व की इकाइयाँ भी एक दूसरे से बहिर्गत हैं; अत: वे एक दूसरे की स्थानापन्न अथवा एक दूसरे के साथ तद्रूप नही हो सकती। कल्पना के द्वारा यदि कवि, अभिनेता अथवा पाठक इसे सम्भव बनाने का प्रयत्न करता है तो यह एक असाधारण परिस्थिति में पैदा होने वाला अल्पकालिक भ्रम है। वस्तुतः इस भ्रम में भी वह अपने व्यक्तित्व में ही आरूढ़ रहता है। तन्मयता की अवस्था एक क्षणिक और काल्पनिक भ्रम है। अपनी अनुभूति के आधार पर साम्य के द्वारा दूसरे की अनुभूति का जो अनुभावन किया जाता है वह वास्तविक परानुभूति का अनुभावन नहीं है वरन् उसके साम्य की एक काल्पनिक सृष्टि है। सारूप्य मुक्ति के साथ साम्य मुक्ति के भेद के समान पात्रों की वास्तविक अनुभूति और दूसरे के द्वारा उनके अनुभावन में अन्तर है। यह अन्तर तद्रूपता के भ्रम को खंडित करता है। सत्य यह है कि व्यक्तित्वों की तद्रूपता मनोवैज्ञानिक दृष्टि से असंभव है। वस्तुत: व्यक्तित्वों में एक विचित्र प्रकार का संबंध है जो सीमित व्यक्तिवाद और तद्रूपता दोनों से भिन्न है। इसे हम 'समात्मभाव' कह सकते हैं। जिसमें व्यवहार और विचार के लिए व्यक्तित्वों की धुरियाँ बनी रहती हैं, किन्तु उनकी अनुभूतियों के क्षितिज मिलते रहते हैं। आकाश और प्रकाश की भांति हम एक दूसरे के अनुभवों में भाग लेते हैं। व्यक्तित्व का मर्म चिन्मय है। चेतना के क्षेत्र में प्राकृतिक परिमाणुवाद के नियम कठोरता से लागू नहीं होते।

भारतीय काव्य-शास्त्र में अनुभूति को सीमित अर्थ में व्यक्तिनिष्ठ मानने के कारण अनेक समस्यायें पैदा हुई और इन समस्याओं के दुरूह समाधान किये गये। व्यक्तित्व के सिद्धान्त को मानकर एकबार अभिनेता और दर्शक के मूल पात्रों के साथ तद्रूप होने की कल्पना की गई। धार्मिक कथानकों के प्रसंग में इस तद्रूप भाव में पातक की आशंका प्रकट हुई। सामाजिक कथानकों के प्रसंग में भी यह पातक की संभावना हमारी दृष्टि में समानरूप से उपस्थित होती है। इसके अतिरिक्त मनोविज्ञान के तर्क इस तद्रूपता का खंडन करते हैं। हम अभिनय को वास्तविक घटना नहीं समझ लेते और न हम अपने व्यक्तित्व को भूलकर पात्रों के समान व्यवहार अथवा अनुभव करने लगते हैं। अभिनेता के संबंध में भी यही सत्य है। पात्रों का अनुकरण करते हुए भी अभिनेता अपने व्यक्तित्व को भूल नहीं जाता। अपने व्यक्तित्व की धुरी में स्थित्त रहकर ही वह अभिनेय पात्रों के चरित्रों के क्षितिजों का विक्षेप करता है। इस विक्षेप की सफलता ही उसका कौशल है। इस विक्षेप के कौशल का मूल हमारे समात्मभाव की वही क्षमता है जिसके द्वारा हम दूसरों के अनुभवों में भाग लेते हैं। व्यक्तित्वों की तद्रूपता की उक्त धार्मिक और मनोवैज्ञानिक आपत्तियों का समाधान करने के लिए काव्य शास्त्र में साधारणीकरण के सिद्धान्त का उदय हुआ। साधारणीकरण बुद्धि का धर्म है। बुद्धि का आधार सत्गुण में है। इसके विपरीत रागात्मकता व्यक्तित्व का विशेष लक्षण है। रजोगुण राग का आधार है। साधारणीकरण और व्यक्तिवाद के दोनों पक्ष मनुष्य के व्यक्तित्व के इन दो प्रमुख तत्वों का प्रत्याहार करके एकांगी भाव से उन पर आश्रित हैं। आश्चर्य की बात है कि एकांगी व्यक्तिवाद पर आश्रित होते हुए भी भारतीय काव्य शास्त्र ने साधारणीकरण के विपरीत मत का प्रतिपादन किया है। काव्य-शास्त्र की मान्यता में अन्तर्निहित तथा मनोविज्ञान से सम्मत व्यक्तिवाद के आधार पर साधारणीकरण अनुभव द्वारा असिद्ध है। वस्तुतः मनुष्य के व्यक्तित्व में सत्वगुण और रजोगुण दोनों का समवाय है। इसी कारण अहंकार की धुरी पर जीवन की परिक्रमा करते हुए भी व्यक्तित्व की पृथ्वी साधारणीकरण के क्षितिजों का भी स्पर्श करती है। तमः प्रधान देह की धरती के अंचल में सत्य का आलोक और रजस् का राग एक अद्भूत रूप में समाहित है। इस समाधान के द्वारा ही व्यक्तित्व की पृथ्वी के पलक साधारणीकरण के आकाश के क्षितिजों का स्पर्श करते हैं। यही समाधान क्षितिजों के पलकों का सजल और रंगीन स्वप्न बनकर जीवन और काव्य में स्नेह और सौन्दर्य की सृष्टि करता है।

वस्तुतः साधारणीकरण के क्षितिज की छाया हमारे समस्त प्रत्यक्षों और अनुभवों में रहती है। इसी साधारणीकरण के आधार पर साहित्य, विज्ञान, दर्शन और व्यवहार में सामाजिक संगति पैदा होती है। इसके बिना हमारा समस्त जीवन अहंभाव के विन्दुओं में सीमित रह जायगा। हमारा जगत लाइब्नीज के जगत की भांति वातायन-विहीन चिद्-बिन्दुओं का जगत बन जायेगा। पूर्णतः संबंध-रहित अनेकता इसका रूप होगी। इस अनेकता में किसी परमेश्वर द्वारा सन्निहित संगति का कोई आत्मिक प्रयोजन न होगा। किन्तु अनेकता का यह रूप हमारे वास्तविक अनुभव और व्यवहार से असिद्ध है। चेतना प्रकृति के परिच्छेद, बहिष्करण आदि नियमों का पालन करने के लिए विवश नहीं है वह इन नियमों की ज्ञाता होने के कारण ही इनसे अतीत है। प्रकृति की परस्पर बहिष्कारमूलक अनेकता तथा चेतना की पूर्ण एकता के बीच में हमारे लौकिक व्यवहार और सांस्कृतिक अनुशीलन का समस्त क्षेत्र है। प्रकृति की परस्पर बहिष्कारमूलक वृत्ति व्यक्ति की चेतना को अहंकार के बिन्दु में केन्द्रित करती है, किन्तु इस बिन्दु की परिधि में चेतना की व्यापकता का असीम सागर उमड़ता है। चेतना की छाया पाकर प्राकृतिक इन्द्रियाँ भी दूरगामिनी अथवा दूर ग्रहिणी बन गई हैं। मन और कल्पना की गति तो पूर्णतः स्वच्छन्द है। बुद्धि में प्रकृति और चेतना दोनों के लक्षणों का संगम है। वह एक ओर विश्लेषण के द्वारा परिच्छेदों का विधान करती है, दूसरी ओर साधारणीकरण की वृत्ति द्वारा परिच्छेदों की अनेकरूपता में एकरूपता का सूत्रपात्र करती है। यह ठीक है कि यह एकता एक प्रत्याहार है। किन्तु वास्तविक अनुभव और व्यवहार में बुद्धि के सहयोग से ही हमें इस एकता का सजीव और सम्पन्न रूप प्राप्त होता है। सजीव और संपन्न होने के कारण यह एकता प्रत्यक्ष की ओर विचार की इकाइयों की भांति विविक्तता का एकान्त नहीं है। हम इसे अनेक चिद्बिन्दुओं का समात्मभाव कह सकते हैं। यह समात्मभाव ही कला और काव्य का मूल है। इसी के द्वारा हम दूसरों के अनुभव में भाग लेते हैं। प्रेम और सौन्दर्य के अनुभव तथा कला और काव्य की सृष्टि इसी पर आश्रित है। यह समात्मभाव न प्राकृतिक व्यक्तिवाद है और न बौद्धिक साधारणीकरण, जिसमें व्यक्ति का विलय हो जाता है। प्रेम और शृङ्गार तथा अन्य आत्मीय संबंधों में हमें सजीव और साक्षात् अनुभव होता है।

आश्चर्य की बात है कि भारतीय काव्य-शास्त्र के आचार्यों ने एक ओर मनोवैज्ञानिक व्यक्तिवाद को अपने रस सिद्धान्त का आधार बनाया और दूसरी

और साधारणीकरण के पूर्णतः बौद्धिक और विपरीत सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। व्यक्तिवाद के ध्रुव से एकदम कूदकर वे सामान्यता के दूसरे ध्रुव पर पहुँच गये। इस छलांग के कारण वे जीवन और काव्य के वास्तविक अनुभव और व्यवहार की भूमि का अनुभव नहीं कर सके। जीवन और काव्य का वास्तविक सत्य काव्य-शास्त्र की इस गति के बिल्कुल विपरीत है। उसमें व्यक्तित्व की भूमिका में बौद्धिक साधारणीकरण नहीं होता वरन् साधारणीकरण की सामान्य और अलक्षित भूमिका में विशेषीकरण होता है। किन्तु यह विशेषीकरण प्रत्यक्ष और बुद्धि के प्रत्याहार की भाँति वस्तुओं अथवा व्यक्तियों का परस्पर प्रथक्करण अथवा बहिष्कार नहीं है वरन् उनकी परस्पर संगति और उनका आन्तरिक समात्मभाव है। इस भाव को स्पष्ट करने के लिए डॉक्टर आत्रेय के द्वारा दिया हुआ समुद्र के द्वीपों का उदाहरण सबसे उपयुक्त और उत्तम है। वे पृथक होकर भी आन्तरिक सम्बन्ध से एक होते हैं। द्वीपों के जड़ उदाहरण का सजीव रूप हमें मानवीय सम्बन्धों की आन्तरिक एकात्मता से मिलता है।

भारतीय काव्य-शास्त्र की भाँति पश्चिमी सौन्दर्य शास्त्र के कुछ प्रमुख सिद्धान्तों में भी व्यक्तिवाद का ही आधार रहा है। प्रायः सभी आचार्य यही मानते हैं कि सौन्दर्य के सृजन में कलाकार अपने विषय से एकाकार हो जाता है। यह तन्मयता ही कलात्मक अनुभूति का मूल स्वरूप है। लिप्स ने इसे समानुभूति का नाम दिया है। क्रोचे ने इसे सामान्यतः अनुभूति कहा है। दोनों ही कलाकार अनुभूति के साथ पूर्ण एकता स्थापित करते हैं। एकात्मभाव को मानते हुए भी दोनों मान्यताओं का आधार व्यक्तिवाद है। उसकी अनुभूति वेदान्त के ब्रह्म की भाँति अपनी निरपेक्ष सत्ता के आध्यात्मिक तत्व से रूपों का सृजन करती है। इस सृजन को क्रोचे ने अभिव्यक्ति की संज्ञा दी है। अनुभूति और अभिव्यक्ति को उन्होंने एकाकार माना है। उनके अनुयायी कैरिट ने इस एकीकरण पर आपत्ति की है। किन्तु कला के आधुनिक क्षेत्र में क्रोचे का मत बड़ा ही प्रभावशाली रहा है। ज्ञात नहीं कि ऐसी शुद्ध अनुभूति की व्यक्तिनिष्ठता कैसे मान्य हो सकी। अनुभूति के जिस स्वरूप को क्रोचे सत्य और सुन्दर मानते हैं उसमें व्यक्तिमूलकता का कोई लक्षण शेष नहीं रह जाता। वह वेदान्त के ब्रह्म के समान ही निर्विशेष, सामान्य और अनन्त है। यह अभिव्यक्ति पूर्णतः आन्तरिक है और इस अभिव्यक्ति के रूप आध्यात्मिक तथा अनुभूति की आत्मगत सृष्टि है। क्रोचे के अनुसार बाह्य जगत और कला की बाह्य अभिव्यक्ति दोनों का महत्व गौण है। वे उपचार

मात्र हैं उनका स्थान वेदान्त की माया के समान है। ऐसी अवस्था में कला और काव्य की बाह्य सृष्टि का महत्व बहुत कम रह जाता है। वह वास्तविक सौन्दर्य का वास्तविक और उपयुक्त माध्यम नहीं है। व्यक्ति की अनुभूति में केन्द्रित होने के कारण सौन्दर्य की भावना के संवहन का कोई मार्ग नहीं है। सौन्दर्य एकान्त अनुभूति है। वह सामाजिक समात्मभाव की विभूति नहीं।

कौलिंगवुड भी क्रोचे के अनुयायी हैं। उनके कला-सिद्धान्त की दार्शनिक भूमिका भी क्रोचे के समान हीगल का अध्यात्मवाद है। उन्होंने क्रोचे की अनुभूति के लिए 'कल्पना' पद का प्रयोग किया है, किन्तु अनेक स्थानों पर कला, क्रीड़ा, कल्पना, सौन्दर्य आदि का समानार्थ पदों के रूप में प्रयोग भ्रांति उत्पन्न कर देता है। कौलिंगवुड की कल्पना का रूप बहुत कुछ क्रोचे की अनुभूति के समान ही प्रतीत होता है। कल्पना में चेतना की सक्रियता और रचनात्मकता की भावना अधिक स्पष्ट है। किन्तु सिद्धान्ततः क्रोचे की अनुभूति भी सक्रिय और रचनात्मक है। अतः अनुभूति और कल्पना में कोई मौलिक भेद नहीं है। अनुभूति चेतना की मौलिक अवस्था है जिसमें वह स्वयं अपने विषयों का सृजन करती है। इस प्रकार क्रोचे ने कलात्मक अनुभूति के मौलिक रूप की स्थापना की है। कौलिंगवुड की कल्पना चेतना का वह व्यापार है, जिसके द्वारा वह बाह्य विषयों का अनुभावन करती है। किन्तु इस अनुभावन में सौन्दर्य का उदय तभी होता है जब कल्पना के द्वारा चेतना विषयों का आत्मसृष्टि के रूप में अनुभावन करती है। अतः यह क्रोचे की अनुभूति की ही अवस्था है। बाह्य विषयों के सम्बन्ध का प्रसंग होने के कारण व्यवहार में हम सौन्दर्यानुभूति की कल्पना का फल मान सकते हैं, किंतु तत्यतः कौलिंगवुड की कल्पना क्रोचे की अनुभूति ही है। उसका रचनात्मक व्यापार भी अन्ततः एक आन्तरिक अभिव्यक्ति ही है। केवल इतना अन्तर है कि कल्पना के अनुभावन धर्म के द्वारा कौलिंगवुड उदात्त और असुन्दर की व्याख्या अधिक सफलता पूर्वक कर सके हैं। उनके अनुसार उदात्त और असुन्दर का सौन्दर्य के साथ कोई जातिगत भेद नहीं है। वे सौन्दर्य की वे कोटियाँ हैं, जिनमें कल्पना के अनुभावन का व्यापार पूर्ण नहीं हो पाता। अतः भेद और विषमता के कारण वे उदात्त और असुन्दर प्रतीत होते हैं। कल्पना का अनुभावन पूर्ण होने पर वे ही सुन्दर बन जाते हैं। अतः वे कला के अपूर्ण रूप हैं। कला का पूर्ण रूप सुन्दरम् है जो कल्पना की पूर्णता में उदित होता है। कौलिंगवुड ने कल्पना के आश्रय और स्वरूप की व्यक्ति-

निष्ठता अथवा सामान्यता को स्पष्ट नहीं किया है। किन्तु क्रोचे के समान कलाकार के व्यक्ति को कलाविवेचन का केन्द्र मानने के कारण उनकी धारणा का आधार भी क्रोचे के समान ही व्यक्तिगत है। क्रोचे के समान उनके मत में भी व्यक्तित्व के विशेषक न स्पष्ट हैं और न सम्भव हैं। ये हीगल के अध्यात्मवाद पर आश्रित सौन्दर्य शास्त्र की स्वाभाविक कठिनाइयाँ हैं। अनुभूति अथवा कल्पना की केन्द्रीयता में तन्मय रहने के कारण क्रोचे और कौलिंगवुड दोनों के मत में सौन्दर्यानुभूति के विभाजन, सम्वहन और समात्मभाव के आनन्द के लिए अवकाश नही है।

लिप्स का सहानुभूति का सिद्धान्त स्पष्ट रूप से मनोवैज्ञानिक और व्यक्तिवादी है। उसमें किसी अध्यात्मवाद का आधार अथवा आग्रह नहीं है। किसी सीमा तक यह सहानुभूति हमारे सामान्य व्यवहार का एक साधारण तथ्य है। किसी वस्तु अथवा व्यक्ति में हमारी रुचि तीव्र होती है जो हम प्रायः इनके साथ अपने को तद्रूप कर देते हैं, तथा उसी के समान अनुभव और व्यवहार करने लगते हैं। मनोविज्ञान में इसके अनेक उदाहरण दिये जाते हैं। वुडवर्थ ने अपने ग्रन्थ में खेल का उदाहरण और चित्र दिया है। खेल में खिलाड़ियों के साथ दर्शकों की ऐसी तद्रुपता जाती है कि वे भी उनके साथ खेल में भाग लेने लगते हैं। भाव और क्रिया की तद्रूपता का प्रमाण यह है कि दर्शक भी खिलाड़ियों के समान उत्साह तथा आवेश का अनुभव करते हैं तथा व्यवहारिक रूप में खिलाड़ियों के अनुरूप कियाओं का प्रदर्शन करते हैं। उनकी मानसिक और आंगिक अवस्था खिलाड़ियों के समान होती है। रस्सा-कशी में दूर खड़े हुए दर्शक भी 'सचमुच' जोर लगाते हैं। गांव में जो छप्पर उठाया जाता है, तो उसमें दूर खड़े हुए दर्शक भी अपने शरीर और मन का जोर लगाते हैं। जीवन का यह साधारण सत्य सहानुभूति और अनुकरण के तुल्य है। सहानुभूति और अनुकरण दोनों की ऐसी क्रियायें हैं, जो भेदमूलक हैं तथा मूल क्रिया के बाद होती हैं। मूल क्रिया वास्तविक पात्र का कर्म है, उसके साथ कोई दु.खद घटना होती है तो हम उसके बाद उसके साथ सहानुभूति प्रकट करते हैं। अधिक से अधिक हम घटनाकाल में साथ ही सहानुभूति प्रकट कर सकते हैं। घटना के पूर्व सहानुभूति का प्रश्न ही असंगत है। दूसरे हम सहानुभूति में दूसरे व्यक्ति के साथ तद्रूप नहीं हो जाते और न उसके समान व्यवहार करते हैं। हम रोने वाले के साथ स्वयं नहीं रोते, वरन् उसे समझा बुझाकर सांत्वना देते हैं। सहानुभूति की इस क्रिया में हम अपने को दूसरे

से भिन्न मानकर ही प्रवृत्त होते हैं। इसी प्रकार अनुकरण भी समान काल में और तद्रूप भाव से नहीं होता। अनुकरण तो स्पष्टतः मूल क्रिया के बाद होने वाली क्रिया है। मूल कर्त्ता से हम अपने को भिन्न मानकर उत्तरकाल में उसकी क्रिया का अनुकरण करते हैं। यदि सहानुभूति समानकाल में सम्भव है, तो अनुकरण बाद में होता है और दोनों में मूल कर्त्ता और उपकर्त्ता में भेद है। उसके विपरीत समानुभूति में तद्रूपता का भाव होता है तथा वह मूल क्रिया के पूर्व ही सम्पन्न हो जाती है। अनुकरण से भेद करने के लिए बुडवर्थ ने समानुभूति की पूर्ववर्तिता पर जोर दिया है। किन्तु सम्भवतः कला के रसास्वादन में इसका प्रतिपादन करने वाले तद्रूपता के तत्व को मुख्य मानते हैं।

कला, काव्य और साहित्य के रसास्वादन में किसी सीमा तक यह समानुभूति का सिद्धान्त सत्य है। उपन्यासों तथा नाटकों में प्रायः पाठक उनके नायकों के साथ तद्रूपता के भाव से ही उन कृतियों में रुचि लेते हैं। भारतीय काव्य-शास्त्र में भी नाटक के दर्शक के रसास्वादन के सम्बन्ध में इसी प्रकार के मत की स्थापना की गई थी। यद्यपि उसमें कुछ आपत्तियाँ उपस्थित होने के कारण साधारणीकरण आदि के समाधान अवश्य हुए। यह सहानुभूति कल्पना के द्वारा होती है। व्यक्तित्व और सहानुभूति की वास्तविक तद्रूपता असम्भव है। किन्तु कल्पना की शक्ति अपार है। सृजनात्मक होने के कारण वह वास्तविक के अतिरिक्त अन्य अनेक भावों का सृजन कर सकती है। तद्रूपता उनमें से ही एक भाव है। किसी अंश में यह साहित्य के रसास्वादन का ही नहीं, जीवन का एक साधारण सत्य है। किन्तु संभवतः इस तद्रपता में पूर्ण एकता नहीं होती। हम अपने व्यक्तित्व को भूल नहीं जाते। यदि यह तद्रूपता पूर्ण होगी, तो इसका रूप एक क्षणिक भ्रम होगा जो शीघ्र ही नष्ट हो जावेगा। ऐसा क्षणिक भ्रम साहित्य के स्थायी मूल्य और उसमें हमारी स्थायी रुचि का आधार नहीं हो सकता। समानुभूति की तद्रूपता से अधिक व्यापक और स्थायी हमारी चेतना का एक दूसरा भाव है, जिसे हम समात्मभाव कह सकते हैं। समात्मभाव में सामान्यतः अपने व्यक्तित्व में भिन्न रहते हुए भी दूसरों के अनुभव में भाग लेते हैं। वस्तुतः यही समात्मभाव कला और काव्य के सौन्दर्य तथा रस का मूल है। यदि हम समानुभूति के सिद्धान्त को सत्य भी मान लें तो भी केवल समानुभूति के आधार पर कला और काव्य के सौन्दर्य की समुचित व्याख्या नहीं हो सकती। समानुभूति व्यक्तित्वों की तद्रूपता है। न अपने मूल रूप में और न अपनी

तद्रूपता में केवल व्यक्तित्व कला के सौन्दर्य का आधार है। व्यक्तित्वों के समात्मभाव में ही कला का सौन्दर्य उदय होता है। समानुभूति की तद्रूपता की अवस्था में भी सामान्य जीवन की भाँति हमारा व्यवहार एकान्त नहीं होता। हम दूसरे व्यक्तित्वों के साथ समात्मभाव से एक दूसरे के अनुभव में भाग लेते हैं। नाटक, उपन्यास आदि में नायक के साथ तद्रूपता के द्वारा हम इसी समात्मभाव का लाभ करते हैं। किन्तु यह आवश्यक नहीं है और कला एवं काव्य के रसास्वादन की सभी परिस्थितियों में चरितार्थ नहीं होता। इस तद्रूपता के बिना अपने व्यक्तित्व के द्वारा भी हम इसकी प्राप्ति कर सकते हैं।

केवल व्यक्तित्व की सीमा में प्राकृतिक क्रियाओं और अनुभवों का सुख तो सम्भव है किन्तु साहित्यिक रस और सांस्कृतिक आनन्द की व्याख्या व्यक्तित्व की सीमा में नहीं हो सकती। समात्मभाव के द्वारा एक दूसरे के अनुभव के भागी बनकर ही हम साहित्य और संस्कृति के अनुरागी बनते हैं। सीमित अर्थ में व्यक्तित्व को मानकर जीवन के प्राकृतिक धर्म के अतिरिक्त और कुछ शेष नहीं रह जाता। एक खेदजनक सत्य यह है कि साहित्य में भी प्राकृतिक धर्मों का आधार बहुत है। इसलिए समानुभूति से सूचित व्यक्तित्व की तद्रूपता के द्वारा हम अधिकांश साहित्य का रसास्वादन करते हैं। नाटक अथवा उपन्यास के नायक बनकर हम समानुभूति के रूप में अनेक साहसपूर्ण कृत्य करते हैं तथा प्रेम, प्रशंसा, सफलता आदि के गौरव प्राप्त करते हैं। किन्तु प्राकृतिक धर्मों की गति प्रेयमुखी है। प्रकृति में जो अप्रिय है उसकी ओर से हम स्वभावतः विमुख होते हैं। यह कहा जा सकता है कि यह विमुखता भी काल्पनिक तद्रूपता के द्वारा ही होती है। किन्तु वस्तुतः यह दूसरे व्यक्तित्व के साथ तद्रूपता नहीं है वरन् यह अपने ही पूर्व व्यक्तित्व के साथ तद्रूपता है। इसका आधार अपने ही पूर्व अनुभव की स्मृति है। इस अनुभव की सीमा के बाहर हमारे प्राकृतिक व्यवहार की विमुखता साम्य अथवा अनुमान के द्वारा होती है। वस्तुतः जिसे समानुभूति कहा जाता है, वह प्रायः पूर्वानुकृति है। उत्सुकता और उत्साह में हम दूसरों के अनुकरण के लिए व्यवहार के एक आदर्श का रूप प्रस्तुत करते हैं अथवा उन्हें अपने भाव और क्रिया का सहयोग देते हैं। खेल की समानुभूति में तो यह अधिक सत्य प्रतीत होता है। खेल के अतिरिक्त जीवन अथवा साहित्य में अन्य सभी क्षेत्रों में समानुभूति को सिद्ध करना कठिन है। नीचों, दुष्टों, आततायियों के व्यवहार के साथ हमारी सामान्य समानुभूति मान्य नहीं है। आपत्ति और अतिचार की अन्य अनेक

ऐसी स्थितियाँ हैं जिनमें समानुभूति की अपेक्षा हम अपने को अलग समझने में अधिक गौरव मानते हैं। खेल में जिस वर्ग के साथ हमारी सहानुभूति है, उसके साथ समानुभूति भी हो सकती है किन्तु दूसरे वर्ग के कौशल का रसास्वादन हम किस प्रकार करते हैं। साहित्य के रसानुराग तथा सामान्य व्यवहार के प्रेम और सत्भाव में तद्रूपता की अपेक्षा समात्मभाव अधिक रहता है। इस समात्वभाव में व्यक्तित्व की तद्रूपता का तो कोई प्रश्न ही नहीं है; अनुभूति की एकरूपता भी आवश्यक नहीं है। समात्मभाव का अभिप्राय केवल दूसरों की अनुभूति में भाग लेना है। उसे अपनी अनुभूति बनाने का अर्थ तद्रूपता नहीं है। वह समात्मभाव व्यक्तित्व के सामाजिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध तथा आनन्द का मूल है। प्रकृति, विज्ञान, गणित और तर्क के नियमों की सार्वभौमिकता का आग्रह छोड़कर ही हम मानवीय चेतना और संस्कृति के इस सारभूत सिद्धान्त का मर्म समझ सकते हैं।

यही समात्मभाव कला और काव्य के रस और सौन्दर्य का मूल है। यही हमारे सामाजिक व्यवहार में स्नेह, सद्भाव और आनन्द का सूत्र है। अभिव्यक्ति और कल्पना के अतिरिक्त व्यवहारिक जीवन और कला में कोई विशेष अन्तर नहीं है। यह अभिव्यक्ति और कल्पना भी सामान्य-जीवन में पर्याप्त मात्रा में मिलती है। कलाकार और कवि में इसका विशेष उत्कर्ष होता है। यही उनकी विशेषता है। कल्पना इस समात्मभाव के विस्तार और तीव्रता की मानसिक शक्ति है। अभिव्यक्ति उसके सम्प्रेषण का माध्यम है। यदि क्रोचे की मान्यता के अनुरूप कल्पना और अभिव्यक्ति एक नहीं हैं, तो भी वे एक दूसरे की पूरक और सहयोगी अवश्य हैं। कला और काव्य की उत्कृष्टता इन दोनों की समगति पर निर्भर होती है। जो समात्मभाव कल्पना में सिद्ध होता है, वह अभिव्यक्ति में सार्थक होता है। जीवन में कला और काव्य की रसप्रवाहिणी कल्पना और अभिव्यक्ति के दो कूलों में बहती है, रसप्रवाह की दृष्टि से दोनों कूल उसके आन्तरिक अंग हैं। वस्तुतः अङ्ग नहीं, वे उसके स्वरूप की मर्यादा के लक्षण हैं। सामान्यतः सभी कलाओं में रस का तत्व वर्तमान है। अध्यात्म की भाषा में रस ही ब्रह्म है। संस्कृति की भाषा में रस ही जीवन है और कला की भाषा में रस ही सौन्दर्य है। रस अध्यात्म का सत्य, व्यवहार का शिवम् और कला का सुन्दरम् है। रस ही अध्यात्म, जीवन, संस्कृति और कला की एकता का सूत्र है। कला के अनेक रूपों में यह रस अनेक आकारों में मिलता है। चित्रकला की कृतियाँ रस के सुन्दर सरोवर हैं। संगीत के राग उसके मनोहर उत्स हैं। रस के प्रवाह की धारा काव्य में

श्रौर विशेषतः प्रबन्ध काव्यों में मिलती है। मुक्तक तथा गीतकाव्य रस के उत्स श्रथवा निर्झर हैं। उनमें जीवन की गति श्रौर प्राणों का संगीत है, किन्तु प्रवाह की प्रधानता नहीं है। जीवन में उनका सौन्दर्य श्रौर उनका महत्व है किन्तु जीवन के विशाल क्षेत्र को पवित्र श्रौर पोषित करने वाली कविता की रस भागीरथी गंगा के समान ही जीवन श्रौर संस्कृति की माता है।

कविता की यह रस-भागीरथी सत्व के उत्कर्ष श्रौर साधना के हिमालय के श्रलक्ष्य श्रौर दुर्गम गह्वरों से निकलकर लोक जीवन की भाव-भूमि में प्रवाहित होती है। जीवन की ऊष्मा से सत्व का द्रवण ही इसका उद्गम है। जीवन के स्वास्थ्य श्रौर संस्कार के तीर्थ इसी तट पर बसे हुए हैं। जीवन की गति के समान इसका वेग निरन्तर है। जीवन की गम्भीरता इसके श्रन्तर की गरिमा का रहस्य है। काल की गति के समान ही इसका प्रवाह श्रनन्त है। मनुष्यों के समात्मभाव की सम्भूति में काव्य के रस का उदय होता है। कविता का केवल विषय श्रौर उपयोग ही सामाजिक नहीं है, उसका स्वरूप भी सामाजिक है। कलाकार को एक स्वतंत्र इकाई के रूप में लेकर जिन्होंने कला श्रथवा काव्य के स्वरूप की उसकी कल्पना श्रथवा चेतना की श्रान्तरिक सृष्टि माना है, वे उसके इस सामाजिक स्वरूप की उपेक्षा करते हैं। कविता का समस्त विषय सामाजिक है। इस सामाजिकता में सर्वत्र समात्मभाव न होने पर भी इस स्थिति में कोई श्रन्तर नहीं पड़ता कि यह समात्मभाव ही कला श्रौर काव्य का स्रोत है। समात्मभाव की रहस्यात्मक श्रनुभूति को रूप देने के लिए ही मानव मनुष्य ने श्रभिव्यक्ति की भाषाश्रों का निर्माण किया। इस श्रभिव्यक्ति का मूल स्वरूप श्रान्तरिक ही है श्रौर इस दृष्टि से वह श्रनुभूति के साथ एकाकार है। कला के इस मर्म का उद्घाटन करके क्रोचे ने सौन्दर्य शास्त्र का जो उपकार किया उसके लिए मनुष्य जाति सदा उसकी ऋणी रहेगी। किन्तु यह श्रान्तरिक श्रभिव्यक्ति भी कलाकार की केवल व्यक्तिगत श्रनुभूति नहीं है। व्यक्तित्व के श्रहंभाव श्रौर उसकी इकाई की परिधि इस श्रनुभूति की श्रन्तिम सीमा नहीं है। केवल श्रात्मानुभूति श्रथवा समानुभूति न होकर समात्मभाव इस कलात्मक श्रनुभूति की श्रन्ततम भूमिका है। जिस प्रकार क्रोचे के उद्घाटन के पूर्व शुद्ध श्रनुभूति के मर्म को कला श्रौर काव्य के क्षेत्र में स्पष्टतः न समझा गया था, उसी प्रकार क्रोचे के बाद भी इस शुद्ध श्रनुभूति के पीछे उसके श्राधारभूत सत्य के रूप में निहित समात्मभाव को स्पष्टतः नहीं समझा गया। यह समात्मभाव सम्प्रेषण नहीं है वरन् उसका श्राधार तथा

उसकी सम्भावना एवं प्रेरणा है। किन्तु यह सम्प्रेषण समात्मभाव की सम्भूति का उपचार मात्र नहीं है, जिस प्रकार कला की बाह्य अभिव्यक्ति क्रोचे की कलानुभूति का केवल उपचार है। क्रोचे की अनुभूति और बाह्य अभिव्यक्ति में स्वरूपगत विषमता है। अनुभूति निर्विकल्प समाधि के समान अथवा सविकल्प समाधि की अन्तिम अवस्था के समान तन्मयभाव है। वाह्य अभिव्यक्ति व्यवहार की अनेक विषमताओं से आक्रांत है, किन्तु समात्मभाव की आन्तरिक अनुभूति और सामाजिक सम्प्रेषण में स्वरूपगत साम्य है। वस्तुतः समात्मभाव ही सम्प्रेषण का अन्तर्तम भाव है। समात्मभाव और सम्प्रेषण की यह स्वरूपगत संगति कला और काव्य की बाह्य अभिव्यक्तियों की सार्थकता और उनके महत्व को प्रकाशित करती है।

इस संगति का रहस्य शब्द के स्वरूप और उसकी शक्ति में निहित है। कुछ विद्वानों ने क्रोचे पर कला और भाषा शास्त्र को एक बनाने का आरोप लगाया है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार हीगल पर तत्व शास्त्र और तर्क-शास्त्र के एकीकरण का आरोप लगाया जाता है। यह आरोप सत्य भी हो तो भी क्रोचे का एकीकरण इतना स्फुट और स्पष्ट नहीं है। हीगल के सार्वभौम अध्यात्म तत्व में खोये हुए व्यक्तित्व का उद्धार क्रोचे का एक महान कृत्य था। हीगल के अध्यात्मवाद में आस्था रखते हुए भी क्रोचे ने व्यक्ति की रक्षा का प्रयत्न किया। इस रक्षा के लिए ही उन्होंने अनुभूति को अभिव्यक्ति से एकाकार माना। शुद्ध अनुभूति हीगल के सामान्य आध्यात्मिक तत्व से भिन्न नहीं हैं। दोनों चेतना की निर्विशेष आस्थायें हैं। स्पिनोजा और अद्वैत के ब्रह्म के समान समस्त विशेष उसमें विलीन हो जाते हैं। अतः क्रोचे ने व्यक्ति की विशेषता की रक्षा अभिव्यक्ति में की। अन्तरिक होते हुए भी इस अभिव्यक्ति का रूप व्यक्तिगत है। क्रोचे ने यह भी संकेत किया है कि इस अभिव्यक्ति का रूप भाषा है। यह स्पष्ट है कि आन्तरिक अभित्र्यक्ति का रूप भाषा का बाह्य और मुखर रूप नहीं हो सकता। अतः भाषा का यह रूप भारतीय शब्द दर्शन की मध्यमा अथवा पश्यन्ती वाणी के समान होगा। आश्चर्य की बात है कि अनुभूति को अभिव्यक्ति से तथा अभिव्यक्ति को भाषा के आन्तरिक रूप से एकाकार मानकर भी क्रोचे कलात्मक अनुभूति के समात्मभाव तथा बाह्य अभिव्यक्ति के साथ उसकी संगति के सूत्र का उद्घाटन नहीं कर सके। भारतीय काव्य शास्त्र के आश्चर्य भाषा और शब्द की अलौकिक शक्तियों से अवगत थे। 'शब्द ब्रह्म' की कल्पना में अनुभूति और अभिव्यक्ति की एकात्मकता का मूल आधार उपलब्ध है। किन्तु काव्य शास्त्र के रसवाद में

'व्यक्तिगत अनुभूति का आग्रह' शब्द की प्रेषणीयता और उसके मर्म में अन्तर्निहित समात्मभाव के अवगम में बाधक रहा। इस प्रेषणीयता को न मानना समस्त कला और साहित्य की कृतियों को निष्फल बना देना है। इन कृतियों में प्रेषणीयता को मानने वाली कृतियाँ भी सम्मिलित हैं। इनके मत में जो आत्मघाती आत्म-विरोध है वह इन कृतियों के कर्त्ताओं को स्पष्ट नहीं है। सीमित अर्थ में व्यक्तिवाद का आग्रह वस्तुतः उसका (व्यक्तिवाद का) खंडन है। व्यक्तिवाद का किसी से भी उसके समझने या मानने की आशा करना असंगत है। वस्तुतः सम्प्रेषण हमारे समस्त व्यवहार, कला और साहित्य की साधारण मान्यता है। समात्मभाव की सम्भूति इसका आन्तरिक आधार है।

हमारे व्यक्तित्व की आधार-भूति चेतना का स्वरूप इस समात्मभाव का आधार है। शब्द की अपूर्व शक्ति इस समात्मभाव की अन्तर्भावना से अनुप्राणित होकर सम्प्रेषण की सम्पन्न सम्भावना बन गई है। इस शब्द की सम्पन्न विभूति को प्राप्त करके ही कविता कलाओं की चूड़ामणि है। भारतीय शब्द-दर्शन में शब्द को ब्रह्म माना है। ब्रह्म चिन्मय है। दुरूह होते हुए भी यह सिद्धान्त वाणी के साथ चेतना की एकात्मता तथा इस एकात्मता के आधार पर अभिव्यक्तियों के स्तरों की संभावना का संकेत करता है। जो शब्द के इन दार्शनिक रहस्यों को समझने अथवा मानने में असमर्थ हैं, वे भी शब्द के मुखर रूप में भी उसकी अद्भुत शक्ति का परिचय पा सकते हैं। मुखर शब्द का क्रम एक कालगत परम्परा है। कान्ट ने काल को आन्तरिक प्रत्यक्ष का रूप माना है। इसमें अनुभूति के साथ कला की गहन संगति का संकेत है। अभिव्यक्ति में यह संगति और स्पष्ट हो जाती है। यदि कला अभिव्यक्ति है, तो काल उसका रूप है। शैवदर्शन में 'क' एवं 'ल' दो समान वर्णों से 'कला' और 'काल' दोनों की व्युत्पत्ति है। अभिव्यक्ति ही सौन्दर्य है, अतः 'कल' का अर्थ 'सुन्दर' भी है। 'गति' और 'संख्यान' के अर्थ में भी 'कल' का प्रयोग होता है। गति क्रिया का लक्षण है। अभिव्यक्ति भी चेतना की क्रिया है। संख्यान रूपों का विशेषीकरण है। यह अभिव्यक्ति का बाह्य रूप है। यह बाह्य अभिव्यक्ति भी शिव, शक्ति अथवा ब्रह्म की ही विभूति है। इस अभिव्यक्ति का रूप होने के कारण ही गीता में भगवान ने काल को अपनी विभूति कहा है (कालः कलयतामहम्)।

चित्रकला में दिक्गत रूप को प्रधानता है। यह भी संख्यान का रूप है, अतः इस रूप में भी मौलिक कला-शक्ति की ही अनुभूति है। किन्तु शब्द

का कालक्रम रूप हमारी आन्तरिक सम्वेदना और जीवन की गति के अति निकट है। जीवन और चेतना से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण ही शब्द में समात्मभाव की अभिव्यक्ति और उसके सम्प्रेषण की अद्भुत शक्ति है। यह शक्ति ही कलाओं में कविता की श्रेष्ठता का रहस्य है। अर्थ से अन्वित होकर शब्द की यह शक्ति काव्य और साहित्य की सम्पन्न सृष्टि का आधार बन गई है। अर्थ चिन्मय भाव है। शब्द का ब्रह्म-स्वरूप शब्द और अर्थ की एकात्मकता का संकेत करता है। 'रघुवंश' के मंगलाचरण की भाँति समस्त साहित्य परम्परा शब्द और अर्थ को अभिन्न मानती है। दोनों का सहितभाव काव्य और साहित्य का लक्षण है। अर्थवान् शब्द की सामर्थ्य और शक्ति अपार है। अर्थ से रहित केवल नादमय शब्द में कितनी शक्ति है, इसका प्रमाण संगीत है। संगीत का स्वर भी हमारे मर्म को स्पर्श कर हमारे अन्तर को आन्दोलित कर देता है। भाव से रहित होने पर भी उसमें भाव से विभोर कर देने की शक्ति है। अर्थ अथवा भाव से युक्त होने पर संगीत की शक्ति और भी बढ़ जाती है, फिर भी संगीत में स्वर की प्रधानता रहती है। कविता में भाव की प्रचुरता होते हुए भी संगीत का समन्वय है। स्वर और शब्द के माध्यम से चेतना की भाव-सम्पत्ति प्रेषणीय बनती है। कविता को आत्मा का मुखर संगीत कहना उपयुक्त ही है। मुखर शब्द नश्वर है तथा उसका उत्पादन और ग्रहण सम्वेदना पर आश्रित है। कविता में चिन्मय भाव की प्रचुरता उसे प्रवाह की परम्परा का स्थायित्व देती है। साथ ही उसमें संगीत के स्वर, नृत्य की गति और चित्रकला के रूप का समन्वय है। इसी सम्पन्नता के कारण कविता कलाओं की चूड़ामणि है।

अध्याय ३

काव्य का स्वरूप

काव्य शास्त्रों में रस की विवेचना केवल काव्य को लेकर की गई है। जिन अनेक अर्थों और रूपों में रस का प्रयोग भाषा के व्यवहार में होता है उनका विचार इस विवेचन में आवश्यक नहीं माना गया है। किन्तु भाषा के प्रयोग में रस के अर्थ की व्यापकता अकारण नहीं है। रस के कुछ ऐसे सामान्य लक्षण हैं, जो रस के सभी रूपों में पाये जाते हैं। अनेक रूप और अर्थों में प्रयुक्त रस के इन सामान्य लक्षणों के सूत्र से रस के स्वरूप का अनुसन्धान अधिक सफलतापूर्वक किया जा सकता है। इसी प्रकार काव्य को भी एक व्यापक भूमिका में रखकर उसके स्वरूप और उसमें रस की स्थिति का निर्धारण अधिक सन्तोषजनक रूप से किया जा सकता है। काव्य शास्त्रों में काव्य के केवल वाङ्मय रूप को लेकर काव्य के रूप और रस का विवेचन किया गया है। काव्य का यही प्रसिद्ध रूप भी है। किन्तु 'रस' की भाँति 'काव्य' पद का प्रयोग भी प्रायः एक व्यापक अर्थ में किया जाता है। वैदिक साहित्य में 'कवि' का प्रयोग विधाता के लिये भी हुआ है और सृष्टि को विधाता का काव्य कहा गया है। इस व्यापक अर्थ में काव्य केवल वाङ्मय सृष्टि नहीं, वरन् सौन्दर्य की अन्य अनेक-रूप सृष्टि का वाचक है। अनेक-रूप सौन्दर्य से युक्त विश्व भी एक दिव्य काव्य है। सृष्टि में सौन्दर्य देखने वाले इस विश्व काव्य को अधिक महत्व देते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल प्रकृति के ऐसे ही अनुरागियों में से थे। उन्होंने शब्द काव्य से भी अधिक महत्व इस विश्व काव्य को दिया है (रस मीमांसा पृष्ठ–८)। यह विश्व काव्य भी सौन्दर्य की सृष्टि और अभिव्यक्ति है। यदि हम दूसरे के रचे हुए काव्य का रसास्वादन कर सकते हैं, तो विधाता के इस विश्व काव्य का आनन्द भी ले सकते हैं। काव्य के इस व्यापक रूप की भूमिका में काव्य के इस स्वरूप का निर्धारण उसी प्रकार अधिक सन्तोष जनक हो सकता है जिस प्रकार 'रस' पद के व्यापक प्रयोग की भूमिका में रस के रहस्य का अनुसन्धान अधिक सफलता पूर्वक किया जा सकता है।

इसी प्रयोजन से हमने काव्य के स्वरूप के निर्धारण के लिए काव्य को भी एक व्यापक भूमिका में रखा है। यह भूमिका आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की भूमिका से कुछ भिन्न है। शुक्ल जी ने काव्य और रस के प्रसंग में विश्व-काव्य की चर्चा की है। उनका यह मत बहुत संगत है कि काव्य का रसास्वादन प्रकृति और समाज के साथ हमारे रागात्मक भाव का विस्तार है। शुक्ल जी के इस मत में रस के रहस्य का एक सुन्दर सूत्र है, यद्यपि वे इस सूत्र की अधिक व्याख्या नहीं कर पाये। साथ ही काव्य के रूप की वे कोई ऐसी परिभाषा नहीं दे सके जो विश्व काव्य और शब्द काव्य दोनों पर चरितार्थ होती। हृदय की जिस मुक्त दशा को उन्होंने भाव-योग कहा है और जिसे उन्होंने काव्य का मर्म माना है उसमें वे अहंकार तथा स्वार्थ का अतिक्रमण मानते हैं (रस मीमांसा पृष्ठ ६, १८)। किन्तु एक ओर उनके भावयोग का रूप अध्यात्म के निकट पहुँचता है और दूसरी ओर समस्त प्राचीन काव्य परंपरा के अनुकूल वे भी व्यक्ति को ही रस का आश्रय मानते हैं। वस्तुत: काव्य शास्त्र में आश्रय विभाव की स्पष्ट स्थापना का श्रेय आचार्य शुक्ल को ही है। किन्तु प्राचीन परम्परा से अधिक प्रभावित रहने के कारण वे काव्य और रस के स्वरूप का यथोचित निर्धारण नहीं कर सके। आचार्य शुक्ल ने समन्वय का संकेत भी किया है। किन्तु यह समन्वय भी उनकी दृष्टि में आश्रयभूत व्यक्ति का शेष सृष्टि के साथ समन्वय है। व्यक्तित्वों के जिस उदार और गंभीर साम्य को हमने समात्मभाव कहा है और जिसे हमने रस का मर्म माना है उसकी कल्पना शुक्लजी अथवा उनके पूर्ववर्त्ती आचार्य नहीं कर सके। पूर्व और पश्चिम के सभी आचार्य व्यक्तित्व की इकाई को ही कला अथवा काव्य का आश्रय मानते हैं। इसके विपरीत हमारा मत है कि व्यक्तित्व की इकाई एक अत्यन्त दीन सत्ता है। वह कला और काव्य में प्रकट होने वाली सौन्दर्य एवं आनन्द की अभिवृद्धि का आश्रय नहीं हो सकती। अपनी इकाई के एकान्त में केन्द्रित रहते हुए व्यक्तित्व विश्व की समस्त विभूति को समेट कर भी अधिक सम्पन्न नहीं हो सकता। इतना अवश्य है कि इस विभूति के साथ वह व्यक्तित्व जितना समन्वय प्राप्त कर सकता है उतना ही वह सौन्दर्य के अवगाहन के योग्य बन जाता है। किन्तु इस समन्वय में सौन्दर्य का स्रोत आश्रय की व्यक्ति-निष्ठता नहीं वरन् इसके विपरीत आश्रय का वह भाव है जिसमें समन्वय आश्रयनिष्ठ नहीं वरन् पारस्परिक है। इसी भाव को हमने समात्मभाव कहा है। हमारे मत में यह समात्मभाव ही कला और काव्य के रस का रहस्य है। काव्य के रूप और सौन्दर्य का रहस्य भी इसी समात्मभाव में निहित है। यह समात्मभाव व्यक्तित्व की इकाई के आत्म-

विस्तार और आध्यात्म के कैवल्य दोनों से भिन्न है। यह एक व्यक्ति का शेष सृष्टि के साथ सामंजस्य नहीं वरन् एकाधिकार व्यक्तित्वों का परस्पर साम्य है।

यही समात्मभाव को काव्य के रूप और रस का मूल स्रोत है। काव्य की यह भूमिका शुक्ल जी की भूमिका से भिन्न है। काव्य के रूप और सौन्दर्य के निरूपण के लिये विश्व काव्य की भूमिका में भी काव्य की चर्चा अपेक्षित है। किन्तु विश्व काव्य मनुष्य की कृति नहीं है। वह विधाता की कृति है। उसमें हमें जो सौन्दर्य दिखाई देता है उसके रूप और रहस्य का अनुसन्धान काव्य के रूप को समझने के लिये भी आवश्यक है किन्तु दूसरी ओर सौन्दर्य का मनुष्य कृत रूप काव्य से अधिक व्यापक है। काव्य से अतिरिक्त मनुष्य की यह व्यापक सौन्दर्य-सृष्टि 'कला' कहलाती है। पश्चिमी सौन्दर्य शास्त्र में कला की व्यापक भूमिका में काव्य के स्वरूप का विवेचन बहुत हुआ है। किन्तु पूर्व और पश्चिम दोनों में कला की धारणा भी काव्य के समान ही व्यक्ति-निष्ठ रही है। कला और काव्य के सृजन एवं आस्वादन को पूर्व और पश्चिम के सभी आचार्य एक व्यक्तिगत कर्म अथवा धर्म मानते रहे हैं, यद्यपि कुछ आचार्यों ने शुक्ल जी की भाँति इस व्यक्तित्व में स्वार्थ के अतिक्रमण और रागात्मक भाव के विस्तार को सौन्दर्य के सृजन व आस्वादन के लिये आवश्यक माना है। किन्तु उन सबकी दृष्टि में इस विस्तार और भाव-प्रसार का आश्रय अपनी इकाई में स्थित व्यक्ति ही है।

हमारे मत में इस उदार व्यक्तित्व में नहीं वरन् एकाधिक व्यक्तित्वों के समात्मभाव में कला और काव्य का सौन्दर्य उदित होता है। कलाकार कवि अथवा रसिक की व्यक्ति निष्ठ स्थिति में यह समात्मभाव कल्पना की भावना के द्वारा सम्पन्न होता है। कल्पना अप्रत्यक्ष को भी सजीव और साक्षात् रूप में प्रस्तुत कर सकती है किन्तु जिसका जीवन में साक्षात्कार नहीं है उसे प्रस्तुत करने में कल्पना भी समर्थ नहीं है। जीव की साक्षात् विभूति का विस्तार और उपस्थापन ही कल्पना कर सकती है। समात्मभाव की जीवन्त विभूति सबसे अधिक सम्पन्न रूप में हमें लोक-संस्कृति की परम्परा में मिलती है। लोक काव्य और लोक कला भी लोक संस्कृति के अन्तर्गत है। संस्कृति के सम्बन्ध में भी हमारी धारणा विद्वानों के सामान्य मत से भिन्न है। प्रायः सभी विद्वान धर्म, दर्शन, कला, साहित्य आदि की समष्टि को ही 'संस्कृति' मानते हैं। संस्कृति के इतिहासों में इन्हीं का विवरण मिलता है। संस्कृति

का कोई पृथक् रूप अथवा अस्तित्व नहीं है। प्रायः कला और संस्कृति को एक ही माना जाता है। आजकल समारोहों पर होने वाले नृत्य, गान आदि इसी भ्रम के आधार पर सांस्कृतिक कार्य क्रम कहे जाते हैं। यह ध्यान देने योग्य है कि जिन धर्म, दर्शन कला साहित्य आदि की समष्टि को संस्कृति कहा जाता है वे प्रायः व्यक्ति की इकाई के आश्रय में ही प्रसूत होते हैं। संस्कृति की उक्त धारणा में एक आपत्ति और है कि धर्म, दर्शन, कला आदि के समान विश्वास, विचार और सौन्दर्य जैसे विरोधी आधारों पर आश्रित रचनाएँ संस्कृति के एक सामान्य प्रत्यय के अन्तर्गत कैसे समाहित हो सकती है। इस मत को मानने वालों का कथन है कि ये सब समान रूप से मनुष्य की कृतियां हैं, यही संस्कृति का सामान्य भाव है।' यह संस्कृति की प्रधानतः पश्चिमी धारणा है, क्योंकि इससे भिन्न संस्कृति का कोई सम्पन्न रूप पश्चिम के अल्प इतिहास में उपलब्ध नहीं है। पूर्व में इससे भिन्न और इससे अधिक मौलिक एक प्राचीन संस्कृति का सम्पन्न रूप विद्यमान है फिर भी खेद की बात है कि पूर्वीय विद्वानों ने इस पश्चिमी मत को उसी प्रकार अपना लिया है जिस प्रकार हम सभ्यता के अन्य पश्चिमी रूपों को अपना रहे हैं।

संस्कृति का यह रूप कला, काव्य आदि की व्यक्तिगत रचनायें नहीं वरन् वे स्वतंत्र और सामूहिक रचनायें हैं जिनमें समात्मभाव का साक्षात् और सम्पन्न रूप मिलता है। लोकनृत्य, लोक गीत, लोक पर्व आदि इस संस्कृति की परम्परा के जीवन्त उदाहरण हैं। भारतीय परम्परा में संस्कृति के ये रूप सबसे अधिक सम्पन्न रूप में मिलते हैं और इतिहास के आघात सह कर भी आज तक जीवित हैं। लोक नृत्य और लोक गीत की परम्परा तो नागरिक समाज में कुछ कम हो रही है (ग्रामीण समाज में यह अब भी विद्यमान है)। किन्तु हमारी पर्व संक्रुति समस्त भारतीय समाज के जीवन में आज भी प्रतिदिन नया सौन्दर्य भर रही है। संस्कृति का यह रूप व्यक्ति की इकाई के आश्रय में सम्पन्न नहीं होता वरन् अनेक व्यक्तियों के उस समात्मभाव में सम्पन्न होता है जिसे हमने काव्य और कला का स्रोत माना है। संस्कृति की परम्परा में यह समात्मभाव साक्षात् और सजीव रूप में मिलता है। सभ्यता के विकास में व्यक्तिवाद के बढ़ने पर मनुष्य की कल्पना इस समात्मभाव का अप्रत्यक्ष रूप में विस्तार और सन्निधान करती है। यहीं से उस अभिजात की संक्रुति और कला का जन्म होता है जो व्यक्ति के आश्रय में उदित होती है और जिसे सभी विद्वान संस्कृति और कला का सर्वस्व मानते हैं।

वस्तुतः संस्कृति का मूल और प्राचीनतम् रूप वही है जो हमें लोक-संस्कृति, लोक-कला, लोक-काव्य आदि के रूप में मिलता है और जो साक्षात् समात्मभाव की स्थिति में सम्पन्न होता है। इस साक्षात् समात्मभाव की स्थिति में सम्पन्न होने वाले मानवीय रचना के सभी रूपों को हम 'संस्कृति' कह सकते हैं और इन सब में रूप एवं भाव के समान लक्षरण खोज सकते हैं (जो अभिजात संस्कृति के समस्त रूपों में सम्भव नहीं है)। संस्कृति का यह मौलिक और व्यापक रूप ही मनुष्य की सर्वोत्तम विभूति है। कला और काव्य इसी व्यापक संस्कृति के अंग हैं। भारतीय काव्यशास्त्र से भिन्न कला की व्यापक भूमिका में काव्य का रूप खोजने का जो प्रयत्न पश्चिमी आचार्यों ने किया है वह निस्संदेह काव्य के कुछ रहस्यों को प्रकाशित करने में समर्थ हुआ है। किन्तु कला और काव्य के व्यक्तिनिष्ठ दृष्टिकोण की सीमा इस प्रयत्न की विफलता का कारण रही। साक्षात् समात्मभाव की स्थिति में सम्पन्न होने वाली जीवन्त और व्यापक संस्कृति की भूमिका में कला और काव्य के स्वरूप का अनुसन्धान संभवतः अधिक सफल हो सकता है। कला और काव्य संस्कृति के अंग ही नहीं, वे संस्कृति के रूप भी हैं। संस्कृति के सामान्य लक्षरण उनमें व्याप्त हैं। संस्कृति की इस व्यापक भूमिका में काव्य के स्वरूप का अनुसन्धान हमारा उद्देश्य है।

इन अनुसन्धान के प्रसंग में हमें कला और संस्कृति को साथ-साथ ध्यान में रखना होगा, क्योंकि जहाँ एक ओर कला संस्कृति का एक रूप है वहां दूसरी ओर कला भी एक ऐसा सामान्य लक्षण है जो संस्कृति में भी व्याप्त है।

आजकल कलात्मक प्रदर्शनों को सांस्कृतिक कार्यक्रम कहा जाता है। यह भले ही भ्रम हो, किन्तु कला और संस्कृति में एक निकट और घनिष्ठ सम्बन्ध है। कला सौन्दर्य का सृजन है। सृजनात्मकता कला का मूल लक्षरण है। इसीलिये शैव तंत्रों में ईश्वर की सृजनात्मक शक्ति को 'कला' कहते हैं। शिव के मस्तक की चन्द्रकला इसी शक्ति का प्रतीक है। जिस जीवन्त संस्कृति का संकेत हमने ऊपर किया है, वह भी सृजनात्मक है और इस अर्थ में कलात्मक है। लोक-पर्व, लोक-नृत्य, लोक-काव्य के रूपों में सामाजिक समात्मभाव की स्थिति में सम्पन्न होने पर यह कला संस्कृति के समानार्थक बन जाती है। इस स्थिति में संस्कृति और कला अभिन्न दिखाई देती है। व्यक्तिगत रचना के रूप में प्रकट होने पर ही कला का संस्कृति से भेद स्पष्ट होता

है। यह अभिजात कला व्यक्तियों के द्वारा नव-नव रूपों का सृजन है। इन रूपों के अतिशय में ही कला का सौन्दर्य निहित है। रूप का अतिशय ही हमारे मत में सौन्दर्य की सबसे अधिक व्यापक और सबसे अधिक सन्तोषजनक परिभाषा है। कला इस रूप के अतिशय का सृजन है। अपरोक्ष अथवा परोक्ष किसी प्रकार के समात्मभाव के बिना कला का यह सौन्दर्य प्रकाशित नहीं होता। जीवन्त संस्कृति में भी रूप के अतिशय का सौन्दर्य अभिव्यक्त होता है। संस्कृति में सौन्दर्य की अभिव्यक्ति साक्षात् समात्मभाव की स्थिति में होती है। समात्मभाव रस का स्रोत है। वह आनन्द का मूल उत्स है। रूप के अतिशय से युक्त होने के कारण संस्कृति में कला का भी अन्तर्भाव है किन्तु संस्कृति में समात्मभाव-जनित आनन्द की ही प्रधानता है इसीलिये इस जीवन्त संस्कृति के रूपों में कलात्मक सौन्दर्य नव-नव रूपों का इतना सूक्ष्म विकास नहीं मिलता जितना कि अभिजात कलाओं में मिलता है। यदि भेद करने के लिये हम कला को सौन्दर्य-प्रधान और संस्कृति को आनन्द-प्रधान मानें तो अनुचित न होगा। इतना ध्यान रखना आवश्यक है कि कला और संस्कृति का यह भेद सौन्दर्य और आनन्द की प्रधानता की दृष्टि से ही संगत है अन्यथा दोनों में ही किसी न किसी रूप और परिमाण में रूप के अतिशय सौन्दर्य और समात्मभाव का आनन्द कला और संस्कृति दोनों का आवश्यक तत्व है। लोक-संस्कृति और लोक-कला में तो बहुत अधिक साम्य है। अभिजात कला में समात्मभाव का सन्निधान अल्प और अप्रत्यक्ष होने के कारण नव-नव् रूपों के अतिशय का विस्तार अधिक होता है। इसके विपरीत जीवन्त संस्कृति में सांक्षात् समात्मभाव की विभूति अपरिमित होने के कारण रूप के अतिशय के परिमित रूप ही पर्याप्त होते हैं। अभिव्यक्ति की अपेक्षा समात्मभाव का आनन्द अधिक स्पृहणीय होने के कारण जीवन्त संस्कृति की परम्परा में नवीन रूपों के सृजन को अपेक्षा चिरन्तन रूपों की आराधना अधिक रही है। रूपों की चिरन्तनता इस साक्षात् समात्मभाव का और अधिक विस्तार करती है जो जीवन्त संस्कृति के आनन्द का स्रोत है। समात्मभाव का यह विस्तार आनन्द की अभिवृद्धि करता है।

कला और काव्य के अभिजात एवं व्यक्तिगत रूप इस जीवन्त संस्कृति के अन्तर्गत नहीं हैं। महाभारत, रामायण आदि की भांति कुछ ही रचनायें एक व्यापक समात्मभाव के द्वारा जीवन्त संस्कृति में समाहित हो सकी हैं। किन्तु लोक-कला और लोक-काव्य जीवन्त संस्कृति के प्रवाह की ही तरंग हैं। ये आभिजात कला और आभिजात काव्य से अधिक प्राचीन हैं।

अतः कला और काव्य के सामान्य रूप का निर्धारण इसकी भूमिका में अधिक उचित होगा। कला और काव्य की सामान्य संज्ञाओं का प्रयोग सामान्य अर्थ के आधार पर ही हो सकता है। रस के अनेक रूपों में भी कुछ समान लक्षण मिलते हैं। लोक कला एवं लोक काव्य तथा कला एवं काव्य की व्यक्तिगत कृतियों में भी कुछ सामान्य लक्षण अवश्य मिल सकते हैं। चेतना की सृजनात्मक प्रवृत्ति का प्रकाश इन लक्षणों में सर्वप्रथम है। रूप का अतिशय कला का सामान्य लक्षण है। रूप का अतिशय ही सौन्दर्य है, जिसकी सृष्टि और अभिव्यक्ति को कला कहा जाता है। काव्य कला का वाङ्मय रूप है। जिसे शुक्ल जी ने विश्व काव्य कहा है वह वाङ्मय न होने के कारण काव्य की अपेक्षा कला के अधिक निकट है। वस्तुतः सृष्टि का काव्य कहने पर काव्य कला का पर्याय बन जाता है। विशेष रूप से जिसे हम काव्य कहते हैं वह कला का 'शब्दमय' रूप है। इसीलिये भारतीय काव्य शास्त्र में शब्द और अर्थ के साहित्य को काव्य कहा गया है (शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्)। काव्य के विशेष स्वरूप का निर्धारण हमें काव्य के वाङ्मय रूप के आधार पर ही करना होगा यद्यपि कला संस्कृति की व्यापक भूमिका में यह निर्धारण अधिक संगत और अधिक सन्तोषजनक हो सकेगा।

जीवन और जगत की निसर्ग से प्राप्त व्यवस्था को हम 'प्रकृति' कह सकते हैं। यह प्रकृति मनुष्य की कृति नहीं है, मानवीय विचार में कृतित्व का अनुरोध होने के कारण प्रायः इसे ईश्वर की कृति मानते हैं।

ईश्वर की कृति होने पर ही मनुष्य को वह निसर्गतः प्राप्त होती है। उसकी मौलिक सत्ता और मूल व्यवस्था में मनुष्य का कोई अधिकार नहीं है। इसके विपरीत सभ्यता संस्कृति, कला, काव्य आदि को हम मनुष्य की कृति कह सकते हैं। इन सब के लिये सामान्य रूप से अविवेक पूर्वक सभ्यता एवं संस्कृति पदों का प्रयोग किया गया है। मनुष्य का कृतित्व इन सबका सामान्य लक्षण है। इन सब का उदय और विकास मनुष्य की इच्छा व उसके अध्यवसाय से हुआ है। मनुष्य के इस समग्र कृतित्व को सामान्यतः सभ्यता कहा जा सकता है। बर्बर प्राकृतिक अवस्था से आगे बढ़कर मनुष्य ने जो कुछ किया है वह सब सभ्यता ही है। सभ्यता और संस्कृति के भेद के लिये हम मनुष्य के उस कृतित्व को सभ्यता कह सकते हैं जिसमें प्रकृति की प्रेरणा अधिक है, जिसका सम्बन्ध प्रधानतः जीवन के साधनों से है और जिसका दृष्टिकोण मुख्यतः उपयोगितावादी है। संस्कृति के अन्तर्गत इस कृतित्व के उन रूपों को

ही सम्मिलित करना अधिक उचित है जो मनुष्य के स्वतन्त्र संकल्प से प्रसूत हैं, जिनका संबन्ध जीवन के साध्यों से है और जो प्राकृतिक अर्थ में उपयोगी नहीं है। कला, काव्य आदि इस दृष्टिकोण से संस्कृति के अन्तर्गत है। संस्कृति और कला में भेद करना कठिन है, क्योंकि दोनों का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है और प्रायः दोनों मिले जुले रहते हैं। रूप के अतिशय के अर्थ में सौन्दर्य का सन्निवेश दोनों में रहता है। इस सौन्दर्य को यदि हम कला का विशेषाधिकार मानें तो संस्कृति में कला को आवश्यक तत्व मानना होगा। फिर भाव का अतिशय ही एक ऐसी वस्तु है जो संस्कृति को कला से भिन्न कर सकती है।

जिस प्रकार रूप के अतिशय के अर्थ में सौन्दर्यमयी कला संस्कृति का प्राण है उसी प्रकार कला में भी प्रायः भाव के अतिशय का सन्निधान होता है। किन्तु भाव का वह अतिशय कला में सर्वदा नहीं पाया जाता। चित्र कला की अल्पनायें, नृत्य की भंगिमायें और शुद्ध संगीत के स्वरविधान ऐसे हो सकते हैं जिनमें कोई भाव का अतिशय सन्निहित न हो। अतः भाव का अतिशय कला का सामान्य लक्षण नहीं, यद्यपि इस अतिशय का सन्निधान कला को सम्पन्न बनाता है और प्रायः कलाओं में मिलता है। इसके विपरीत भाव का अतिशय संस्कृति का आवश्यक तत्व है। मूलतः संस्कृति रचना का कोई विशेष रूप नहीं है वरन् जीवन का ही कलात्मक रूप है। जीवन के जिन रूपों में कला संस्कृति का अलंकार बनती है उनमें भाव का अतिशय जीवन्त रूप में वर्तमान रहता है। कला के सौन्दर्यमय रूप उस भाव के अतिशय के निमित्त भर होते हैं। कला के रूपों में तत्व-रूप में सन्निहित होने पर भी भाव का अतिशय जीवन्त रूप में शेष रह जाता है। यह उस अतिशय का भी अतिरेक है। अतएव जहां कला जीवन का एक अंग और रचना का एक रूप है वहां संस्कृति जीवन की साक्षात् परम्परा है। संस्कृति की यह परम्परा समात्म-भाव की भूमि पर सम्पन्न होती है संस्कृति के विभिन्न रूपों में विशेष रूपों में उपलब्ध होने वाले भावों के अतिशय इस समात्मभाव के सागर में उठने वाली तरंगें हैं। संस्कृति की त्रिवेणी में सामान्य समात्मभाव, विशेष भावों के अतिशय और रूपों के अतिशय का संगम होता है। कला का विशेष लक्षण तो रूप का अतिशय ही है, जो संस्कृति में भी सन्नि-हित रहता है। रूप के इस अतिशय में सौन्दर्य की अभिव्यक्ति होती है। किन्तु कला का यह विशेष रूप विचार का एक प्रत्याहार है,जो सभ्यता

के विकास और संस्कृति के ह्रास में उत्पन्न हुआ है किन्तु वस्तुतः रूप के अतिशय का सौन्दर्य भी कला में समात्मभाव की भूमिका में ही सम्पन्न होता है। लोक-कला में यह समात्मभाव साक्षात् रूप में वर्तमान रहता है। अभिजात कला में यह अप्रत्यक्ष होता है और कल्पना के द्वारा समाहित होता है किन्तु समात्मभाव के बिना व्यक्ति के प्राकृतिक एकान्त की स्थिति में रूप के अतिशय का सौन्दर्य अभिव्यक्ति नहीं होता। इस दृष्टि से समात्मभाव कला और संस्कृति दोनों का समान आधार है। रूप के अतिशय का सौन्दर्य भी दोनों में समान रूप से वर्तमान रहता है। यदि भाव को संस्कृति की विशेष सम्पत्ति मानें तो कला को संस्कृति के अन्तर्गत मान सकते हैं। रूप के सोन्दर्य की दृष्टि से संस्कृति को भी कलात्मक कह सकते हैं। संस्कृति और कला दोनों में मानवीय चेतना की सृजनात्मक शक्ति का स्फुरण होता है। शैव तंत्रों में इस सृजनात्मक शक्ति को 'कला' कहते हैं। इस दृष्टि से कला के पर सामान्य के अन्तर्गत संस्कृति को एक अपर सामान्य मान सकते हैं। मनुष्य के इस कृतित्व को यदि हम 'संस्कृति' कहना चाहें तो कला को संस्कृति के पर सामान्य के अन्तर्गत एक अपर सामान्य मानना होगा।

अस्तु कला और संस्कृति का भेद दोनों पदों के सामान्य और विशेष अर्थों के ऊपर निर्भर है। यदि हमें दोनों पदों का भिन्न प्रयोग अभीष्ट है तो दोनों पदों को विशिष्ट और विवक्त अर्थ में ही ग्रहण करना होगा। शैव तंत्रों के अनुरूप सामान्य सृजनात्मक शक्ति के अर्थ में 'कला' का प्रयोग अधिक प्रचलित और विदित नहीं है। अतः संस्कृति को ही मनुष्य के सामान्य कृतित्व का वाचक मानना अधिक उचित है। 'संस्कृति' में समाज की एक सामान्य परम्परा रहती है और उसका रूप भी सामान्य होता है। एक ही समाज में उसके अनेक रूप इतने स्पष्ट नहीं होते जितने कि कलाओं के रूप रहते हैं। कला के अनेक रूपों के प्रचलन के कारण कला के अर्थ में सामान्य की अपेक्षा विशेष का भार ही अधिक है। अतएव हम संस्कृति को मनुष्य के स्वतंत्र और निरूपयोगी कृतित्व का सामान्य वाचक मानकर उसमें कला और काव्य की स्थिति पर विचार करेंगे। साक्षात् अथवा अप्रत्यक्ष रूप में समात्मभाव मनुष्य के इस सम्पूर्ण कृतित्व का सामान्य आधार है। इस समात्मभाव के आधार में भाव और रूप दोनों के अतिशय का सन्निधान विशेष अर्थ में संस्कृति है। रूप के अतिशय का सौन्दर्य विशेष अर्थ में कला को जन्म देता है। उसमें भाव का अतिशय आवश्यक नहीं है। भाव के अतिशय से युक्त होने के कारण लोक-कला संस्कृति का अभिन्न अंग बन जाती है। लोक-संस्कृति और लोक-

कला में समात्मभाव के अतिरिक्त विशेष भावों का अतिशय साक्षात् स्थिति और रूप के अतिशय के अन्तर्गत-तत्व इन दोनों रूपों में वर्तमान रहता है। कला के सामान्य रूप में इन दोनों रूपों में ही भाव के अतिशय का सन्निधान आवश्यक नहीं है। प्रधानतः रूप का अतिशय ही कला के सौन्दर्य का विशेष लक्षण है। कला के जिन रूपों में भाव का अतिशय भी सन्निहित रहता है उनमें भी रूप की प्रधानता रहती है। संस्कृति के गर्भ से प्रसूत होने के कारण कलाओं में भाव के अतिशय का महत्व भी प्रायः रहता है। रूप और भाव दोनों के साम्य से कला का सौन्दर्य अधिक सम्पन्न होता है। भाव के प्रति मनुष्य का सहज अनुराग भी है। इसीलिये कलाओं में भाव का सन्निधान भी रहता है। किन्तु वस्तुतः भाव का अतिशय संस्कृति का ही विशेष लक्षण है। संस्कृति में रूप का अतिशय एक निमित्त मात्र है। अतः इसमें भाव की ही आराधना अधिक रहती है। इसी कारण संस्कृति की परम्परा में रूप का विकास अधिक नहीं होता, वरन् प्राचीन रूपों की आराधना रूढ़ हो जाती है। संस्कृति की परम्परा में पुरातन रूपों के आधार पर जीवन के सनातन भावों की पुनः पुनः अभिव्यक्ति होती है। इसके विपरीत कला के क्षेत्र में नये-नये रूपों का विकास होता है। इस दृष्टि से संस्कृति और कला का इतिहास एक दूसरे से बहुत भिन्न है। संस्कृति पुरातन की आराधना है। कला नवीन रूपों की रचना है। केवल मनुष्य के सामान्य कृतित्व के अर्थ में संस्कृति का प्रयोग करने पर ही कला संस्कृति का एक अंग है। संस्कृति का विशेष रूप उस सामान्य के अन्तर्गत एक विशेष है जो कला के विशेष से भिन्न है। रूप और भाव की प्रधानता कला और संस्कृति के विशेष रूपों के विशेष लक्षण हैं।

रूप अभिव्यक्ति का बाह्य आकार है। भाव अभिव्यक्ति का आन्तरिक मर्म है। उसे चेतना का रूप कह सकते हैं। किन्तु चेतना में रूप और भाव की आन्तरिक अभिव्यक्ति की दिशा आनन्द के सामान्य की ओर होती है। अतः भावों में इतनी अधिक और स्पष्ट भिन्नता नहीं होती। प्रायः भावों की भिन्नता बाह्य रूपों, सम्बन्धों और अनुषंगों के आधार पर की जाती है। उनके स्वगत स्वरूप के भेद अधिक स्पष्ट नहीं होते। इसके विपरीत रूप की बाह्य अभिव्यक्ति में अनेक रूपता अधिक स्पष्ट होती है। परमेश्वर की कला-शक्ति के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति भी सृष्टि के अनेक रुपों में हुई है। ये रूप एक दूसरे से स्पष्टतः भिन्न हैं। ये रूप अनेक और अनन्त हैं। रूपों की अनेकता के आधार पर ही कलाओं के अनेक रूप निर्मित हुए हैं। भावों का ग्रहण एक ही चेतना के द्वारा होता है। इसीलिये उनमें समानता अधिक होती है

ओर उनकी गति एकता की ओर होती है। रूपों का ग्रहण इन्द्रियों के द्वारा होता है। अतः उनकी अनेकता स्वाभाविक और सिद्ध है। रूप के ये अनेक भेद कला के अनेक रूपों को जन्म देते हैं। वैसे तो रूप सृष्टि और प्रकृति का सामान्य रूप है किन्तु प्रकृति में रूप का अतिशय नहीं होता। उपयोग के अतिरिक्त रूप को अतिशय कहते हैं। प्रकृति का रूप प्राकृतिक अर्थ में उपयोगी है। अपने दृष्टिकोण के अनुसार जब हम प्रकृति के रूपों को निरुपयोगी अतिशय के रूप में देखते हैं तभी हमें प्रकृति के रूपों में सौंदर्य दिखाई देता है। कदाचित उपयोगिता में रूप की महिमा और मनुष्य की स्वतंत्रता कम हो जाती है। सम्भवतः निरुपयोगिता में रूप की महिमा और मनुष्य की स्वतन्त्रता के कारण ही सौंदर्य प्रकट होता है। रूप के अतिशय में निरुपयोगिता और स्वतंत्रता दोनों ही प्रखरता एवं प्रचुरता से रहते हैं। इसीलिये रूप के अतिशय में सौन्दर्य साकार होता है। रूप के अनेक प्रकार इस अतिशय के द्वारा अनेक कलाओं को जन्म देते हैं। चित्रकारी, नृत्य, सङ्गीत, काव्य आदि इन कलाओं के प्रसिद्ध प्रकार हैं। दृश्य रूप की रचना चित्रकला है। स्वर के सुन्दर रूपों का विधान सङ्गीत है। अंगों की भंगिमाओं का सौन्दर्य नृत्य है। शब्दों की कला का नाम काव्य है।

इन कलाओं में रूपों का सम्मिश्रण भी होता है। नृत्य में रूप, स्वर और गति तीनों का समवाय है। रंजित भूषा, नूपुर-ध्वनि और अंग भंगिमा से रहित नृत्य की कल्पना कठिन है। यह सम्मिश्रण कला के सौन्दर्य को अधिक सम्पन्न बनाता है। इन विविध कलाओं में प्रायः भावों का भी सन्निधान होता है, यद्यपि यह आवश्यक नहीं है और कला का विशेष कौशल भाव में नहीं, वरन् रूप की ही विशेषता में रहता है। संगीत के अलाप और तान इसके उदाहरण हैं। भाव के प्रति मनुष्य का सहज अनुराग है। संस्कृति के भावमय गर्भ से उत्पन्न होने के कारण सभी कलाओं में भाव का सन्निधान होता रहा है, यद्यपि कलावित् कला का विशेष सौन्दर्य रूप के प्रपंच में ही मानते रहे हैं। इन कलाओं में काव्य की स्थिति विलक्षण है। अन्य कलाओं में समात्मभाव के अतिरिक्त इन विशेष भावों का सन्निधान आवश्यक नहीं है। किन्तु इन विशेष भावों के बिना काव्य की कल्पना नहीं की जा सकती। इस दृष्टि से काव्य को अन्य कलाओं की अपेक्षा संस्कृति के अधिक निकट माना जा सकता है, यद्यपि सामान्य धारणा में अन्य कलायें संस्कृति के अधिक निकट समझी जाती हैं। इन दोनों ही धारणाओं के कारण इन कलाओं के विशेष माध्यमों में खोजे जा सकते हैं। काव्य का माध्यम शब्द है। शब्द एक

सार्थक ध्वनि है। अर्थ रहित शब्द संगीत का स्वर बन सकता है। सार्थक शब्द भाषा और काव्य की सम्पत्ति है। भाषा के शब्द और अर्थ पार्वती और परमेश्वर के समान अभिन्न हैं, जिनकी वन्दना कालिदास ने रघुवंश के मंगलाचरण में की है। भामह के काल से काव्य-शास्त्र में चली आने वाली काव्य की वह परिभाषा मूलतः ठीक है, जिसके अनुसार 'शब्द और अर्थ का साहित्य' ही काव्य का लक्षण है, यद्यपि इस साहित्य के स्वरूप की सन्तोष-जनक व्याख्या हमारे काव्य-शास्त्र में नहीं हो सकी। शब्द के अर्थ को हम भाव भी कह सकते हैं, यद्यपि विशेष अर्थ में भाव अर्थ के अनेक प्रकारों में से केवल एक है। शब्द के समग्र अभिप्रेत को भी हम भाव कह सकते हैं। मानवीय सम्बन्धों के रागात्मक रस से युक्त भाव सामान्य अर्थ में अथवा भाव का एक विशेष रूप है। भाव के इस विशेष रूप को समाहित और व्यक्त करने की शक्ति शब्द का एक अद्भुत चमत्कार है। मूलतः यह चमत्कार आत्मा अथवा चेतना का लक्षण है। इसीलिये शब्द-दर्शन में शब्द को ब्रह्म माना गया है। जीवन्त संस्कृति के पर्वों में भाव के ये विशेष रूप साक्षात् रूप में अभिव्यक्त होते हैं। काव्य शब्द की अद्भुत शक्ति के द्वारा उसे समाहित, अंकित और अभिव्यक्त करता है। इस दृष्टि से काव्य जीवन का प्रतिविम्ब अथवा चित्रण है, जो शब्द के समर्थ माध्यम के द्वारा सम्भव होता है। इसके अतिरिक्त सामान्य और व्यापक अर्थ में भी भाव का सन्निधान काव्य में होता है। दोनों ही प्रकार के भाव को काव्य का तत्व कह सकते हैं, जो शब्द के रूप में अभिव्यक्त और साकार होता है। विशेष रूप में भाव सम्पत्ति को समाहित करने के कारण काव्य संस्कृति के निकट है। यद्यपि दोनों में इतना अन्तर है कि संस्कृति में यह भाव जीवन की साक्षात् स्थिति में अभिव्यक्त होता है और काव्य में वह शब्द के अन्तर्निहित तत्व के रूप में समाहित होता है। शब्द में सुरक्षित भाव इतना सजीव नहीं होता और साक्षात् जीवन के स्पर्श के द्वारा ही इसमें प्राणों का स्पन्दन प्रकट होता है। काव्य के भाव को यह स्पर्श रचना में कवि की प्रतिभा और आस्वादन में सहृदय की भावना से प्राप्त होता है।

अन्य कलाओं में भाव का सन्निधान यद्यपि आवश्यक नहीं है, किन्तु प्रायः होता है। यहां तक संस्कृति के अंचल में काव्य और अन्य कलाओं का सामान्य स्थान है। किन्तु कुछ कलाओं के रूप में ऐसी विशेषता है जिसके कारण वे काव्य की अपेक्षा संस्कृति के अधिक निकट आ जाती हैं। वह विशेषता मुख्य रूप से उन कलाओं में सर्जन और प्रदर्शन की अभिन्नता है।

यह विशेषता नृत्य और संगीत में सबसे अधिक पाई जाती है। इसी कारण संस्कृति में इन कलाओं की अधिक महिमा है। 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' का रहस्य भी इसी विशेषता में निहित है। प्रदर्शन रचना की सामाजिक अभिव्यक्ति है। उसमें समात्मभाव की आकांक्षा और संभावना रहती है। नृत्य और संगीत की रचना रसिकों के समक्ष साक्षात् रूप में होती है। इसे 'प्रदर्शन कहा जाता है। किन्तु वस्तुत: यह सर्जन का ही सामाजिक रूप है। संस्कृति के साक्षात् समात्मभाव और विशेष भाव दोनों में यह साक्षात् सर्जनात्मकता ही सौन्दर्य एवं आनन्द की सृष्टि करती है। इस साक्षात् सर्जनात्मकता के कारण ही नृत्य और संगीत संस्कृति में सबसे अधिक आदर पाते रहे हैं। काव्य में केवल नाटक का अभिनय इस गौरव का अधिकारी है। काव्य के अन्य रूप चित्रकला मूर्त्तिकला आदि की भाँति इस साक्षात् सर्जनात्मकता के अभाव के कारण ही संस्कृति में कम महत्वपूर्ण रहे हैं। संगीत में समाहित होकर ही लोक-काव्य संस्कृति में समाहत रहा है। दूसरी ओर कला के जिन रूपों में सर्जन और प्रदर्शन की अभिन्नता का अभाव है उनके माध्यम अधिक स्थायी हैं। अतः यदि संस्कृति की परम्परा में वे अधिक आदृत नहीं तो अधिक सुरक्षित अवश्य रहे हैं। नृत्य संगीत आदि के सद्यः सर्जन और उसमें अभिन्न प्रदर्शन की क्षमता इनकी महिमा की रक्षा करती रही है। इस क्षमता के कारण इनके नश्वर माध्यम में अभिव्यक्त सौन्दर्य भी अन्य कलाओं की अपेक्षा अधिक स्थायी रहा है। भारतीय परंपरा में कथा-परायण तथा श्रवण द्वारा काव्य भी संगीत के समान साक्षात् सजीवता को अपने स्थायित्व में सुरक्षित रखने का प्रयत्न करता रहा है।

अस्तु, शब्द और अर्थ का साहित्य काव्य का सबसे अधिक व्यापक और सामान्य लक्षण है। कला की दृष्टि से काव्य शब्द के माध्यम से अभिव्यक्त सौन्दर्य ही है। किन्तु 'शब्द' स्वर, भंगिमा आदि की भाँति भाव-रहित रूप नहीं है। अतः काव्य में रूप और भाव की स्थिति में उनके परस्पर सम्बन्ध समझने पर ही काव्य का सही रूप समझा जा सकता है। संस्कृति, कला और काव्य की परम्परा की दृष्टि से काव्य एक सांस्कृतिक और कलात्मक रचना है। वह मनुष्य की उन रचनाओं से भिन्न है जो प्रकृति की उपयोगिता और विवशता से प्रेरित होती है। काव्य मनुष्य के स्वतन्त्र संकल्प की सृष्टि है। ऐसी रचना को ही संस्कृति तथा कला कहते हैं। विशेष अर्थ में संस्कृति में भाव की प्रधानता और कला में रूप की प्रधानता होती है। काव्य में क्रमश: दोनों का प्राधान्य तथा दोनों का साम्य भी संभव है। अतः काव्य की गणना

संस्कृति तथा कला के सामान्य और विशेष दोनों रूपों के अन्तर्गत हो सकती है। अन्य कलाओं से काव्य का इतना ही भेद है कि नृत्य और संगीत की भांति केवल रूप का सौन्दर्य काव्य में संभव नहीं है। इसका कारण यह है कि काव्य का माध्यम शब्द है, और काव्य में उसका प्रयोग सदा सार्थक होता है। शब्द और अर्थ का साहित्य काव्य का अनिवार्य रूप है किन्तु सामान्यतः शब्द और अर्थ का यह साहित्य समस्त वाङ्मय का लक्षण है। इसीलिये 'साहित्य' पद के अर्थ का इतना अधिक विस्तार हुआ कि काव्य से लेकर व्यापारिक विज्ञापन तक की भाषागत रचनायें उसमें सम्मिलित की जाती हैं। भाषा के माध्यम से रचित जो भी कुछ है वह सभी 'कुछ साहित्य' है क्योंकि उसमें शब्द और अर्थ दोनों साथ-साथ पाये जाते हैं। किन्तु यह समस्त साहित्य एक प्रकार का नहीं है। कलात्मक तथा अन्य साहित्य में अन्तर है। कलात्मक साहित्य रूप के अतिशय से युक्त होता है।

रूप का अतिशय ही कलात्मक सौन्दर्य का लक्षण है। वाङ्मय साहित्य का रूप शब्द है। अर्थ अथवा भाव उसका तत्व है। रूप के अतिशय का अभिप्राय शब्दों की बहुलता नहीं है। बहुलता एक परिमाणवाची शब्द है। परिमाण का सम्बन्ध तत्व से हो सकता है किन्तु रूप से नहीं। रूप रचना की प्रणाली, विधि अथवा शैली है। वह तत्व की व्यवस्था है। इस व्यवस्था में ही तत्व की अभिव्यक्ति होती है। अतः रूप अभिव्यक्ति की शैली है। रूप के अतिशय का अर्थ तत्व की व्यवस्था की समृद्धि है। तात्पर्य यह है कि उपयोगिता की दृष्टि से जो न्यूनतम व्यवस्था संभव है, उसे ग्रहण न कर रूप का जो विस्तार किया जाता है वही रूप का अतिशय है। संगीत के स्वर-सन्तान में इस अतिशय का स्पष्ट उदाहरण मिलता है। साहित्य अथवा काव्य में यह स्वर का सन्तान अथवा शब्द की बहुलता नहीं वरन् शैली का अतिरेक है।

रूप का यह अतिशय कलात्मक साहित्य को अन्य साहित्य से भिन्न करता है। अन्य साहित्य में रूप का अतिशय अभीष्ट नहीं होता। कलात्मक साहित्य ही काव्य है। इस दृष्टि से काव्य की परिभाषा अत्यन्त व्यापक हो जाती है। रूप के अतिशय से युक्त समस्त वाङ्मय का समाहार उसमें हो सकता है। पद्य भी काव्य है, क्योंकि छन्द-विधान रूप का अतिशय है। व्याकरण, ज्योतिष, दर्शन, धर्मशास्त्र, आयुर्वेद आदि के छन्दोबद्ध ग्रन्थ भी काव्य के अन्तर्गत हैं। उनके छन्दविधान में रूप का अतिशय है, जो उनकी

रचना में सौन्दर्य का सन्निधान करता है। इस सौन्दर्य के आधार पर कला की पंक्ति में उनका भी स्थान है, जो अनधिकार नहीं। भाव के अतिशय को अधिक महत्व देने वाले कवि इन कलात्मक रचनाओं को, जिनमें भाव का अतिशय नहीं है, काव्य के क्षेत्र से बहिष्कृत कर रहे हैं। किन्तु इन रचनाओं के पाठक इनमें काव्य के समान सौन्दर्य देखते रहे हैं। इसी कारण पाठकों को इसमें उन सामान्य शास्त्रों से अधिक अनुराग रहा जिनमें रूप का अतिशय नहीं है। चित्र-काव्य तथा अन्य प्रकार के चमत्कारों से पूर्ण काव्य भी इसी कोटि के अन्तर्गत हैं, चाहे उन्हें अधम काव्य की कोटि में ही रखा जाये। काव्य की श्रेणी और श्रेष्ठता का प्रश्न काव्य के सामान्य रूप से पृथक है। काव्य की सामान्य परिभाषा वही हो सकेगी, जो अपनी परिधि में काव्य के समस्त रूपों का समाहार कर सके और वाङ्मय के उन रूपों से उनका विवेक कर सके जिन्हें काव्य नहीं कहा जा सकता। यदि काव्य एक कला है और रूप का अतिशय कला के सौन्दर्य का लक्षण है, तो भाषागत अभिव्यक्ति के रूप में किसी प्रकार के अतिशय से युक्त रचना को काव्य कहना होगा।

अस्तु समस्त वाङ्मय का विभाजन दो भागों में किया जा सकता है। एक जिसमें रूप का अतिशय नहीं है तथा दूसरा जो रूप के अतिशय से युक्त है। पहले को हम विज्ञान अथवा शास्त्र कह सकते हैं, जिसमें रूप के अतिशय के लिये कोई स्थान नहीं है। अर्थ अथवा भाव ही उसका मुख्य लक्ष्य है। रूप उसका साधन मात्र है। अर्थ - विवरण के लिये उसका विस्तार कितना ही किया जाये किन्तु इसका अतिशय इसमें अभीष्ट नहीं होता। रूप के प्रति शास्त्रों और विज्ञानों का दृष्टिकोण उपयोगितावादी होता है। वाङ्मय के दूसरे विभाग में रूप का अतिशय अभीष्ट ही नहीं होता वरन् साध्य बन जाता है। रूप के अतिशय युक्त वाङ्मय को काव्य कह सकते हैं। दोनों ही प्रकार के वाङ्मय में शब्द और अर्थ का साहित्य होता है, क्योंकि एक प्रकार से यह साहित्य भाषा का सामान्य लक्षण है। किन्तु उक्त दोनों प्रकार के काव्यों में इस साहित्य का रूप एक सा नहीं रहता। शब्द का सदा अर्थ के सहित होना साहित्य का सामान्य रूप है। यह तो वाङ्मय के सभी रूपों में सदा विद्यमान रहता है। किन्तु जब किसी विशेष शब्द (रूप) और अर्थ (भाव) का सम्बन्ध अनिवार्य बन जाता है, तो उसे साहित्य का विशेष रूप कहना होगा। काव्य में साहित्य का यही विशेष रूप मिलता है। इसमें कुछ विशेष शब्दों और अर्थों अथवा

रूपों और भावों का सम्बन्ध इतना घनिष्ट हो जाता है कि उन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता। इस घनिष्टता का अभिप्राय यह है कि इस 'साहित्य' में सम्बद्ध शब्दों को दूसरे शब्दों से और भावों को दूसरे भावों से बदला नहीं जा सकता। शब्द और भाव के साहित्य की यह घनिष्टता स्त्री-पुरुष के उस अनन्य प्रेम के समान है, जिसके अनेक उदाहरण मनुष्य समाज में मिलते हैं। रघुवंश के मङ्गलाचरण में कालिदास ने पार्वती और परमेश्वर के अनन्य भाव की उपमा शब्द और अर्थ की इसी सम्पृक्ति से दी है। लिङ्ग औचित्य के लिये उन्होंने पुल्लिङ्ग 'शब्द' के स्थान पर स्त्रीलिङ्ग 'वाक्' का प्रयोग किया है तथा अनन्य भाव की अभिव्यक्ति के लिये द्वन्द्व समास का उपयोग किया है।

कालिदास ने वागर्थ-सम्पृक्ति का जो उदात्त रूप हमारे सामने रखा है वह केवल काव्य का ही नहीं, वरन् उत्तम काव्य का उदाहरण है। इसमें शैव-दर्शन के शक्ति-शिव-साम्य के समस्त गम्भीर रहस्य अन्तर्निहित हैं, जो जीवन, संस्कृति और साहित्य के सर्वोत्तम रूपों को प्रकाशित करते हैं। इन रहस्यों का पूर्ण अवगाहन और विवरण कठिन है। किन्तु सामान्यतम रूप में शब्द और अर्थ की अनन्यता सभी काव्यों का सामान्य लक्षण है। पद्यबद्ध शास्त्रों और विज्ञानों में भी वह अनन्य भाव विद्यमान रहता है। इसीलिये काव्य की कोटि में उनको भी सम्मिलित करना उचित है। इस अनन्य भाव की कसौटी क्या है? परिवर्तन की सम्भावना तथा वांछनीयता ही इसकी कसौटी हो सकती है। सम्भावना का सम्बन्ध शब्द की क्षमता से है। अनिर्वचनीय भावों के प्रसंग में आकर इस संभावना की सीमा हो जाती है। जहां शब्द ऐसे अनिर्वचनीय भावों को व्यक्त करते हैं अथवा उनकी अभिव्यक्ति के निमित्त बनते हैं वहां परिवर्तन की संभावना नहीं रहती। वांछनीयता का प्रश्न काव्य के सौन्दर्य और आनन्द से सम्बन्धित है। सौन्दर्य और आनन्द का अपघातक होने पर यह परिवर्तन संभव होने पर भी वांछनीय नहीं होता। यह स्पष्ट है कि परिवर्तन की यह संभावना निर्वचनीय विषयों के क्षेत्र में ही हो सकती है। किन्तु इन क्षेत्रों में भी यह परिवर्तन सौन्दर्य का अपघातक होता है, अतः यह वांछनीय नहीं। उदाहरण के लिये हम काव्य के किसी भी छन्द को ले सकते हैं। पाठ्य पुस्तकों में काव्य के छन्दों का अर्थ गद्य में दिया जाता है। मूल छन्द और उसके रूपान्तर में भाव का कोई अन्तर नहीं रहता। रूपान्तरकार का लक्ष्य भाव को बदलना नहीं वरन् तथावत् रखना होता है। शब्दों में भी बहुत कम अन्तर होता है। मुख्य अन्तर समस्त वाक्य

अथवा छन्द के समग्र रूप की तुलना से ही विदित होता है। भाव की समानता और शब्दों के न्यूनतम परिवर्तन के होते हुए भी छन्दों के इस रूपान्तर में काव्य का सौन्दर्य पूर्ववत् नहीं बना रहता। उसमें सौन्दर्य की हानि होती है। इसीलिये समान भाव होने पर भी इस रूपान्तर को काव्य नहीं माना जाता। शास्त्र और विज्ञान की पद्यवद्ध रचनाओं में भी इस प्रकार के रूपान्तर से सौन्दर्य की हानि होती है। इसीलिये वे भी काव्य के अन्तर्गत हैं, उनमें भी शब्द और अर्थ का 'साहित्य' विद्यमान है। इस रूपान्तर में रूप का वह अतिशय नष्ट हो जाता है जिस पर काव्य-सौन्दर्य निर्भर है और इस रूप के अतिशय का भाव से अभिन्न सम्बन्ध है।

अस्तु ! साहित्य का वह विशेष रूप, जिसमें विशेष शब्द और भाव अनन्य रूप से सम्पृक्त रहते हैं, वाङ्मय साहित्य को काव्य का पर्याय बनाता है। इस अनन्य भाव के अन्य सूक्ष्म और गम्भीर लक्षण काव्य में श्रेष्ठता की श्रेणियों का विधान करते हैं। विज्ञान और शास्त्र में इस विशेष अर्थ में शब्द और अर्थ का साहित्य नहीं होता। शब्द अथवा रूप को बदलने से उसमें प्रयोजन की हानि नहीं होती, यह प्रयोजन सौन्दर्य की अभिव्यक्ति नहीं वरन् अर्थ का अभिधान होता है। अर्थ के इस अभिधान में सहायक होने पर रूप का परिवर्तन शास्त्र और विज्ञान में वांछनीय होता है, किन्तु काव्य में वह तभी वांछनीय होता है जब कि वह सौन्दर्य की अभिवृद्धि करता है। भवभूति के,"अविदितगतयामा रात्रि रेव व्यरं सीत्" में 'एवं' के स्थान पर 'एव' का परिवर्तन इसका उदाहरण है। किन्तु तब काव्य का परिवर्तित रूप ही श्रेष्ठतर रूप होगा और उसमें फिर परिवर्तन संभव न होने पर वही अनन्यता का भाव सिद्ध होगा, जिसे हमने काव्य का लक्षण माना है।

शब्द और अर्थ के इस साहित्य में शब्द काव्य का रूप है और अर्थ अथवा भाव काव्य का तत्व है। काव्य में शब्द और अर्थ का अनन्य भाव से साहित्य होता है। ऐसा विज्ञान और शास्त्र में नहीं किन्तु साथ ही यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि काव्य एक कला है और रूप का अतिशय ही सौन्दर्य का सामान्य लक्षण है। अतः काव्य में केवल शब्दमय रूप के साथ नहीं (जो सर्वत्र पाया जाता है) वरन् रूप अतिशय के साथ भाव अथवा अर्थ का साहित्य होता है। यह रूप का अतिशय क्या है ? उपयोगिता से अधिक रूप का चमत्कार अतिशय कहा जा सकता है। उपयोगिता का संबंध रूप की अपेक्षा तत्व से अधिक है। निर्वचनीय तथा अभिधेय अर्थ तक ही

उपयोगिता का क्षेत्र है। जिसका निश्चित निर्धारण और निर्वचन नहीं हो सकता, उसकी उपयोगिता का प्रसंग ही असंगत है। अतः उपयोगिता से अधिक रूप का चमत्कार अतिशय है। रूप का यह अतिशय सीमित तथा विस्तृत तथा निर्वचनीय और अनिर्वचनीय दोनों ही प्रकार के भावों से सम्बद्ध हो सकता है। अभिहित के अन्तर्गत न होने पर अभिधेय (जिसका अभिधान संभव है) भाव-तत्व को भाव का अतिशय कहा जा सकता है। भाव के अतिशय के ये दो प्रधान रूप हैं। इन दोनों ही रूपों में भाव का अतिशय होने पर काव्य का सौन्दर्य समृद्ध होता है। विज्ञान और शास्त्र के पद्यबद्ध ग्रन्थों में भाव का अतिशय नहीं होता। भाव की यथार्थता और उनका अभिधान इन ग्रन्थों का मुख्य लक्ष्य है। रूप के अतिशय का सन्निधान उसमें सौन्दर्य के द्वारा इस लक्ष्य को सुगम बनाने के लिये किया जाता है। अतः यह काव्य की व्यापक परिभाषा की परिधि में आ जाते हैं। किन्तु भाव का अतिशय इसमें नहीं होता। इसीलिये प्रायः इन्हें काव्य की कोटि में नहीं गिना जाता। किन्तु धर्म, दर्शन, आध्यात्म, भक्ति, तन्त्र आदि के पद्य-बद्ध ग्रंथों में दोनों ही रूपों में भाव का अतिशय रहता है, इसीलिये उन्हें काव्य के अन्तर्गत सम्मिलित करना उचित है।

भाव का अतिशय होने पर काव्य में रूप और भाव दोनों के अतिशय का अधिक साम्य हो जाता है। अतिशयों के इस साम्य में सम्पृक्ति की घनिष्टता बढ़ती है और दोनों की अनन्यता का भाव अधिक दृढ़ होता है। यह समृद्ध साम्य काव्यगत 'साहित्य' को सुदृढ़ और श्रेष्ठ बनाता है। इस साम्य के आधार पर साहित्य अथवा काव्य के दो भेद किये जा सकते हैं। काव्य का एक प्रकार वह है जिसमें रूप का अतिशय होता है किन्तु भाव का अतिशय नहीं होता। शास्त्र और विज्ञान के पद्यबद्ध ग्रन्थ काव्य की इसी श्रेणी में हैं। काव्य के इस प्रकार में रूप का परिवर्तन संभव तो होता है किन्तु वांछनीय नहीं होता। काव्य का दूसरा प्रकार वह है, जिसमें भाव और रूप दोनों के अतिशय का अनन्य भाव से साहित्य होता है। काव्य के इस प्रकार में रूप का परिवर्तन न संभव होता है और न वांछनीय। अभिधेय भाव के अनभिहित होने पर यह परिवर्तन कुछ संभव भी हो सकता है किन्तु वह वांछनीय नहीं होता क्योंकि उससे काव्य के सौन्दर्य का अपघात होता है। रूप और भाव के साम्य का अर्थ उनकी परिमाणगत समानता नहीं वरन् उनका सम्बन्ध गत सामंजस्य है। यह सामंजस्य शास्त्र और विज्ञान के ग्रन्थों में भी बहुत जगह होता है। किन्तु उनमें रूप और भाव का अति

शय नहीं होता। इन ग्रन्थों में अर्थ ही लक्ष्य होता है और रूप का प्रयोजन अर्थ को निश्चित और निर्धारित करना होता है। इसके विपरीत जिस काव्य में रूप और भाव दोनों का अतिशय होता है, उसमें दोनों एक दूसरे की अनिश्चित सीमाओं में अभिवृद्धि करते हैं। शास्त्र और विज्ञान में भी रूप और भाव एक दूसरे के उपकारक होते हैं किन्तु वे एक दूसरे के अभिवर्धक नहीं होते। काव्य में वे एक दूसरे के अभिबर्धक बन जाते हैं। अतः उनका साहित्य अधिक सम्पन्न एवं दृढ़ हो जाता है।

काव्य में रूप और भाव के अतिशय को हम शक्ति, अलंकार, रस, रीति आदि काव्य-शास्त्र के परिचित अंगों के प्रसंग में रख सकते हैं। इस प्रकार काव्य के स्वरूप का यह अभिनव विवेचन काव्यशास्त्र की परम्परा से सम्बद्ध भी हो सकेगा और साथ ही काव्यशास्त्र के परिचित सिद्धान्तों के प्रकाश में काव्य के स्वरूप का यह विवेचन अधिक विशद् और प्रामाणिक बन सकेगा। काव्य शास्त्र की परम्परा में रस, रीति, अलंकार, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि को काव्य के लक्षणों में विशिष्ट स्थान दिया गया है। अधिकांश आचार्य रस को काव्य की आत्मा मानते हैं। काव्यशास्त्र के आचार्य विश्वनाथ ने काव्य की परिभाषा, "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" की है। अन्य आचार्य काव्य के उपकरणों में अलंकार रीति आदि तत्वों को आवश्यक मानते हुए भी काव्य के स्वरूप में रस को ही परम महत्व देते हैं। काव्यशास्त्र के इतिहास में रस का सिद्धान्त ही अधिक पल्लवित हुआ है "विभानुभावसंचारिसंयोगात्-रस-निष्पत्तिः।" इस भरत के रस सम्बन्धी आदि सूत्र की व्याख्या अनेक प्रकार से हुई है। अन्त में अभिनव गुप्त के अभिव्यक्तिवाद में इस सिद्धान्त की परिणति हुई। अलंकार को महत्व देने वाले अग्निपुराण, दण्डी आदि भी रस को ही काव्य का परमतत्व मानते हैं। "वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्।"

—अग्निपुराण ३३७।३३

"कामं सर्वोऽप्यलङ्कारो रसमर्थे निषिञ्चति"

काव्यादर्श—१।६२

अभिनव गुप्त के बाद विभाव आदि के सहयोग से स्थायी भावों की अभिव्यक्ति के रूप में रसवाद ही काव्यशास्त्र का सर्वमान्य सिद्धान्त बन गया। हिन्दी के मध्यकालीन और आधुनिक आचार्य भी रसवाद की परम्परा को ही

मानते रहे हैं। रससिद्धान्त के अतिरिक्त एक आनन्दवर्द्धन का ध्वनिसिद्धान्त भी सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। रस की अपेक्षा ध्वनि अधिक व्यापक है। रस-ध्वनि के अतिरिक्त दो अन्य रूप आनन्दवर्धन ने स्वीकृत किये हैं, यद्यपि रस ध्वनि को ही उन्होंने काव्य का सर्वश्रेष्ठ रूप माना है। अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, औचित्य आदि को काव्य का सर्वस्व किसी ने नहीं माना है। अलंकार के सम्बन्ध में तो केवल एक ही प्रश्न मुख्य रहा है कि अलंकार काव्य का मुख्य अंग है अथवा नहीं। मम्मटाचार्य के "अनलंकृति पुनः क्वापि" से यह विवाद आरम्भ हुआ कि अपवाद रूप से भी अलंकार-रहित काव्य संभव हो सकता है अथवा नहीं। मम्मट ने अपनी व्याख्या में स्पष्ट किया है कि उनका अभिप्राय अलंकार-रहित काव्य से नहीं, वरन् अस्फुट अलंकार से है। फिर भी जयदेव ने इस प्रसंग में वह तीक्ष्ण व्यग किया है, जो काव्य शास्त्र में प्रसिद्ध है।

'अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती॥

—चन्द्रालोक १।८

दण्डी का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार उष्णता अग्नि का आवश्यक धर्म है,उसी प्रकार अलंकार काव्य के आवश्यक धर्म हैं। काव्य में अलंकार की इस आवश्यकता को सभी आचार्य मानते हैं और अलंकारवादी भी यह मानते हैं कि अलंकार ही काव्य का सर्वस्व नहीं है। उसके अनुसार भी अलंकार रस के सहयोगी हैं। रीति, वक्रोति और औचित्य के प्रवर्तकों ने अपने सिद्धान्तों को अधिक व्यापक बनाने का प्रयत्न किया है और अपने सिद्धान्तों में रस-ध्वनि आदि को भी समेटने की चेष्टा की है। रीतिकार वामन, रीति को ही अपने काव्य की आत्मा मानते हैं। कुन्तक और क्षेमेन्द्र ने क्रमशः वक्रोक्ति और औचित्य को काव्य का प्राण (जीवित) माना है। काव्य शास्त्रों के इन आचार्यों के कुछ आग्रह और अतिचार अवश्य हैं, किन्तु साथ ही इन मतों में काव्य के अत्यन्त महत्वपूर्ण रहस्य प्रकाशित हुए हैं। इन रहस्यों के आलोक में काव्य के स्वरूप का निर्धारण अधिक समुचित और समीचीन हो सकेगा।

भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा में यह धारणा आरम्भ से ही स्पष्ट रही है कि शब्द और अर्थ में 'साहित्य' से काव्य रचना होती है। शब्द और

अर्थ के इस साहित्य का निरूपण हम अभी ऊपर कर चुके हैं। हमारे मत में इस साहित्य का अर्थ शब्द और अर्थ का समवाय सम्बन्ध है। काव्य में यह समवाय समान्यतः रूप के अतिशय के साथ होता है और प्रायः भाव के साथ होता है। साहित्य के इस समवाय में शब्दों में परिवर्तन नहीं किया जा सकता। शब्दों के बदलने पर काव्य का सौन्दर्य अक्षुण्ण नहीं रह सकता। भाव अथवा भाव के अतिशय के साथ शब्दगत रूप के अतिशय का समवाय ही काव्यगत साहित्य का मर्म है।

साहित्य का वह समवाय अभिव्यक्ति की एक विशेष भंगिमा के द्वारा होता है जिसे ध्वनि, वक्रोक्ति, रीति, अलंकार आदि के रूप में निर्धारित करने का प्रयत्न किया गया है। रीति सम्प्रदाय में इस अभिव्यक्ति को केवल शब्दगत मानकर तथा रीति को गुणात्मक मानकर इस अभिव्यक्ति को कुछ सीमित कर दिया गया है। ओज, माधुर्य, आदि गुण केवल शब्दगत ही नहीं होते वरन् भावगत भी होते हैं। गुणों को भावगत मानकर रीति को श्रेष्ठ काव्य का (जिसमें भाव का अतिशय रहता है) व्यापक लक्षण बनाया जा सकता है। गुणों के भावात्मक रूप को समाहित कर रीति उस अभिव्यक्ति का पर्याय बन सकती है, जो काव्य में शब्द और अर्थों के साहित्य को संपन्न करती है। काव्य की कलात्मक अभिव्यक्ति शब्द और अर्थ की भंगिमा पर पृथक्-पृथक् निर्भर नहीं है वरन् दोनों की भंगिमा के तादात्म्य में निहित है। शक्ति और शिव के साम्य के समान अभिव्यक्ति के दोनों पक्षों का साम्य उत्तम काव्य का रहस्य है। इसीलिये काव्यशास्त्र में रीति के अतिरिक्त अन्य सभी संप्रदायों में शब्द और अर्थ दोनों पक्षों का ग्रहण किया गया है। वक्रोक्ति में कुछ रीति के समान ही शब्द-भंगिमा की प्रधानता है। किन्तु जिस प्रकार माधुर्य आदि गुणों को भाव में आप्त मानकर उसे काव्य का व्यापक लक्षण बताया जा सकता है उसी प्रकार वक्रोक्ति की शब्दभंगिमा में भाव की भंगिमा को समाहित कर उसे भी काव्य का व्यापक लक्षण बनाया जा सकता है।

रस-सिद्धान्त में कुछ भाव की प्रधानता दिखाई देती है, यद्यपि अधिकांश आचार्य अलंकार, रीति, ध्वनि आदि को रस का उपकारक मानते फिर भी रस के स्वरूप में अनुभूति-पूर्ण भाव ही की प्रधानता है। रस की इस धारणा का आधार यह है कि सभी आचार्य जीवन के अनुभव के अनुरूप रस की कल्पना करते रहे हैं। जीवन की अनुभूति के रूप में भी रस की

जो कल्पना आचार्यों ने की है उसमें भी प्राकृतिक रसों की ही प्रधानता है। वात्सल्य, भक्ति, आदि रसों को काव्य शास्त्र में पीछे स्थान मिला है। शान्त रस की रसात्मकता संदिग्ध है। अन्य सात रस प्रधानतः प्राकृत भावों पर ही आश्रित हैं। आध्यात्मिक रस की कल्पना आचार्यों की सूझ नहीं वरन् वैदिक ऋषियों की देन है। काव्य शास्त्र के आचार्य एक ओर उपनिषदों के आध्यात्मिक रस का स्मरण करते रहे और दूसरी ओर उनका रस-सिद्धांत प्राकृतिक रस में ही सीमित रहा। आत्मा और प्रकृति के भिन्न लक्षणों का विवेचन न होने के कारण काव्य शास्त्र के रस-सिद्धान्त की असंगतियां कभी प्रकट न हो सकीं। प्राकृतिक और आध्यात्मिक रसों से भिन्न किन्तु उनके सामंजस्य से पूर्ण सांस्कृतिक रस की कल्पना पूर्वी अथवा पश्चिमी काव्यशास्त्र में संभवतः कोई भी आचार्य न कर सका।

कला और काव्य का यह सांस्कृतिक रस प्राकृतिक और आध्यात्मिक रसों से ही भिन्न नहीं वरन् जीवन में प्राप्त होने वाले सांस्कृतिक रस के साक्षात् अनुभव से भी भिन्न है। सांस्कृतिक रस के साक्षात् अनुभव में भाव की प्रधानता होती है, रूप की प्रधानता नहीं होती। प्रायः वह आत्माओं के मौन और अलक्षित सम्वाद का अनिर्वचनीय रस बना रहता है। आन्तरिक अभिव्यक्ति तो इस रस की अनुभूति से अभिन्न हैं किन्तु उसकी वाङ्मय अथवा व्यवहारगत अभिव्यक्ति सदा अपेक्षित तथा संभव नहीं होती। काव्य में वह सांस्कृतिक रस अभिव्यक्ति का विषय बनता है। काव्य में यह अभि-व्यक्ति वाङ्मय होती है। शब्दों की भंगिमा उस रस की अभिव्यक्ति की शैली है। कला की दृष्टि से काव्यगत सौन्दर्य का रस इस अभिव्यक्ति में ही निहित रहता है। यह काव्यगत सौन्दर्य का रस है, जो प्राकृतिक, आध्या-त्मिक और सांस्कृतिक तीनों रसों के भावगत रूप से भिन्न है। काव्यगत रस के इस विलक्षण रूप की कल्पना न कर सकने के कारण काव्यशास्त्र के आचार्य प्राकृतिक और आध्यामिक रसों के साक्षात् अनुभव-रूप रस के विवेचन में उलझे रहे। काव्य जीवन का एक अंग अवश्य है किन्तु जिसे हम काव्य के रूप में जानते मानते हैं वह काव्य जीवन का पर्याय नहीं वरन् जीवन का चित्रण अथवा अंकन है। जीवन उस काव्य का विषय अवश्य बनता है किन्तु काव्य साक्षात् जीवन नहीं है। जहां शब्दमयी अभिव्यक्ति न बनकर काव्य का सौन्दर्य साक्षात् जीवन में समाहित रहता है वहां निस्संदेह काव्य जीवन से अभिन्न बन जाता है। भारतीय पर्वों के अतिरिक्त काव्य का यह जीवन्त रूप अन्यत्र मिलना कठिन है। रसिकजनों के व्यवहार में इस

काव्य के कादाचित्क ग्राभास मिल सकते हैं। सामान्यतः सभ्यता के विकास में क्रमशः जीवन में काव्य का समन्वय कम होता गया है और काव्य एक स्वतंत्र कला बनता गया है।

वाङ्मय अभिव्यक्ति का सौन्दर्य इस काव्य का मर्म है। इस अभिव्यक्ति का सौन्दर्य ही काव्य का रस है। भाव का अतिशय इस सौन्दर्य को सम्पन्न बनाता है। यह भाव काव्य का तत्व अथवा विषय उसमें समाहित होता है। भाव का यह अतिशय प्राकृतिक, आध्यात्मिक, सांस्कृतिक आदि किसी भी रस के रूप में काव्य का तत्व बन सकता है। अधिकांश काव्य में प्राकृतिक रस की प्रचुरता रही है यद्यपि सांस्कृतिक रस के अनेक स्थल काव्यों में मिल सकते हैं। काव्य के रूपगत सौन्दर्य के रस को भाव अथवा तत्वगत रसों से पृथक् करके ही काव्य के स्वरूप का मर्म समझा जा सकता है। रस की इस नवीन धारणा में काव्य के रूप और भाव दोनों का समन्वय अपेक्षित होगा। इस समन्वय का रूप वही होगा जिसका संकेत हम अभी रीति और अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में ऊपर कर चुके हैं। इस प्रकार रस और रीति एक दूसरे के अत्यन्त निकट आ जाते हैं।

अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि में शब्द और अर्थ दोनों पक्षों का ग्रहण दिखाई देता है। शब्द और अर्थ के साहित्य का सूत्र इन सम्प्रदायों में अधिक अक्षुण्ण रहता है। अलंकारवादियों ने शब्दालंकार और अर्थालंकार का भेद करके इस सूत्र को छिन्न करने का प्रयत्न किया है। वक्रोक्ति मत में भी शब्द-भंगिमा की प्रधानता प्रतीत होती है। ध्वनि में शब्द और अर्थ का सामंजस्य अधिक है। अतः ध्वनि का सिद्धान्त काव्य के वास्तविक लक्षण सबसे अधिक निकट पहुँचता है। अलंकारों को सभी काव्य का आवश्यक उपकरण मानते हैं। दण्डी ने अपने व्यंग में यह संकेत किया है कि अलंकार उसी प्रकार काव्य का सहज गुण है, जिस प्रकार उष्णता अग्नि का सहज धर्म है। किन्तु दण्डी ने भी अपने काव्य के लक्षण में अलंकार को काव्य का एक अंग ही माना है। वे काव्य के स्वरूप और स्वभाव के रूप में अलंकार की व्याख्या नहीं कर सके हैं। अलंकार को काव्य का सौन्दर्य कहा जाता है (सौन्दर्यमलंकारः)। सौन्दर्य रूप के अतिशय एवं भाव अथवा भाव के अतिशय के साथ उसके सामंजस्य में निहित रहता है। शब्दालंकारों में रूप का अतिशय ही प्रधान है। किन्तु अर्थालंकार में रूप और भाव का अतिशय अभिन्न रहता है। भाव का अतिशय अभीष्ट होते हुए

भी वह रूप के अतिशय के साथ समन्वित रहता है। रूप और भाव के अतिशय का समन्वय ही काव्य का समीचीन लक्षण है। इस रूप में अर्थालंकार की व्याख्या करने पर वह काव्य का व्यापक लक्षण बन जाता है। इस रूप में अर्थालंकार काव्य में सर्वत्र मिलेगा चाहे उसे कोई विशेष नाम न दिया जा सके। अर्थालंकार के इस सामान्य स्वरूप का निरूपण न करके काव्य शास्त्र के आचार्य उसके विशेष रूपों की गणना में अधिक संलग्न रहे। इसीलिये वे काव्य के सामान्य लक्षण के रूप में अलंकार का अवगाहन नहीं कर सके और उसे काव्य का एक अतिरिक्त उपकरण मात्र मानते रहे। शब्दालंकार भी केवल अनुप्रास यमक और श्लेष तक ही सीमित नहीं है। किसी भी रूप में शब्द की भंगिमा का अतिशय काव्य का अलंकार है। यमक और श्लेष अर्थ का स्पर्श करते हैं। भाव का अतिशय न होने पर भी रूप का अतिशय काव्य की सृष्टि करता है, चाहे वह उत्तम काव्य न हो।

इस प्रकार अलंकार काव्य का व्यापक लक्षण बन जाता है। यह अलंकार स्त्री के आभूषणों की भांति काव्य के सौन्दर्य की सजा का अतिरिक्त उपकरण नहीं वरन् स्त्री के यौवन और उसके अंगविन्यास की भांति उसके सौन्दर्य का समवेत स्वरूप है। कालिदास ने यौवन को स्त्रियों का सहज अलंकार माना है (कुमार संभवम्)। अतिरिक्त आभरणों के सम्बन्ध में कालिदास ने अपना मत शाकुन्तल के "किमिकहि मधुराणाम् मडनं नाकृतीनाम्" में व्यक्त किया है। काव्य शास्त्र के आचार्य कविता कामिनी के अतिरिक्त आभरणों के रूप में ही अलंकारों की गणना करते रहे। किन्तु स्त्री के यौवन और विन्यास की भांति अलंकार वस्तुतः काव्य का व्यापक और सामान्य लक्षण है। जीवन और काव्य के मर्मज्ञ कालिदास के उक्त मत और उनके समस्त काव्य में इस धारणा का समर्थन मिलता है।

रीति काव्यों की भांति वक्रोक्तिकार भी शब्द की भंगिमा पर ही अधिक जोर देते रहे। उक्ति की वक्रता को ही वे काव्य में प्रधान मानते रहे। उक्ति की वक्रता काव्य के रूप का अतिशय है। इस वक्रोक्ति में कुन्तक आदि भगिमा की असाधारण विचित्रता ही देखते रहे। किन्तु वस्तुतः रूप के समस्त अतिशय में सामान्य उपयोगितावादी अभिधान से भिन्न एक भंगिमा होती है। अभिव्यक्ति की इस भंगिमा में समस्त अलंकारों तथा रस के अतिरिक्त काव्य के समस्त लक्षणों का समाहार किया जा सकता है। यह समाहार वक्रोक्ति के आचार्यों के प्रयत्नों की भांति बलात् न होगा, वरन् सहज और सर्वमान्य

होगा। वक्रोक्ति के आचार्य ध्वनि का विरोध करते रहे हैं। कुन्तक ने वक्रोक्ति को विचित्र अभिधा (विचित्रैव अभिधा वक्रोक्तिः) कहा है। किन्तु वक्रोक्ति प्रसिद्ध अभिधान से भिन्न है। "वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधान व्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा।" ऐसी स्थिति में वक्रोक्ति व्यंजना के अत्यन्त निकट आजाती है और रूप के अतिशय के साथ-साथ उसमें भाव के अतिशय का भी समाहार हो जाता है। तथा वह रीति एवं अलंकार की भाँति काव्य का व्यापक लक्षण बन जाती है। पद वक्रोक्ति से लेकर वाक्य और प्रबन्ध वक्रोक्ति तक विस्तार करने पर वक्रोक्ति का सिद्धान्त काव्य अथवा साहित्य में रूप के अतिशय के दूरतम क्षितिजों को अपनी दृष्टि से समाहित कर लेता है।

ध्वनि का सिद्धान्त वक्रोक्ति से भिन्न प्रतीत होता है। वक्रोक्ति के प्रसिद्ध रूप में उक्ति की विचित्रता ही प्रधान है। ध्वनि के सिद्धान्त में अर्थ की महिमा अधिक है। किन्तु ध्वनित अर्थ अभिहित नहीं होता वरन व्यंजना के द्वारा अन्वित होता है। व्यंजना अभिव्यक्ति की वह भंगिमा है, जो अनभिहित अथवा अनभिधेय अर्थ को भी अपनी अद्भुत शक्ति के द्वारा शब्दों में अन्वित कर देती है। व्यंजना इस अभिव्यक्ति का व्यापार है। ध्वनि का प्रयोग व्यंजित व्यापार और अर्थ दोनों के लिये होता है। अन्यथा ध्वनि और व्यंजना में भेद करना कठिन है। उक्ति की असाधारण विचित्रता के स्थान पर यदि अभिव्यक्ति की भंगिमा के रूप में वक्रोक्ति की व्याख्या की जाये तो वक्रोक्ति और ध्वनि एक दूसरे के बहुत निकट आजाते हैं। ध्वनि का आधार व्याकरण का स्फोट सिद्धान्त है। स्फोट के अनुरूप यदि वाक्य ध्वनि और प्रबन्ध ध्वनि की कल्पना की जाये तो ध्वनि की अभिव्यक्ति का विस्तार वक्रोक्ति के समान ही साहित्य के दूरंगत क्षितिजों तक संभव है। यद्यपि ध्वनि में अर्थ की प्रधानता है किन्तु अर्थ की व्यंजना अभिव्यक्ति से अभिन्न है। अभिव्यक्ति में जहाँ एक ओर अर्थ का अन्तर्भाव है, वहाँ दूसरी ओर वाक्य विन्यास की भंगिमा उसका प्रकट रूप है। इस ध्वनि के सिद्धान्त की व्याख्या भी रूप और भाव के अतिशय के उस साम्य के अनुरूप की जा सकती है, जिसे हम निरंतर काव्य का व्यापक और सन्तोषजनक लक्षण मानते रहे हैं। ध्वनिवादियों ने अन्य रूपों में ध्वनि के विस्तृत क्षितिज भी उनकी दृष्टि में रहे हैं। वस्तुतः ध्वनि को यदि भाव ध्वनि कहा जाये तो ध्वनि के समस्त रूपों का समाहार उसमें हो सकता है। रस के सम्बन्ध में इतना आवश्यक है कि भाव के समान रस का समाधान ध्वनि की व्यंजना में तत्वरूप में नहीं हो सकता। व्यंजना में समाहित भाव तत्वों की अलक्ष्य प्रेरणा के द्वारा रस पाठकों के हृदय में

अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार रस को ध्वनि की भी ध्वनि कह सकते हैं। अभिनव गुप्त के ध्वन्यालोक की 'लोचन' नामक व्याख्या में अपने अभिव्यक्तिवाद की प्रतिष्ठा कर ध्वनिकारों के रस सिद्धान्त को पूर्ण किया है। किन्तु अभिनव गुप्त की रसविषयक धारणा भरत के आदि सूत्र और उसकी परम्परागत व्याख्याओं से सीमित है। काव्यशास्त्र की रसमीमांसा में अनेक भ्रान्तियां हैं।

औचित्य का सिद्धान्त काव्य शास्त्र में अत्यन्त मौलिक एवं महत्वपूर्ण है। औचित्य का समाहार रूप के अतिशय में नहीं किया जा सकता। वह रूप से अतिरिक्त है। हम उसे रूप के अतिशय की मर्यादा कह सकते हैं। वस्तुतः औचित्य काव्य की मर्यादा का ही सिद्धान्त है। अभिव्यक्ति की जिस भंगिमा में काव्य के रूप और भाव के अतिशय का साम्य होता है। उसकी कोई मर्यादा न होने पर वह सौन्दर्य के स्थान पर असुन्दरता की सृष्टि कर सकता है। केशवदास के द्वारा उलूक से राम की उपमा देना इसका एक उदाहरण है। काव्य की इस मर्यादा के अनेक रूप हैं। रूप के विन्यास और अभिव्यक्ति के साम्य के अतिरिक्त जीवन का श्रेय भी इस मर्यादा के अन्तर्गत है। औचित्य का सिद्धान्त काव्य में सौन्दर्य और श्रेय का समन्वय करता है। औचित्य की व्यापकता को ध्यान में रखते हुए क्षेमेन्द्र ने अपने औचित्य विचार में औचित्य के अनेक भेद बताये हैं और अलंकार रीति, रस, ध्वनि आदि सभी सिद्धान्तों को उनमें समाहित करने का प्रयत्न किया है। किन्तु वस्तुतः औचित्य के अन्तर्गत इन सबका समाहार नहीं किया जा सकता। इन सिद्धान्तों का सम्बन्ध रूप और भाव के अतिशय से है जो काव्य को सौन्दर्य का विधान करते हैं, औचित्य उस सौन्दर्य की मर्यादा है। अतएव वह एक अतिरिक्त तत्व है।

वस्तुतः काव्यशास्त्र के इतिहास में काव्य के सम्बन्ध में जो भिन्न-भिन्न सिद्धान्त और उन पर आश्रित सम्प्रदाय मिलते हैं, वे सभी काव्य में किसी मौलिक तत्व का संकेत करते हैं। किन्तु यह तत्व ही काव्य का सर्वस्व नहीं है। प्रत्येक सम्प्रदाय ने काव्य के एक मौलिक तत्व को दृढ़ता से ग्रहण किया है। इस दृष्टि से प्रत्येक संप्रदाय आंशिक रूप में काव्य के सत्य का प्रतिनिधि है। किन्तु इन सम्प्रदायों के प्रवर्तक और समर्थक अपने सिद्धान्त और उसकी सीमा न समझ कर आंशिक सत्य को पूर्ण सत्य और काव्य के एक तत्व को काव्य का सर्वस्व मानने का आग्रह करते रहे। इसीलिये प्रत्येक

आचार्य ने दूसरों के सिद्धान्तों का खण्डन किया है तथा अन्य सिद्धान्तों को अपने सिद्धान्त की परिधि में समेटने का प्रयत्न किया है। सभी सिद्धान्तों के एक पक्षीय होने के कारण आचार्यों के ये प्रयत्न असफल रहे। काव्य के स्वरूप के निर्धारण की सही दिशा आंशिक सिद्धान्त का आग्रह नहीं है। हमने कुछ उदार दृष्टिकोण अपना कर काव्य शास्त्र के सभी सिद्धान्तों में काव्य का सामान्यतत्व खोजने का प्रयत्न किया है। हमारे मत में काव्य का यह सामान्य तत्व रूप का अतिशय है, जो काव्य में भाव अथवा भाव के अतिशय के साथ समंजसित रहता है। सभी कलाओं में रूप का यह अतिशय अभिव्यक्ति के माध्यम की भंगिमा है। काव्य का माध्यम शब्द है। अतः काव्य में यह रूप का अतिशय शब्द, वाक्य एवं प्रबन्ध के विन्यास की भंगिमा के रूप में रहता है। अर्थ अथवा भाव शब्द से अभिन्न हैं। अतः भाव अथवा भाव का अतिशय रूप के इस अतिशय से समवेत रहता है। अभिव्यक्ति की भंगिमा में रूप और भाव का साम्य अभीष्ट है। रूप के अतिशय में अनतिशयित अर्थ अथवा यथार्थ का सन्निवेश होने पर काव्य का जो रूप बनता है उसे प्रायः 'पद्य' कहा जाता है और उसकी गणना काव्य में नहीं की जाती। किन्तु गद्य-मय सूत्रों की लय में जो रूप का अतिशय रहता है, वह निसंदेह कलात्मक सौन्दर्य का तत्व है और उसे पद्य नहीं कहा जा सकता। अतएव किसी भी प्रकार के रूप के अतिशय से युक्त शब्द रचना को व्यापक अर्थ में काव्य कहना उचित है। भाव का अतिशय न होने पर भी इस काव्य में रूप का सौन्दर्य रहता है। रूप और भाव का बहुत कुछ साम्य भी इन रचनाओं में मिलता है। भाव के अतिशय से युक्त काव्य को सभी काव्य के रुप में स्वीकार करते हैं, यद्यपि इसके स्वरूप का सन्तोषजनक निर्धारण काव्य शास्त्र के इतिहास में नहीं हो सका है।

हमारे मत में रूप और भाव के अतिशय का साम्य इस काव्य का सबसे अधिक संतोषजनक लक्षण है। काव्य शास्त्र के रीति, वक्रोक्ति और अलंकार में रूप की प्रधानता है। शब्दालंकार ध्वनि, रस आदि के सिद्धान्तों में भाव की प्रधानता है। किन्तु वस्तुतः काव्य में रूप और भाव के अतिशय का साम्य ही सौन्दर्य का विधान करता है। अभिव्यक्ति की जिस भंगिमा के द्वारा रूप और भाव के अतिशय का यह साम्य सम्पन्न होता है, वह वक्रोक्ति एवं ध्वनि से बहुत निकट है। स्पष्ट रूप में वह लोक प्रसिद्ध अभिधान से भिन्न है। लक्षणा का समाहार संभवतः ध्वनि की व्यंजना में हो सकता है। लक्षणा निस्सन्देह अर्थ के अतिशय का संकेत करती है। 'औचित्य' रूप और भाव

के अतिशय तथा उनके साम्य की वह मर्यादा है जो सौन्दर्य को सन्तुलित एवं जीवन से संगत बनाती है। वह काव्य में सौन्दर्य और श्रेय का समन्वय करता है। इस प्रकार रूप और भाव के अतिशय के रूप में काव्य शास्त्र के विभिन्न सिद्धान्तों को देखने पर उनका सामंजस्य संभव दिखाई देता है। रस, रीति, अलंकार आदि के सिद्धान्तों के विशेष रूप काव्यगत रूप और भाव के साम्य के कुछ विशेष पक्षों की विवृति में सहायक हो सकते हैं। काव्य के इन विभिन्न सिद्धान्तों का यह सामंजस्य मम्मट, जयदेव आदि उन उदार आचार्यों के प्रयत्न से भिन्न है जिसमें काव्य के विभिन्न सिद्धान्तों को पृथक-पृथक मानते हुए भी काव्य की परिभाषा में उन सिद्धान्तों से लक्षित विभिन्न तत्वों का एकत्र आकलन किया गया है। काव्य इन विभिन्न सिद्धान्तों से लक्षित अनेक तत्वों का संग्रह मात्र नहीं है। काव्य में इन तत्वों का केवल संयोग नहीं वरन् समवाय रहता है। इस समवाय का सामान्य आधार रूप का अतिशय और भाव के साथ उसका साम्य है। वस्तुत: काव्य का यह सामान्य आधार काव्य शास्त्र के विभिन्न सिद्धान्तों का अभीष्ट नहीं है इसीलिये ये सिद्धान्त पृथक-पृथक रहे और इनके परस्पर विरोध ने काव्यशास्त्र का भ्रान्तिपूर्ण इतिहास बनाया। कोई भी आचार्य काव्य के इस सामान्य लक्षण को स्पष्ट रूप से हमारे सामने न रख सके। काव्य प्रेमियों के समक्ष काव्य के इस सामान्य और सर्वाधिक सन्तोषजनक सिद्धान्त को सामने प्रस्तुत करने में हमें गर्व नहीं, किन्तु प्रसन्नता अवश्य है। एक बात और स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि काव्य की श्रेष्ठता एवं हीनता अथवा काव्य की कोटियों एवं प्रकारों का प्रश्न काव्य के सामान्य स्वरूप के प्रश्न से नितान्त भिन्न है। काव्य का सामान्य स्वरूप वाङ्मय के अन्य रूपों से काव्य का भेद करता है। श्रेष्ठ और हीन तथा अन्य सभी प्रकार के काव्य इस सामान्य काव्य के अन्तर्गत हैं। रूप का अतिशय और भाव अथवा भाव के अतिशय के साथ उसका साम्य ही काव्य का ऐसा व्यापक लक्षण है, जो काव्य के समस्त प्रकारों को अपनी परिधि में समाहित कर सकता है। काव्य की कोटियों और प्रकारों का भेद काव्य के अन्तर्गत भेदों का प्रश्न है। इन भेदों का निर्धारण काव्य के सामान्य लक्षण के अतिरिक्त अन्य सिद्धान्तों के आधार पर संभव हो सकेगा।

अध्याय ४

संस्कृति, कला और काव्य

सामान्यतः काव्य का प्रयोग शब्दमयी भाषा के माध्यम से व्यक्त होने वाली रचना के एक विशेष रूप के लिये होता है। शब्दमयी रचना के अन्य रूप भी हैं, जिनसे काव्य का भेद करना आवश्यक है। अन्य माध्यमों के द्वारा भी रचना के अन्य अनेक रूप हैं। इनसे भी काव्य का विवेक अपेक्षित है। मानवीय रचना को हम सामान्यतः संस्कृति कह सकते हैं किन्तु समस्त रचनाओं को सांस्कृतिक न मानने पर रचना को केवल कृति का पर्याय मानकर संस्कृति से उसका विवेक करना होगा। इस विवेक के सूत्र से काव्य को मनुष्य की सांस्कृतिक रचना के अन्तर्गत स्थान मिलेगा। संस्कृति रचना के रूप भेदों का विचार करने पर काव्य का अन्तर्भाव कला के सामान्य रूप में होगा।

संस्कृति मानवीय रचना का एक साम्य संगत-रूप है वह ईश्वरीय प्रकृति और मानवीय विकृति से भिन्न है मनुष्य की सांस्कृतिक रचना का रूप सत्य-शिव और सुन्दर से अंचित होता है। कला इस सांस्कृतिक रचना का वह रूप है, जिसमें सौन्दर्य की प्रधानता होती है। कला सौन्दर्य की साकार साधना है। सौन्दर्य रूप की रचना है। अथवा व्यापक अर्थ में वह रूप का पर्याय है। माध्यमों के भेद से कला के अनेक भेद हो जाते हैं। काव्य कला का वह रूप है, जिसमें शब्दमयी भाषा के माध्यम से सौन्दर्य की अभिव्यक्ति होती है।

इस प्रकार काव्य कला का ही एक उपभेद है तथा कला संस्कृति का एक अंग है। इस दृष्टि से काव्य का समुचित विवेचन संस्कृति और कला के प्रसंग में ही हो सकता है। संस्कृति की भूमिका में कला का रूप निखरता है और कला की भूमिका में काव्य के स्वरूप का निर्धारण अधिक संगत होता है। इस व्यापक प्रसंग और पीठिका में काव्य का विवेचन बहुत कम हुआ है। कदाचित् इसी कारण काव्य के अनेक सिद्धान्तों के सम्बन्ध में अनावश्यक भ्रम

और मतभेद उत्पन्न हुए हैं। भारतीय काव्य शास्त्र में काव्य का विवेचन स्वतन्त्र रूप में ही अधिक हुआ है। संस्कृति और कला की भूमिका में काव्य का विवरण भारतीय परम्परा में बहुत कम मिलता है। संस्कृति के साक्षात् और जीवन्त रूप की विचार और विवेचन से अधिक संगति नहीं है। कदाचित् इसी कारण किसी भी देश की प्राचीन परम्परा में संस्कृति का विवेचन नहीं मिलता, यद्यपि संस्कृति की साक्षात् परम्परा सभी देशों में मिलती है। कला के सम्बन्ध में भी अधिक सीमा तक यही सत्य है। फिर भी पश्चिम की मध्यकालीन परम्परा में कला का भारतीय परम्परा की अपेक्षा अधिक मिलता है। पश्चिम के इस कला विवेचन के सूत्र प्राचीन चिन्तन में भी मिलते हैं। इस कला विवेचन की भूमिका में काव्य की मीमांसा भी पश्चिम के मध्यकालीन और अर्वाचीन चिन्तन में मिलती है। कला के इस व्यापक विवेचन के अर्थ में 'सौन्दर्य शास्त्र' पश्चिमी चिन्तन की एक महत्वपूर्ण विशेषता है। पश्चिम का जैसा व्यवस्थित सौन्दर्य शास्त्र भारतीय परम्परा में दुर्लभ है। अर्वाचीन भारतीय चिन्तन में भी संस्कृति और कला के स्वरूप और सिद्धान्तों का विवेचन भी बहुत कम मिलता है। भारतीय परम्परा की प्रशंसा में इतना अवश्य कहना होगा कि स्वतंत्र रूप से काव्य का जैसा सांगोपांग एवं गम्भीर विवेचन भारतीय परम्परा में मिलता वैसा पश्चिमी परम्परा में दुर्लभ है। काव्य के स्वरूप, प्रयोजन, प्रेरणा, भेद आदि का जैसा विपुल विवेचन तथा शब्द शक्ति, रस, रीति, गुण, छंद, अलंकार आदि काव्य के अंगों का जैसा विस्तृत आलोचन भारतीय परम्परा में मिलता है। वैसा अन्यत्र मिलना कठिन है।

फिर भी जिस भारतीय परम्परा में कवि को सरस्वती का साधक तथा काव्य को कवि की भारती (सरस्वती)* माना गया है तथा वीणा पाणी के रूप में सरस्वती की कल्पना की गई है, उसमें कला की भूमिका में काव्य का विवेचन न होना निःसन्देह आश्चर्य की बात है। सरस्वती के हाथ में वेद भी हैं किन्तु आकार के कारण वीणा ही प्रमुख है। संगीत का एक श्रेष्ठ वाद्य होने के नाते वीणा कला की एक सुन्दर प्रतीक है। सरस्वती के

---

* नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयमनीन्यपरतन्त्याम्।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधतिभारती कवेर्जयति ।। १ ।।
काव्य प्रकाश, उल्लास १, श्लोक १

स्वरूप में कला की ही प्रधानता है, फिर भी भारतीय परम्परा में कला की सामान्य भूमिका में काव्य का विवेचन नहीं हुआ। शब्दमयी रचना के रूप में काव्य का स्वतन्त्र विवेचन ही भारतीय परम्परा में विपुलता से मिलता है। किन्तु कला की व्यापक भूमिका में होने के कारण अपूर्ण होते हुए भी काव्य के इस विवेचन में कला के सामान्य रचनात्मक लक्षण का सूत्र सन्निहित है। भारतीय काव्य शास्त्र में प्राप्त होने वाली काव्य की अनेक परिभाषाओं में यह सूत्र मिलता है। इतना अवश्य है कि इस सूत्र का विस्तार करके भारतीय आचार्यों ने कला और काव्य के सम्बन्ध को विषद नहीं किया है। कला के व्यापक विवरणों में जहाँ कलाओं के अन्तर्गत काव्य की गणणा मिलती है वहाँ भी इस प्रसंग का विस्तार नहीं है। प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रारंभ में ही अन्य कलाओं की तुलना में शब्दमयी कला का अधिक उत्कर्ष होने के कारण अन्य कलाओं के साथ कला का सामान्य विवेचन अधिक सम्भव न हो सका किन्तु संगीत और काव्य की शब्दमयी कलाओं की मीमांसा व्यवस्थित और विस्तृत रूप में हुई है। वैदिक मंत्र संहिताओं में संगीत और काव्य की शब्दमयी कलाओं का समन्वित रूप मिलता है। इन मंत्र संहिताओं में इस समन्वय का उत्कर्ष और श्रेष्ठता के साथ हुआ है। आगे चलकर भारतीय परम्परा में संगीत और काव्य का विकास एवं विवेचन अधिक स्वतन्त्र रूप में हुआ है, यद्यपि इस समन्वय के कल्पवृक्ष पर गीत गोविंद, सूर-सागर, रामचरितमानस आदि जैसे सुन्दर सुमन निरन्तर खिलते रहे हैं। संस्कृत और हिन्दी के अन्य काव्य में भी गेयता का गुण कदाचित् पश्चिमी भाषाओं के साहित्यिक काव्य की अपेक्षा कहीं अधिक है। अर्वाचीन भारत की दिव्य विभूति रवीन्द्रनाथ ठाकुर के काव्य में इस समन्वय की एक श्रेष्ठ परिणति मिलती है। सूर और तुलसी के अतिरिक्ति संगीत और काव्य का ऐसा समन्वय अत्यन्त दुर्लभ है। समर्थ स्वामी रामदास, सन्त ज्ञानेश्वर, सन्त तुकाराम आदि के मराठी अभंग इस कोटि में आ सकते हैं किन्तु इनमें काव्य की अपेक्षा अध्यात्म की प्रधानता है। सूर, तुलसी और रवीन्द्र के जैसा संगीत और काव्य का समन्वय कदाचित् ही कहीं मिल सके। आधुनिक हिन्दी काव्य के गीतों में इसी समन्वय की परम्परा का प्रस्तार तथा इसी की प्रतिध्वनि है। संस्कृत और हिन्दी के (तथा कदाचित् अन्य भारतीय भाषाओं के भी) शेष काव्य में भी संगीत की आत्मा प्रतिगुञ्जित होती है। भारतीय काव्य की इस संगीतात्मकता तथा भारतीय संस्कृति की जीवन्त परम्परा में संगीत की प्रधानता का कारण कला के क्षेत्र में शब्द का अपेक्षाकृत अधिक महत्व है। शब्द के इसी महत्व के कारण एक ओर संगीत और काव्य का

समन्वय अधिक मिलता है तथा दूसरी ओर स्वतन्त्र रूप में काव्य का विवेचन मिलता है।

विकासवाद के अनुसार मनुष्य के मस्तिष्क में वाणा के केन्द्र सबसे पीछे विकसित हुए हैं। प्राचीन भारतीय संस्कृति में संगीत और काव्य दोनों ही रूपों में शब्द की विपुल महिमा का सम्बन्ध उक्त वैज्ञानिक तथ्य के साथ संगत है। प्राचीन भारतवासियों में अन्य जातियों की अपेक्षा मस्तिष्क और उसके साथ साथ वाणी का विकास संभवतः अधिक हुआ था इसी कारण वे प्राचीन काल में इतने विपुल साहित्य और इतनी समृद्ध संस्कृति का निर्माण कर सके। ऐसी स्थिति में मध्य एशिया के यायावर चरवाहों के इस विशाल साहित्य और संस्कृति के निर्माताओं के पूर्वज होने की कल्पना पूर्णतः असंगत है। केवल भाषा विज्ञान के कुछ तथ्य इस सम्बन्ध को प्रमाणित नहीं कर सकते। इन तथ्यों की व्याख्या विपरीत रूप से भी हो सकती है। भाषा विज्ञान के इन तथ्यों के सूत्र का पूर्व से पश्चिम की ओर प्रस्तार अन्ततः अधिक समीचीन सिद्ध होगा। भारतवर्ष में वास्तविक राष्ट्रीय गौरव के समुचित उत्कर्ष और पश्चिमी देशों की साम्राज्यवादी आग्रहों के शिथिल होने पर ही प्राचीन भारत के निवासियों की जाति भाषा, साहित्य, संस्कृति आदि सम्बन्धी मौलिकता को प्रमाणित और प्रकाशित होने का अवसर मिल सकेगा।

अस्तु, अन्य जातियों की अपेक्षा मस्तिष्क और उसके साथ-साथ बुद्धि एवं वाणी का अन्य जातियों की अपेक्षा अधिक विकास होने के कारण ही प्राचीन भारतवासियों ने सभ्यता और संस्कृति तथा उसके साथ संगीत एवं काव्य का इतने श्रेष्ठ रूप और विपुल परिमाण में विकास हुआ। मस्तिष्क के विकास से वाणी के विकास का घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण संस्कृति की इस परम्परा में अन्य कलाओं की अपेक्षा संगीत और काव्य की समृद्धि अधिक हुई है। उस प्राचीन काल में लिपी के द्वारा शब्द को सुरक्षित न रखने के साधन होते हुए भी तथा मूर्त्तिकला चित्रकला आदि की रचनाओं को सुरक्षित रखने के साधन सुलभ होते हुए भी उस प्राचीनतम भारतीय संस्कृति के संगीत और काव्य के रूप में जितने विपुल उदाहरण उपलब्ध होते हैं, उनकी तुलना में अल्पपरिमाण में भी उस प्राचीन काल के मूर्तिकला, चित्रकला आदि की रचनाओं को सुरक्षित रखने के साधन सुलभ होते हुए भी उस प्राचीनतम भारतीय संस्कृति के

संगीत और काव्य के रूप में जितने विपुल उदाहरण उपलब्ध होते हैं, उनकी तुलना में अल्प परिमाण में भी उस प्राचीन काल के मूर्तिकला, चित्रकला आदि के उदाहरण नहीं मिलते। वैदिक देवताओं की मूर्तियों की प्रथा के संकेत वेदों में नहीं मिलते। शिव की प्राचीनतम मूर्तियाँ तथा शिव परंपरा में मूर्त्ति की महिमा धार्मिक परंपरा में ऐतिहासिक दृष्टि से मूर्त्ति की प्राचीनता का संकेत अवश्य करती है, किन्तु वाणी के मस्तिष्कगत केन्द्र के विलंबित विकास के वैज्ञानिक मत की दृष्टि से संगीत और काव्य की शब्दमयी कलाओं की श्रेष्ठता निःसन्देह सिद्ध होती है। संगीत और काव्य की इस श्रेष्ठता में इनकी परिवर्तता का संकेत भी दिखाई देता है। शिव परंपरा में जिस प्रकार शब्द और संगीत के आदि प्रवर्तक के रूप में आगे चल कर शिव की कल्पना की गई है। उससे भी शिव परंपरा में संगीत और शब्द की श्रेष्ठता का अनुग्रहण प्रमाणित होता है। भारतीय संस्कृति की परंपरा में जिस रूप में सरस्वती की कल्पना की गई है उसमें भी वेद और वीणा के द्वारा शब्द की महिमा ही विदित होती है। उनके वाणी वाक् आदि नाम भी शब्द की महिमा का संकेत करते हैं। यद्यपि उनका वैकल्पिक वाहन मयूर चित्रकला का संकेत करता है, फिर भी सामान्य रूप से वे हंसवाहिनी के ही रूप में प्रसिद्ध हैं। हंसविवेक का प्रतीक है। जो बुद्धि का लक्षण है। बुद्धि अर्थ को प्रकाशित करती है। काव्य में शब्द और अर्थ का संगम होता है। इसीलिये आचार्यों ने उसका साहित्य नाम दिया है। तथा शब्द और अर्थ के साहित्य के रूप में काव्य की परिभाषा की है। संगीत में अर्थ का महत्व नहीं है। शुद्ध संगीत केवल ध्वनी की लय है। कला के रूप की जटिलता की दृष्टि से संगीत भी बहुत श्रेष्ठ है। एक प्रकार से संगीत कला का शुद्धतम रूप है किन्तु मानसिक विकास की दृष्टि से अर्थपूर्ण संगीत को कला का सर्वोत्तम रूप कहना उचित होगा। इस दृष्टि से वेदों के मंत्र कला के सर्वश्रेष्ठ रूप हैं। सूर, तुलसी और रवीन्द्र का काव्य भी इसी श्रेष्ठता की परंपरा में है।

मनुष्य के विकास में वाणी की श्रेष्ठता तथा काव्य में शब्द और अर्थ के संगम के कारण 'काव्य' कला का श्रेष्ठतम रूप है। शब्द और अर्थ का संगम मानवीय संस्कृति की एक अपूर्व विशेषता है। इसी विशेषता के कारण भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा में काव्य का विवेचन कला के प्रसंग में न होकर स्वतंत्र रूप में अधिक हुआ है। संगीतमय शब्द और नृत्य-कला का कुछ विकास पशुओं में भी मिलता है। किन्तु पशुओं के इस शब्द में अर्थ का स्फोट नही हो सका है। इसके लिये मस्तिष्क का जो विकास अपेक्षित है, वह मनुष्य

का ही सौभाग्य है, वह पशुओं को प्राप्त नहीं। वाणी के साथ विकसित होकर अर्थ का अनुग्रह मनुष्य की अन्य कलाओं को भी प्राप्त हुआ है किन्तु अन्य कलाओं के साथ शब्द का ऐसा आवश्यक साहित्य नहीं है जैसा कि काव्य के साथ है। अन्य कलाओं का शुद्ध रूप अर्थ से रहित भी हो सकता है। किन्तु अर्थ के बिना काव्य की कल्पना नहीं की जा सकती। अतः अर्थ की विशेष महिमा के कारण अन्य कलाओं से पृथक काव्य का स्वतंत्र विवेचन पूर्णतः समीचीन है। अत्यन्त प्राचीन काल में विकसित मस्तिष्क के कारण सबसे पहिले वेद मंत्रों के रूप में संगीतमय काव्य का विकास करने वाली जाति के लिये तो यह और भी अधिक स्वाभाविक है।

फिर भी दूसरी दृष्टि से संस्कृति और कला की व्यापक भूमिका में भी काव्य का विवेचन उचित और आवश्यक है। अन्ततः काव्य मनुष्य की एक रचनात्मक कला है, वह कला का एक उपभेद है और कला संस्कृति का एक अंग है। अतः संस्कृति और कला की व्यापक भूमिका में प्रस्तुत करने पर काव्य के स्वरूप के मर्म अधिक संगति, अधिक गंभीरता और अधिक विशदता के साथ प्रकाशित होंगे, ऐसी संभावना की जा सकती है। इसी दृष्टिकोण से एक नवीन परम्परा को ग्रहण कर इस से व्यापक भूमिका में काव्य का विवेचन हमारा अभीष्ट है। इस व्यापक दृष्टिकोण रखने पर विदित होता है कि काव्य कला का एक रूप है और कला संस्कृति का एक अंग है। संस्कृति और कला के साथ काव्य के सम्बन्ध को विषद रूप में निर्धारण करने के लिये कला और संस्कृति के स्वरूप का विवेचन अपेक्षित है। संस्कृति मनुष्य जीवन की एक विशेष विभूति है। मनुष्यों में ही संस्कृति का विकास हुआ है। पशुओं का जीवन प्राकृतिक है। उनके जीवन में जो कुछ भी होता है वह सब प्रकृति का नैसर्गिक धर्म है। उनके जीवन में जो कुछ भी सौन्दर्य और संगीत दिखाई देता है वह भी प्रकृति का सहज रूप और धर्म है। वह उन्हें प्रकृति से अनायास प्राप्त हुआ है। उसे उन पशुओं ने उपार्जित नहीं किया। अतएव उसमें पशुओं का कोई कर्तृत्व नहीं है। यह कर्तृत्व ही मनुष्य और पशु तथा संस्कृति और प्रकृति का भेदक है। प्रकृति एक नैसर्गिक व्यवस्था है जो जीवों को अनायास प्राप्त होती है। इस व्यवस्था के विधान और संचालन में कोई हस्तक्षेप अथवा श्रेय नहीं है। मनुष्य इस व्यवस्था में परिवर्तन भी प्रकृति के नियमों के अनुसार ही करता है। मूलतः इस व्यवस्था के नियम मनुष्य के आधीन नहीं हैं। प्रकृति की व्यवस्था में तथा उसके साथ अपने जीवन में कुछ परिवर्तन उत्पन्न करने में मनुष्य का कृतित्व अवश्य दिखाई देता है।

पशुओं में ऐसा कृतित्व नहीं है। मनुष्य के इस कृतित्व में ही संस्कृति का जन्म होता है। मनुष्य के इस कृतित्व का उद्योग मुख्यतः दो रूपों में होता है। एक तो मनुष्य उपयोगिता की दृष्टि से जीवन के बाह्य उपकरणों और साधनों का परिष्कार एवं वर्धन करता है। इस उपयोगिता का सम्बन्ध मनुष्य की प्राकृतिक आवश्यकताओं तथा प्राकृतिक सुख सुविधाओं से होता है। जीवन के साधनों और सुविधाओं के विकास को 'सभ्यता' का नाम देना उचित है। इसके विपरीत जीवन में ऐसे मूल्यों और साध्यों का सम्वर्धन, जो प्राकृतिक दृष्टि से उपयोगी नहीं है, 'संस्कृति' कहा जा सकता है। यही सभ्यता और संस्कृति में भेद है। सभ्यता का सम्बन्ध प्राकृतिक सुख सुविधाओं के साधन से है, जो प्राकृतिक आवश्यकताओं की दृष्टि से उपयोगी है। संस्कृति निरुपयोगी मूल्यों की साधना है।

सामान्यतः सभ्यता और संस्कृति दोनों ही मनुष्य की रचनायें हैं। दोनों को ही मनुष्य की 'कृति' कहा जा सकता है। 'कृति के सामान्य रूप में मनुष्य का उद्योग और अध्यवसाय सफल होता है। सभ्यता और संस्कृति दोनों ही मनुष्य की कृतियां हैं किन्तु संस्कृति को 'कृति' का साधारण रूप मानना उचित नहीं है। इस कृति में कुछ विशेषता है जो 'सम' उपसर्ग के द्वारा लक्षित होती है। 'सम' के अनेक अर्थ हैं, वह पूर्णतः, समानता, साम्य आदि का वाचक है। पूर्णता की परिभाषा करना कठिन है। पूर्ण कृतित्व के अन्तर्गत पूर्ण स्वतंत्रता, पूर्णकुशलता, पूर्ण आनंद आदि अनेक दुरुहभाव अन्तर्निहित है। अपूर्णता की अवस्था में पूर्णता की कल्पना करना कठिन है। समानता का सामान्य अर्थ दो इकाइयों की तुल्यता है, जिनमें कोई एक दूसरे से अधिक नहीं होती। यदि इस 'तुल्यता' को परिमाण की अपेक्षा भाव की दृष्टि से देखें तो इसका अभिप्राय 'साम्य' का समानार्थक होगा। साम्य का तात्पर्य भी समानता की अपेक्षा सामंजस्य अधिक है। सामंजस्य का निषेधात्मक रूप विषमता का अभाव है। साम्य की भांति विषमता में भी परिमाण की अपेक्षा भाव का महत्व अधिक है। निषेधात्मक अर्थ में साम्य विषमता का अभाव है। विरोध और हीनता इस वैशम्य के मूल तत्व हैं। जहां विरोध जनित संघर्ष नहीं है और जहां एक इकाई की श्रेष्ठता दूसरी इकाई की हीनता का कारण नहीं बनती वहां साम्य की संभावना हो सकती है। यह साम्य का निषेधात्मक रूप है। भावात्मक रूप में 'साम्य' इकाइयों का आन्तरिक सामंजस्य है, जो उनके परस्पर संभावन में फलित होता है। भक्ति

परम्परा का 'दोऊ परे पैंया' साम्य के इस परस्पर संभावन का एक उत्तम उदाहरण है।

मनुष्य की रचनाओं में जहां ऐसा साम्य रहता है, वहीं संस्कृति का रूप प्रकाशित होता है। जीवन के बाह्य उपकरणों और साधनों के जिस विकास को हमने सभ्यता का नाम दिया है, उसमें भी इस साम्य की सम्भावना हो सकती है। किसी सीमा तक सभ्यता के विकास में यह साम्य सम्पन्न हुआ है। फिर भी प्राकृतिक होने के कारण सभ्यता के इन रूपों में विरोध और संघर्ष की सहज संभावना रहती है। सभ्यता के रूपों में जितना भी साम्य सम्पन्न हुआ है वह प्रकृति की प्रेरणाओं के आधार पर नहीं, वरन् इन प्रेरणाओं के ऊपर उन मूल्यों के अनुशासन से हुआ है जिन्हें सहज और प्राकृतिक नहीं कहा जा सकता इन मूल्यों को हम आध्यात्मिक कह सकते हैं। ये जीवन के आदर्शों और सिद्धान्तों के रूप में आध्यात्मिक मूल्य प्राकृतिक प्रेरणाओं की मर्यादा बनते हैं। यह मर्यादामयी प्रकृति ही संस्कृति का पीठ बनती है। फिर भी प्रकृति और संस्कृति में मौलिक भेद है। कार्य कारण के सिद्धान्त से संचालित प्रकृति के धर्म और व्यापार अनिवार्य हैं। संस्कृति के आध्यात्मिक मूल्य सहज और अनिवार्य नहीं, वरनु मनुष्य के अध्यवसाय के द्वारा चरितार्थ होते हैं। इन आध्यात्मिक मूल्यों में ही संस्कृति के साम्य का स्रोत है। व्यापारों की अनिवार्यता के अतिरिक्त इकाई के बिन्दुओं की स्वार्थनिष्ठता भी प्रकृति का लक्षण है। इन बिन्दुओं के स्वार्थ गत विरोध से ही वैशम्य और संघर्ष उत्पन्न होता है। इसके विपरीत संस्कृति का साम्य इकाइयों के 'समात्मभाव' में सम्पन्न होता है, जिसे वेदान्त की भाषा में 'अद्वैत कह सकते हैं। अद्वैत केवल द्वैत अथवा भेद का निषेध करता है। समात्मभाव में इकाइयों के भावात्मक साम्य का संकेत है। जहां इकाइयों का प्राकृतिक विरोध एक दूसरे की हीनता की आकांक्षा करता है, वहां सांस्कृतिक साम्य एक दूसरे के परस्पर संभावन और उत्कर्ष की साधना करता है। यही साम्य संस्कृति के कृतित्व की उस विशेषता का द्योतक है, जो उसके 'सम्' उपसर्ग से लक्षित होती है।

इस प्रकार यद्यपि संस्कृति भी 'कृति' का ही एक रूप है किन्तु मनुष्य की समस्त कृतियों को संस्कृति की परिधि में समाहित नहीं किया जा सकता। संस्कृति की पश्चिमी और आधुनिक परिभाषा के अनुसार 'संस्कृति' एक प्रकार से 'कृति का पर्याय है। मनुष्य की सभी रचनायें संस्कृति का अंग मानी जाती है। संस्कृति की इस धारणा का मूल अंग्रेजी के 'कलचर' शब्द में है जो

सामान्यतः मनुष्य की कृति मात्र का समानार्थक है। कलचर में संस्कृति के 'सम' के समान किसी उपसर्ग का सन्निकर्ष नहीं है जो समस्त कृति की विशाल परिधी को किसी विशेषता के द्वारा मर्यादित कर सके संस्कृति सम्बन्धी पूर्वीय और पश्चिमी धारणाओं में जो अन्तर है उसका मूल बहुत कुछ सीमा तक भाषा विज्ञान में संस्कृति की भारतीय धारणा में 'सम' के उपसर्ग से लक्षित साम्य की जो मर्यादा अभीष्ट है, उसका संकेत संस्कृति के पद में ही अन्तर्निहित है। इस साम्य का कुछ विवरण ऊपर किया गया है। इकाइयों के परस्पर संभावन और सामंजस्य के अतिरिक्त 'सम' के प्रत्यय का एक तांत्रिक अर्थ भी सम्भव है, जो शिव परम्परा के अनुकूल है। व्याकरण के अनुसार 'स' विसर्ग का पर्याय है और 'म' बिन्दु का पर्याय है। शैव तंत्र में विसर्ग का अर्थ सृष्टि है जो 'शक्ति' का चमत्कार है। तथा बिन्दु का अर्थ पूर्ण अहंकार रूप पर शिव तथा परंपरा से सृष्टि के अन्य बिन्दुओं (इकाइयों) से है। विसर्ग को 'विमर्श' और बिन्दु को 'प्रकाश' कहते हैं। शैव तंत्र का पूर्ण सत्य इन दोनों का साम्य है। साम्य का अर्थ परस्पर संभावन है। शक्ति की प्रतीक 'चन्द्रकला' को शिव अपने शीष पर धारण करते हैं। यह उस संभावन का ही सूचक है। शैव तंत्र में 'कला' और शक्ति एक दूसरे के पर्याय हैं। सृजनात्मक होने के कारण शक्ति को कला कहते हैं। कला सौन्दर्य की सृष्टि है। इसलिये शक्ति की 'सुन्दरी' संज्ञा है। शैव तंत्र का सम्वत साम्य केवल दो इकाइयों का अवरोध पूर्ण सामंजस्य नहीं है, वरन् इसमें आन्तरिक प्रकाश के भाव और बाह्य विमर्श के सृजन का साम्य भी निहित है। भाव की समृद्धि से युक्त सृजन की परंपरा को साम्य का तांत्रिक अर्थ कह सकते हैं। सृजन एक परंपरा है। प्राकृतिक सृष्टि में भी इस परंपरा का निरन्तर क्रम मिलता है।

इस प्रकार सृजन और परंपरा के भाव संस्कृति के महत्वपूर्ण तत्व हैं। जीवन की सृजनात्मक परंपरा बन कर ही परंस्पर संभावन का साम्य संस्कृति को जन्म देता है। मनुष्य की सम्पूर्ण कृतियों में यह विशेषता नहीं रहती। इसीलिये कृति मात्र को संस्कृति मानना उचित नहीं है। सृजन और परंपरा में भी एक गहन साम्य है। सृजन ही परंपरा के क्रम का निर्माण करता है। सृजन का मुख भविष्य की ओर रहता है। परंपरा में भूत का भी समाहार है, यद्यपि भाषा के व्यवहार में परंपरा प्राचीन रूढ़ि का पर्याय बन गई है किन्तु मूलतः वह प्रवर्तमान क्रम है, जो भूत का समाहित कर निरन्तर भविष्य की ओर अग्रसर होता है। परंपरा का यह अर्थ उसकी व्युत्पत्ति में मिहित है। संस्कृति का सृजनात्मक परंपरा एक और

अतीत की धरोहर को अपने अञ्चल में बांधती है और दूसरी ओर निरन्तर सृजनात्मक गति से भविष्य की ओर बढ़ती है । इस दृष्टि से संस्कृति की परम्परा प्रकृति की परम्परा से भिन्न है। प्रकृति की परम्परा केवल भविष्य की ओर बढ़ती है, उसमें अतीत का संरक्षण नहीं है । इसका कारण यह है कि प्रकृति जड़ है । उसमें चेतना नहीं । चेतना में स्मृति की धारणा के द्वारा अतीत का संरक्षण होता है । मनुष्य की समृद्ध चेतना ही उसे संभव बनाती है। संस्कृति की परम्परा में 'भाव' और 'रूप' दोनों का सृजन होता है। जब कि प्रकृति की परंपरा में केवल रूप का सृजन होता है। अतीत के क्रम से सम्बन्ध होते हुए भी परंपरा के भावों और रूपों का निरन्तर नवीन सृजन होता है। इस दृष्टि से सृजन ही परंपरा संस्कार करके ही सृजन का क्रम निरन्तर बना रहता है। इस प्रकार सृजनात्मकता संस्कृति का मूल मर्म है, जो शैवतंत्र के साम्य के अनुरूप है। प्रकृति और संस्कृति दोनों के क्षेत्र में यह सृजनात्मक परंपरा स्रष्टाओं के सृजन के द्वारा निरंतर बनी रहती है। मानवीय संस्कृति की परंपरा में भाव और रूप के सृजन का साम्य शैव तंत्र के अनुरूप है । पर्व, उत्सव, संस्कार आदि की जीवन्त सांस्कृतिक परंपरा में वह साम्य साकार हुआ है ।

संस्कृति की सृजनात्मक परंपरा में भाव और रूप दोनों का समान महत्व है, फिर भी भाव मानवीय संस्कृति की विशेषता है। रूप की परंपरा प्रकृति में भी दिखाई देती है। भाव ही प्रकृति से मानवीय संस्कृति का भेदक है। भाव का अधिष्ठान मनुष्य की चेतना है, जो अपनी समृद्धि के साथ भाव की समृद्धि को सम्भव बनाती है। भाव के महत्व का अभिप्राय ऊपर निर्दिष्ट साम्य को भंग करना नहीं है, वरन् एक प्रकार से भाव ही विसर्ग और बिन्दु के साम्य को सम्भव बनाता है और सुरक्षित रखता है । प्रकृति में चेतना न होने के कारण भाव का साम्य नहीं है, यद्यपि सृजनात्मक परंपरा उसमें भी है। समृद्ध चेतना के कारण मनुष्य की सांस्कृतिक परंपरा में भाव को रूप दोनों के सृजन और साम्य का क्रम संभव है । भाव के बिना रूप का सृजन भी सार्थक नहीं हो सकता। भाव की चेतना रूप का दर्पण और साक्षी है। रूप की सार्थकता ही भाव के सक्षित्व और संभावन पर निर्भर है। अतः साम्य का भंग न करना अभीष्ट होते हुए भी मानवीय संस्कृति में भाव की विशेष महिमा है। भाव की इस महिमा के कारण ही संस्कृति के मौलिक अर्थ का सूत्र भाव में ही निहित है। भाव मनुष्य की चेतना का विस्तार और संस्कार है। यह संस्कार जीवन के कुछ मौलिक मूल्यों के आधार पर

मर्यादा के द्वारा सम्पन्न होता है। सामान्यतः हम इन मूल्यों को नैतिक मान सकते हैं। यद्यपि इनको आध्यात्मिक कहना अधिक उचित है। नैतिक मूल्य इन आध्यात्मिक मूल्यों के ही व्यवहारिक फल हैं। भाव के रूप की भी कल्पना की जा सकती है। इतना स्पष्ट है कि यह रूप सूक्ष्म ही होगा। भाव की आन्तरिक और सामाजिक अभिव्यक्ति में भाव का यह रूप प्रकट होता है। सामाजिक सम्बन्धों की विशेष स्थितियाँ इस रूप की अच्छेदक बनती हैं। इस प्रकार भाव की परम्परा भी रूप के साम्य से केवल आध्यात्मिक न रहकर सांस्कृतिक भी बन सकती हैं। संस्कृति के इसी अर्थ के आधार पर मनुष्य के व्यवहार के शील और सौन्दर्य को संस्कृति का मूल भाव लक्षण माना जाता है और सामाजिक व्यवहार में उसकी सराहना की जाती है। मनुष्य की कृति मात्र को संस्कृति मानने वाली व्यापक और वैज्ञानिक परिभाषा के अनुसार इसे 'संकृति' शब्द का अवैज्ञानिक प्रयोग माना जाता है। किन्तु भारतीय धारणा के अनुसार व्यवहार का शील और सौन्दर्य ही संस्कृति का मूल भाव है।

परंपरा सम्भावना का सृजनात्मक साम्य ही इस भाव को सांस्कृतिक बनाता है। अनुरूप भाव के प्रेरक होने के कारण सांस्कृतिक भाव सृजनात्मक कहे जा सकते हैं। सामाजिक प्रेरणा के अतिरिक्त अपने आत्मिक और आन्तरिक रूप में भी यह भाव सृजनात्मक है। संस्कृति की वर्तमान वैज्ञानिक परिभाषा के अनुकूल न होते हुए भी सृजनात्मक भाव की प्रधानता के अर्थं में संस्कृति का प्रयोग संस्कृति की भारतीय धारणा और परम्पर के पूर्णतः अनुरूप हैं।

लोक संस्कृति की जिस जीवन्त परंपरा मैं संस्कृति की साधना चरितार्थ हुई है, उसमें यह मूल सांस्कृतिक भाव जीवन के स्थूल और सुन्दर रूपों में साकार हुए हैं। केवल सृजनात्मक भाव की तुलना में इस लोक संस्कृति की परंपरा को संकृति का दूसरा अर्थ अथवा पर्व कह सकते हैं। संस्कृति की यह दूसरी कोटि भारतीय पर्वों, उत्सवों, संस्कारों आदि की परम्परा में एक सम्पन्न एवं समृद्ध रूप में मिलती है। रूप की विपुलता होते हुए भी लोक संस्कृति की इस जीवन्त परंपरा में भाव की भी प्रचुरता है। तथा भाव और रूप दोनों का समुचित साम्य है। किन्तु इस साम्य में भी भाव की महिमा अधिक है, जो संस्कृति की उस भारतीय धारणा के अनुरूप है, जिसका विवरण ऊपर किया गया है। यद्यपि इस साम्य का अभिप्राय

भाव और रूप का समान महत्व तथा उनका परस्पर संभावन है । फिर भी इस साम्य की रक्षा भाव की महिमा के द्वारा ही होती है। शैवतन्त्र में शिव की महिमा भाव की महिमा की ही द्योतक है । मनुष्य के जीवन और व्यवहार में भाव की उपेक्षा की संभावना अधिक होने के कारण साम्य की रक्षा के लिये भाव की महिमा उपेक्षित है। रूप में एक सहज आकर्षण है। इसीलिये भाषा के व्यवहार में रूप, शब्द, सौन्दर्य का पर्याय बन गया है। प्रकृति के रूपों में आदि शक्ति की अभिव्यक्ति है। मनुष्य की रचना के रूप बहुत कुछ मनुष्य के अध्यवसाय के फल हैं। किन्तु प्रत्यक्ष में प्रकृति की रूप रचना भाव रहित है। मनुष्य की रूप रचना में भी भाव की उपेक्षा और उसके फल स्वरूप भाव और रूप के वैशम्य की आशंका रहती है । इसीलिये साम्य के स्वीकार करते हुए भी संस्कृति की भारतीय धारणा में और भारतीय लोक संस्कृति की जीवन्त परंपरा में भाव को प्रधानता दी गई है। लोक संस्कृति की जीवन्त परंपरा में रूप के अल्प और सरल उपकरण विपुल भाव के निमित्त बनते हैं। सांस्कृतिक परंपरा में अभिनव रूपों की रचना का क्रम मन्द हो गया है। प्रायः उन्हीं रूपों की नव-नव रचना इस परंपरा का प्रमुख रचनात्मक तत्व है। इस लोक संस्कृति की समस्त परंपरा में रूपों की विपुल विविधता होते हुए भी रूपों की यह सीमा उनकी एकाङ्गी समृद्धि को सीमित कर देती है। यही सीमा भाव की समृद्ध तथा भाव और रूप के साम्य की रक्षा करती है। भाव की महिमा के सम्बन्ध में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वास्तविक होने पर भाव की समृद्धि किसी प्रकार भी रूप की उपेक्षा नहीं कर सकती, वरन् वह रूप का बहुत ज्यादा आदर करती है। रूपों की सृजनात्मिका शक्ति की प्रतीक चन्द्रकला को शिव शीष पर धारण करते हैं। शिव का यह रूप भाव के द्वारा रूप के आदर का प्रमाण है। किन्तु मानवीय जीवन में रूप का महत्व बढ़ने पर भाव की उपेक्षा की आशङ्का सत्य हो रही है। जीवन के उपकरणों में रूप का वैभव जितना बढ़ता जाता है उतना ही मनुष्य का जीवन भावशून्य एवं नीरस बनता जा रहा है। आधुनिक कला और काव्य के सम्बन्ध में भी बहुत कुछ सही है। इसीलिये रूप का अतिशय महत्व जीवन, संस्कृति और कला के ह्रास का लक्षण बनता है। दूसरी ओर भाव की समृद्धि भी रूपकी उपेक्षा का कारण नहीं बनती। साम्य का सूत्र भाव के स्वरूप में ही सन्निहित है। रूप के संबंध में यह नहीं कहा जा सकता। भाव अपने स्वरूप में संस्थित रहते हुए भी तथा अपने अन्तर्गत रूपों में ही अपने कृतित्व को सार्थक बनाने में समर्थ होते हुए भी लोक जीवन में बाह्य रूपों की रचना में सहज ही साकार होता है तथा इस प्रकार

संस्कृति के अभीष्ट साम्य को जीवन में चरितार्थ बनाता है। भारतीय लोक संस्कृति की प्राचीन और समृद्ध परंपरा संस्कृति के इस साम्य की चरितार्थ का एक उत्तम उदाहरण है। यह संस्कृति का वह माध्यमिक रूप है जो भाव और रूप दोनो की अतिरञ्जना से बचकर अल्प और सरल रूपों की विविधता में भाव की ससृद्धि को साकार बनाकर संस्कृति को चरितार्थ और जीवन को कृतार्थ बनाता है।

जीवन के व्यवहार को शील और सौन्दर्य से अनुप्राणित करने वाले भाव ही सँस्कृति की आत्मा हैं। इन भावों से अनुप्राणित लोक संस्कृति की जीवन्त परंपरा संस्कृति का साकार और सन्देह रूप है। किन्तु संस्कृति के प्रामाणिक ग्रन्थों में संस्कृति के उक्त दोनों रूपों की उपेक्षा की गई है। सँस्कृति का भाव–रूप व्यावहारिक किन्तु अवैज्ञानिक के विवरणों में अवश्य कुछ स्थान दिया जाता है। किन्तु आश्चर्य की बात है कि भारतीय संस्कृति के विवरणों में भारतीय लोक संस्कृति की चर्चा भी नहीं है। भारतीय संस्कृति के इतिहासों में हमारे पर्वों, उत्सवों, संस्कारों आदि का उल्लेख भी नहीं है। जब कि भारतीय समाज के इतिहास में लोक संस्कृति की एक अत्यंत प्राचीन और अत्यंत समृद्ध परम्परा मिलती है। इतनी समृद्ध और लोक-परंपरा विश्व को किसी भी समाज में मिलना कठिन है। यह लोक संस्कृति पश्चिमी परिभाषा से सङ्गत लोक संस्कृति नहीं है, जो नागरिकों द्वारा छोड़ी जा चुकी है। तथा केवल ग्रामीणों और आदिम वासियों में पाई जाती है। यह वह लोक संस्कृति है जो भारतवर्ष की ग्रामीण और नागरिक दोनों प्रकार की जनता के जीवन को समान रूप से उल्लासपूर्ण बनाती है। साधनों के सुविधा और समृद्धि के कारण इस लोक-संस्कृति के अनेक रूप नागरिक जीवन में अधिक वैभवपूर्ण दिखाई देते हैं। किन्तु खेद की बात है कि जिस सांस्कृतिक परंपरा से नागरिकों और विद्वानों का जीवन भी उल्लासपूर्ण बनता है। उसे नागरिक विद्वानों ने भी अपने सांस्कृतिक विवरणों में कोई स्थान नहीं दिया है। पश्चिमी देशों में लोक संस्कृति की ऐसी व्यापक और समृद्ध परंपरा नहीं है। केवल पुरातत्व के लिये महत्व रखने वाले कुछ अवशेषों को छोड़कर पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति का इतिहास बहुत अर्वाचीन है और वह लोक संस्कृति की परम्परा को छोड़कर नागरिक जीवन की अभिजात संस्कृति से आरम्भ होता है। किसी समृद्ध और व्यापक लोक संस्कृति के अभाव में अभिजात संस्कृति को ही पश्चिमी विद्वानों ने संस्कृति का एक मात्र रूप मान लिया है। आधुनिक भारतीय विद्वान पश्चिमी

धारणाओं और परिभाषाओं को स्वीकार करने में ही अपनी प्रतिभा की कृतार्थता मानते हैं। पश्चिमी मान्यता के आधार पर ही उन्होंने अपनी समृद्ध लोक संस्कृति की अपेक्षा करके केवल अभिजात संस्कृति के इतिहास को ही संस्कृति के सम्पूर्ण विवरण के रूप में प्रस्तुत किया है। इस अभिजात संस्कृति का रूप, कला, साहित्य, धर्म, दर्शन, राज्यतन्त्र, व्यवसाय आदि का संकलन मात्र है। ये सब मनुष्य की कृतियां हैं। इसके अतिरिक्त इनका और कोई सामान्य लक्षण नहीं है। संस्कृति की इस धारणा का आधार 'कृति' के साथ संस्कृति का पश्चिमी पर्याय है। मानवीय कृतित्व की समानता को छोड़ कर कला, दर्शन, व्यवसाय आदि में मौलिक भेद है। मानवीय कृतित्व के अतिरिक्त जीवन के इन विभिन्न रूपों में अन्य कोई सामान्य लक्षण ढूढ़ना कठिन है। इसके अतिरिक्त संस्कृति को संकलित धारणा के ये विविध रूप अभिजात वर्ग की रचनायें हैं। इनकी रचना, प्रक्रिया और इनके आनन्द में सर्वसाधारण का वैसा स्वतन्त्र और गौरवपूर्ण अधिकार नहीं है, जैसा कि इस अभिजात संस्कृति का निर्माण करने वाले धर्म, दर्शन, साहित्य आदि की रचना तथा उसके आस्वादन में सर्वसाधारण का कोई सक्रिय भाग नहीं होता। संस्कृति के ये रूप कुछ विशिष्ट व्यक्तियों की रचना है। सर्वसाधारण इसके अधिकांश परिमाण से अनभिज्ञ रहते हैं। इसके जिस अंश से वे अभिज्ञ होते हैं उसके भी वे केवल उदासीन प्रेक्षक मात्र रहते हैं। यदि सक्रिय सृजनात्मकता मनुष्य की संस्कृति का लक्षण है तो संस्कृति के इन रूपों को केवल इसके प्रणेताओं की संस्कृति कहा जा सकता है। अन्य जनों के लिये वह अतीत की धरोहर मात्र है। साधारण जन अपने को उस धरोहर के भी अधिकारी नहीं समझते। उनके इस अधिकार में संस्कृति के इन रूपों के प्रणेताओं का मानसिक, सामाजिक और आर्थिक वैभव बाधक है। भारतीय संस्कृति के अधिकांश इतिहासकारों ने इस अभिजात संस्कृति को ही पश्चिमी विद्वानों के निर्देश के आधार पर संस्कृति का सर्वस्व मानकर भारतीय संस्कृति के नाम से इसी का विवरण प्रस्तुत किया है।

संस्कृति का यह अभिजात रूप सामान्यतः कला, साहित्य, दर्शन, धर्म, व्यवसाय आदि मनुष्य के अनेक विधिकृतित्वों का संकलन माना जाता है। प्रायः संस्कृति के इन रूपों में कला को अधिक महत्व दिया जाता है। संस्कृति की लोक सामान्य धारणा में भी कला को अधिक महत्व दिया जाता है। अधिकांश लोग कला को ही संस्कृति समझते हैं। आजकल नृत्य, गान, आदि के कलात्मक प्रदर्शन को ही सांस्कृतिक कार्यक्रम कहा जाता है। पूर्णतः सत्य

न होते हुए भी कला और संस्कृति का यह एकीकरण बहुत कुछ संगत है। संस्कृति की किसी भी परिभाषा के अनुसार संस्कृति के सबसे अधिक निकट है। इतना अवश्य है कि कला के विभिन्न रूपों को ही संस्कृति का सर्वस्व नहीं माना जा सकता। किन्तु कला का सामान्य और मौलिक स्वरूप संस्कृति की आत्मा के अत्यन्त निकट है। संस्कृति की प्रचलित धारणा के अनुसार कला संस्कृति का केवल एक अंग है किन्तु हमारे मत के अनुसार कला संस्कृति की आत्मा है। धर्म, दर्शन, राजतंत्र, व्यवसाय आदि की अपेक्षा वह संस्कृति की भावना के अधिक निकट है। धर्म, राज्यतन्त्र व्यवसाय आदि की अपेक्षा ऐतिहासिक रूपों में उस साम्य की अपेक्षा विरोध ही अधिक मिलेगा, जिसे हमने भारतीय धारणा के अनुसार संस्कृति का आवश्यक लक्षण माना है। प्रायः इनके रूप समाज के प्राकृतिक नियमों के अनुसार घटित और विकसित हुए हैं तथा उनमें मनुष्य के स्वतन्त्र और सृजनात्मक कृतित्व के लक्षण ढूंढ़ना कठिन है। कला और साहित्य में भी प्रकृति का प्रभाव बहुत मिलेगा, फिर भी कला, साहित्य और दर्शन में सांस्कृतिक सृजनात्मकता अधिक मिल सकेगी। साहित्य की गणना तो कलाओं के भेदों में ही की जाती है। दर्शन में प्रायः बौद्धिकता का प्रभाव रहता है। वह सत्य और श्रेय का अनुसन्धान है, किन्तु दर्शन में सृजनात्मक सौन्दर्य की आभा बहुत कम मिलती है। इस दृष्टि से कला संस्कृति के सबसे अधिक निकट है। इसी निकटता के कारण सामान्य व्यवहार में कला को ही संस्कृति समझा जा सकता है। पश्चिमी विद्वानों द्वारा प्रचलित और भारतीय विद्वानों से स्वीकृत संस्कृति की संकलित परिभाषा के अनुसार कला संस्कृति का एक अंग है। हमारे मत में कला को संस्कृति का अंग ही मानने की अपेक्षा संस्कृति का प्राण अथवा संस्कृति की आत्मा माना अधिक उचित है। लोक संस्कृति की जीवन्त परम्परा में जिस प्रकार कला की आत्मा ओतप्रोत मिलती है उससे संस्कृति और कला की अंगागिता की अपेक्षा परस्पर आत्मीयता ही अधिक प्रकट होती है।

संस्कृति और कला के सामान्य रूप पर विचार करने पर उनकी इस आत्मीयता के सूत्र स्पष्ट हो जाते हैं। अपने मूल और सामान्य रूप में कला और संस्कृति दोनों ही सृजनात्मक हैं। दोनों की सृजनात्मकता में प्राकृतिक उपयोगिता की अपेक्षा प्राकृतिक दृष्टि से निरुपयोगी भावों और रूपों की प्रेरणा अधिक रहती है। प्राकृतिक प्रेरणा में प्रकृति की ही परतन्त्रता रहती है और मनुष्य की स्वतन्त्रता का अवकाश कम रहता है। प्राकृतिक दृष्टि से

निरुपयोगी भावों और रूपों के सृजन में मनुष्य की स्वतंत्रता अधिक स्फुट रूप में प्रकाशित होती है। यह स्वतन्त्रता ही सौन्दर्य और आनन्द का स्रोत है। संस्कृति के साम्य में यह स्वतन्त्रता अन्तर्निहित है। तन्त्रों की कला भी इसके अनुरूप है। शैव तन्त्रों की चिति शक्ति जिसे कला कहते हैं स्वतंत्र मानी जाती है। स्वतन्त्रता ही सांस्कृतिक साम्य का मर्म है,सृजनात्मकता, स्वतन्त्रता निरुपयोगिता, सौन्दर्य, आनन्द आदि की दृष्टि से कला और संस्कृति के स्वरूप में मौलिक समानता है। सृजनात्मिका शक्ति के रूप में कला की तान्त्रिक धारणा इस समानता का समर्थन करती है। संस्कृति शब्द की व्युतपत्ति में ही कृतित्व के रूप में सृजनात्मकता का बीज निहित है। किन्तु कला और संस्कृति इस समानता के साथ २ दोनों में महत्वपूर्ण भेद है। दोनों में एक महत्वपूर्ण भेद यह है कि जहाँ संस्कृति में भाव की प्रधानता होती है, वहाँ कला में रूप की प्रधानता होती है। संस्कृति के मौलिक और प्रथम रूप को हमने भावमय ही माना है। संस्कृति की जीवन्त परम्परा में रूप की प्रधानता नहीं होती तथा अल्प एवं सरल रूपों के निमित्तों में उच्छलित होने वाले प्रचुर भावों की प्रधानता भाव और रूप के साम्य का संरक्षण करती है। भाव की प्रधानता किस प्रकार इस साम्य का संरक्षण करती है, इसका संकेत हम ऊपर कर चुके हैं। सभी धरातलों पर संस्कृति और कला में यह भेद नहीं होता। लोक कला में रूप की इतनी प्रधानता नहीं होती तथा भाव और रूप का ऐसा ही साम्य रहता है जैसा कि लोक संस्कृति में मिलता है। इसीलिये लोक कला और लोक संस्कृति इतने अभिन्न रहते हैं कि उनमें भेद करना कठिन है। जिस अभिजात कला को संस्कृति के अधिकारी संस्कृति का अङ्ग मानते हैं। उसमें निःसन्देह रूप की प्रधानता बढ़ने लगती है और उसके फलस्वरूप भाव मन्द होने लगता है इस रूप-प्रधान कला के विधायकों का अभिजात्य ही वैशम्य का अंकुर है। कला के रूप वैभव की दृष्टि से यह सराहनीय है। किन्तु सांस्कृतिक जीवन के साम्य की दृष्टि से यह हितकर नहीं है। वैशम्य के कारण ही अभिजात कला सामान्य लोक की रुचि का अवलंब नहीं बन पाती। जिस अभिजात संस्कृति का यह अभिजात कला अंग मानी जाती है, वह अभिजात संस्कृति भी अपने ऐतिहासिक रूपों में इतनी ही कम लोक प्रिय है, जितनी कि अभिजात कला है। जीवन्त लोक संस्कृति की लोकप्रिय परम्परा की तुलना में अभिजात कला की उक्त विषमता विचारणीय है।

परम्परा की दृष्टि से भी संस्कृति और कला में अन्तर है। भाव-

रूप संस्कृति की परम्परा तो आत्मिक संस्कारों का एक आन्तरिक क्रम है, जो अपनी प्रक्रिया में सृजनात्मक और अपने रूप में सामाजिक होता है। बाह्य निमित्तों के बिना इस परम्परा के निर्वाह की सम्भावना कठिन है किन्तु भावरूप संस्कृति की परम्परा के लिये इन निमित्तों का कोई ऐसा स्थायी रूप आवश्यक नहीं है, जो युग २ तक उसी रूप में चलता रहे। सम्बन्ध, व्यवहार और उपकरणों के रूप इस परम्परा के निमित्त भाव होते हैं। मुख्य रूप से इसमें भाव की ही प्रधानता होती होती है, जो व्यवहार के शील और सौन्दर्य को ज्योति करता है। ऐसी भाव रूप संस्कृति की परम्परा का निर्वाह अत्यन्त दुर्लभ है। प्राचीन भारतवर्ष में उपनिषदों और आश्रमों के युग में जितने सफल और सम्पन्न रूप में ऐसी परम्परा मिलती है वैसे रूप में वह विश्व के इतिहास में कदाचित् ही अन्यत्र मिल सकेगी। भारतीय लोक जीवन और लोक-संस्कृति की धारा में प्रवाहित भाव की गंगा का स्रोत इसी परम्परा के मानसरोवर में है। इस लोक संस्कृति की परम्परा में भाव की प्रवणता बहुत है। यह परम्परा भी सामाजिक और सृजनात्मक है किन्तु भाव रूप संस्कृति की परम्परा के विपरीत इस परम्परा में भाव की के निमित्त अधिक स्थायी बन जाते हैं। सृजनात्मक होते हुए भी इन भावों का रूप कुछ निश्चित बन जाता है। सम्बन्धों, व्यवहारों और उपकरणों के जो रूप इन भावों के निमित्त बनते हैं वे और भी अधिक स्थिर बन जाते हैं। इसकी सृजनात्मकता एक प्रकार की आवृत्ति बन जाती है। इसीलिये लोक संस्कृति की परम्परा के मन्द होने का भय रहता है। इन रूपों की एकरूपता अन्य प्रकार से हित-कर अवश्य है। वह लोक के संस्कृति जीवन में समात्मभाव का एक सुदृढ़ और सुलभ अवलम्ब प्रदान करती है। इसके साथ २ वह लोक की साधारण सृजनात्मक प्रतिभा को इतना उदार अवसर देती है, जितना कि संस्कृति का कोई अन्य रूप नहीं दे सकता। भावरूप संस्कृति की परम्परा अधिक स्वतन्त्र और अधिक सृजनात्मक अवश्य है। किन्तु आत्मा का समुचित उदय न होने के कारण लोक साधारण के लिये इतनी स्वतन्त्र परम्परा का निर्वाह सम्भव नहीं है। लोक साधारण में प्रकृति के प्रबलतर प्रभाव के कारण भाव रूप संस्कृति की परम्परा बाह्य निमित्तों का अधिकार अवलम्ब ग्रहण करने लगती है, फिर भी लोक-संस्कृति की परम्परा में भाव और निमित्त अथवा भाव और रूप का समुचित साम्य है। इसी साम्य के कारण यह परम्परा इतनी स्थायी और आनन्दमय सिद्ध हुई। निमित्तों के एक ही रूप की आवृत्ति भी सहज समात्मभाव

का अवसर बन कर संस्कृति के आनन्दमय प्रयोजन को सफल बनाती है।

इसके विपरीत कला की परम्परा नव-नव कर्त्ताओं के द्वारा नव-नव रूपों का सृजन है। परम्परा का यह रूप केवल ऐतिहासिक और कलागत है। काल के अतिरिक्त इस परम्परा में क्रम का कोई अन्य अवलम्ब अधिक महत्वपूर्ण नहीं रहता। कला की शैली साहित्य की भाषा आदि कुछ रूपों की अल्पकालिक एकता अथवा उनकी आंशिक समानता आदि कुछ बाह्य निमित्त भी कला की परम्परा के अवलंब बन जाते हैं किन्तु इन निमित्तों में दीर्घकालीन एकरूपता की सम्भावना लोक संस्कृति के रूपों की अपेक्षा बहुत कम होती है। इतिहास के विशाल युगों में कला के इन रूपों के सापेक्ष एक रूपता भी कठिन है। संपूर्ण इतिहास अथवा अधिक विशाल युगों में काल के अनिवार्य क्रम के अतिरिक्त कला की परंपरा का अन्य कोई संपन्न अवलंब नहीं रहता। केवल कालक्रम पर अवलंबित परंपरा का दीनतम रूप है। लोक संस्कृति की परंपरा के विपरीत कला की परंपरा में निमित्तों और रूपों की एकता न होने के कारण कला में समात्मभाव का आधार भी मंद हो जाता है, यद्यपि परोक्ष समात्म भाव का आधार कला के लिये भी आवश्यक है। फिर भी लोक संस्कृति का जैसा साक्षात् समात्मभाव उसमें संभव नहीं रहता। इस साक्षात् समात्मभाव का ग्रहण कलाकृतियों में केवल विषय तत्व के रूप में हो सकता है, किन्तु कला की रचना में साक्षात् समात्व भाव का आधार मन्द हो जाने के कारण कला के विषय तत्व के रूप में भी सम्पन्न समात्मभाव का ग्रहण अधिक नहीं हुआ है। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' और 'रामचरितमानस' जैसी कृतियां सम्पन्न समात्म भाव के कारण ही इतनी श्रेष्ठ एवं लोक-प्रिय हैं। उक्त रूप में कला की परंपरा दीन होने के कारण लोक-संस्कृति के ह्रास के साथ-साथ कला के प्रति भी लोक की रुचि मन्द होती गई है। सृजनात्मक समात्मभाव ही लोक की सांस्कृतिक रुचि का मूल आधार है। कला निःसन्देह सृजनात्मक है किन्तु अभिजात्य के अनुरोध के कारण कला के सृजन में साक्षात् समात्मभाव का आधार क्षीण हो जाता है तथा कला का कृतित्व एक व्यक्तिगत अध्यवसाय बन जाता है। कर्त्ता और कृति दोनों ही रूपों में कला की परंपरा इकाइयों की परंपरा बनती है। चित्रकला, मूर्त्तिकला, साहित्य आदि जिन कलाकों की ऐतिहासिक परम्परा इनके माध्यमों के विशेष गुणों के कारण अधिक सुरक्षित रह सकती है, उनके

विषय में यह अधिक सत्य है। संगीत और नृत्य की सृजनात्मक स्थिति में इन कलाओं से अधिक साक्षात समात्मभाव निहित रहता है। इसी कारण संगीत और नृत्य में कला के एक रूप की परंपरा अधिक स्थायी रूप में मिलती है, चाहे वह परंपरा लोक संस्कृति के समान व्यापक न बन सके। कला के सृजन में साक्षात् समात्मभाव के मन्द होने के कारण उसके सृजन और आस्वादन दोनों में भाव की मन्दता हो जाती है। इसीलिए बहुत कुछ सीमा तक प्रकृति और अहंकार का अवलंब कला की परम्परा में योग देता रहा है। भाव की मन्दता के कारण ही कला में रूप की समृद्धि हुई। रूप की इस समृद्धि से ही 'कला में अभिजात्य का उदय हुआ। इतना अवश्य है कि इस प्रकार कला अपने स्वरूप में अधिक समृद्ध बनी, यद्यपि लोक की व्यापक संस्कृति उसका अनुयोग कम होता गया। कला में नव-नव रूपों का सृजन निःसन्देह जीवन के सौन्दर्य को बढ़ाता है। इस दृष्टि से कला भावमयी संस्कृति की आवश्यक पूरक है किन्तु दूसरी ओर भाव की मन्दता भी जीवन को दीन बनाती है। कला के सृजन और आस्वादन दोनों में साक्षात् समात्मभाव के प्रेरणा मन्द होने के कारण कला में लोक की रुचि भी मन्द होती गई है। संस्कृति के साथ-साथ परम्परा का मूल अवलंब भी साक्षात् समात्मभाव ही है। इसके मन्द होने के कारण कर्त्ता और कृति की दृष्टि से इकाइयों की शृङ्खला विच्छिन्न होने लगती है तथा काल का दीन क्रम ही कला की क्षीयमाण परंपरा का अवलंब रह जाता है।

सृजनात्मक होने के अर्थ में भाव-संस्कृति, लोक संस्कृति और कला तीनों ही संस्कृति की त्रिवेणी की तीन प्रमुख धारायें हैं। मनुष्य जीवन में भाव ही प्रधान है, यद्यपि कुछ परिमाण में जीवन और संस्कृति दोनों के लिये रूप एवं उपकरणों का अवलंब आवश्यक है। दर्शनों में शिव अथवा ब्रह्म की महिमा भाव की प्रधानता की ही द्योतक है। किन्तु शुद्ध रूप में भाव का प्रवाह दुष्कर है। इसीलिए भाव संस्कृति की परंपरा दीर्घ जीवी न हो सकी। दर्शनों में भाव का अनुरोध एकांगी बनता हुआ भी दिखाई देता है। वेदान्त की असफलता का एक कारण उसकी एकांगिता भी है। शिव परंपरा में शक्ति का सिद्धान्त भाव के पक्ष को रूप की सृजनात्मक परंपरा के द्वारा सन्तुलित बनाता है। वैष्णव धर्म की परंपरा में भी यह सन्तुलन मिलता है। मनुष्य जीवन का आन्तरिक रहस्य यदि आत्मा अथवा भाव में है तो बाह्य रूप एवं प्राकृतिक उपकरण भी जीवन के स्फुट सत्य हैं। जीवन का पूर्ण सत्य भाव और रूप के समन्वय से ही निर्मित होता है चाहे उसमें भाव की

प्रधानता हो। दूसरे शब्दों में हम इसे अनुभूति और अभिव्यक्ति का सामंजस्य कह सकते हैं। यह सामंजस्य भारतीय लोक-संस्कृति की परंपरा में एक साक्षात् और समृद्ध रूप में मिलता है। वह अधिकतम मात्रा में हमारे सामान्य और साक्षात् जीवन को भाव के आनंद से ओत प्रोत तथा रूप के सौन्दर्य से अलंकृत करता है। इस दृष्टि से अभिजात संस्कृति की परंपरा भी, जो जिसका एक प्रधान अंग कला है, भाव संस्कृति के समान ही एकांगी हो जाती है। भाव के स्थान पर उसमें रूप की प्रधानता बढ़ जाती है। भाव संस्कृति की सरस्वती अलक्षित किन्तु अपार महिमामयी हैं। रूपमयी कला-संस्कृति की गंभीर यमुना के तट पर कलावित कृष्ण की रमणीय रास की लीलायें भी अपूर्व सौन्दर्य के स्वर्ग रचती है। किन्तु साम्य की उज्जवल और पवित्र गंगा ही जीवन की भूमिका का व्यापक अभिषेक करती हैं। इस लोक संस्कृति की गंगा में भाव की सरस्वती और रूप की यमुना का साम्यपूर्ण संगम होने पर मानवीय संस्कृति के तीर्थराज प्रतिष्ठित होते हैं, जिनमें जीवन के सत्य श्रेय और सौन्दर्य के अक्षयवट सदा पल्लवित रह कर मनुष्य के मंगल छत्र रचते हैं।

अस्तु, कला संस्कृति में रूप की प्रधानता होती है। वाद्य संगीत के समान शुद्ध रूपवती कला भी सम्भव है। चित्रकला की अलपनाओं में भी यह शुद्ध रूप मिलता है किन्तु सामान्यतः कला में भाव का संयोग रहता है। रूप के प्रति मनुष्य का सहज आकर्षण अवश्य है। किन्तु भाव के बिना मनुष्य जीवन में कृतार्थता का अनुभव नहीं होता। इसीलिए रूपवती कला भी भाव के अनुग्रह से समुल्लसित होती रही है। कला में भाव-रूप ग्रहण करता है, अथवा रूप भाव से अनुप्राणित होकर सजीव बनता है, यह निश्चय करना कठिन है। फिर भी कला में रूप ही की प्रधानता होती है। कला कृतियों में रूप का सौन्दर्य इतना प्रखर होता है कि कला में रूप की प्रधानता स्वतः सिद्ध जान पड़ती है। एक व्यापक परिभाषा की दृष्टि से कला को रूप की रचना कहना सबसे अधिक संगत जान पड़ता है। कला की यही एक एसी परिभाषा है, जो कला के समस्त रूपों की व्याख्या कर सकती है। सभी रूपों में संस्कृति प्राकृतिक दृष्टि से निरूपयोगी भावों और रूपों की रचना संस्कृति का अंग अथवा अलंकार होने के नाते कला में जिन रूपों की रचना होती है, वे भी प्राकृतिक दृष्टि से निरूपयोगी होते हैं। निरुपयोगी होने के नाते कला में रचित रूपों को हम 'अतिशय' मान सकते हैं। स्वरूप, परिमाण, प्रयोजन आदि कई प्रकार का रूप का अतिशय कलाओं में मिलता है। वर्ण (रंग) स्वरलय,

व्यंजना आदि स्वरूप से ही अतिशय हैं। कलाओं में इनका ग्रहण आवश्यकता अथवा उपयोगी के कारण नहीं होता। संगीत के स्वर सन्तान में परिमाण के अतिशय का उत्तम उदाहरण मिलता है। उपयोगी की दृष्टि से तो कलाओं में रचित सभी रूप ही अतिशय हैं। रूप के इस अतिशय में भी सौन्दर्य स्फुटित होता है। कला रूप के अतिशय के द्वारा सौन्दर्य की ही रचना है। सृजन और सौन्दर्य की विभूति के द्वारा कला की आत्मा संस्कृति में व्याप्त रहती है। संस्कृति और कला के आत्मीय सम्बन्ध का यह रहस्य है। लोक संस्कृति में जीवन के भावों के साथ कला के रूपों का मनोहर साम्य मिलता है। यह साम्य कला और संस्कृति का संगम है। इस संगम में भाव की सांस्कृतिक गंगा और रूप की कलात्मक कल्पना नहीं मिलती है। लोक-संस्कृति के इस संगम में प्रयाग के संगम की गंगा-यमुना की भाँति भाव और रूप का पृथक करना बड़ा कठिन है। संगम के अग्रगामी प्रवाह की भाँति वे एक दूसरे से मिले रहते हैं। किन्तु कला के विकास में रूप की प्रधानता बढ़ती गई है। नृत्य और संगीत ही अधिक सक्रिय कलाओं में रूप की यह प्रधानता अधिक स्पष्ट दिखाई देती है। किन्तु रूप की इस प्रधानता में भी भाव का अनुयोग प्रायः दिखाई देता है। भाव का यह अनुयोग कलाओं को अधिक सजीव बनाता है।

रूप में भाव की यह अनुयोग काव्य में सबसे अधिक मिलता है। इस दृष्टि से काव्य सबसे अधिक सांस्कृतिक कला है। साक्षात् और सामाजिक रूप में सृजनात्मक होने के कारण नृत्य और संगीत की कलायें सबसे अधिक सांस्कृतिक है। किन्तु भाव और रूप के साम्य की दृष्टि से काव्य को यह श्रेय देना उचित रहेगा। शब्द के सार्थक माध्यम के कारण काव्य में भाव की प्रधानता अधिक दिखाई देती है। किन्तु रचना की दृष्टि से काव्य में रूप का महत्व भाव से अधिक है। यदि भाव ही हमारा उदिष्ट हो तो उसे अधिक सरलता से प्रस्तुत किया जाता है। काव्य में भावों की अभिव्यक्ति के लिए जिन भंगिमाओं का अवलंब लिया जाता है, उनमें रूप की अतिशय स्पष्ट होता है। एन्द्रिक रूपों का आकर्षण तो कुछ सहज होता है, किन्तु अन्य रूपों में सौन्दर्य का दर्शन कुछ शिक्षा और संस्कार की अपेक्षा करती है। इनके अभाव में साधारण जन प्रायः नृत्य और संगीत जैसी रूप प्रधान कलाओं में भी रूप की अपेक्षा भाव से अधिक प्रभाव होता है। इसी प्रकार काव्य में भी प्रायः भाव ही प्रधान दिखाई देती है। टीकाओं, व्याख्याओं और आलोचनाओं में काव्य में भाव को प्रधान बना कर भाव की प्रधानता के भ्रम को शिक्षितों में

भी फैला दिया है। किन्तु वस्तुतः काव्य भी अन्य कलाओं के समान एक कला है और उसमें रूप की प्रधानता रहती है। इतना अवश्य है कि शब्द के सार्थक माध्यम के कारण काव्य में भाव का ग्रहण विपुल मात्रा में किया जा सकता है। वस्तुतः कला में भाव और रूप प्रायः एक दूसरे में समाविष्ट हो जाते हैं तथा एक दूसरे को समृद्ध बनाता है। यही काव्य में भाव और रूप के साम्य की सर्वाधिक सम्भावना का रहस्य है। काव्यशास्त्रों में काव्य को साहित्य की संज्ञा दी गई है और शब्द एवं अर्थ के सहित भाव के रूप में उस साहित्य की व्याख्या की गई है। शब्द के रूप और अर्थ को भाव कह सकते हैं। शब्द और अर्थ का साहित्य भाव और रूप का अभिन्न सम्बन्धी है। काव्य में भाव की महिमा भी असंदिग्ध है। यह शब्द की कला का एक सहज अनुरोध है। इसीलिए भाव में दिन कार्य्य-प्रभावशाली और स्थायी बन सकता है। किन्तु काव्य का कलात्मक स्वरूप भाव में नहीं रूप में ही निहित रहता है। काव्य में ग्रहित भाव सम्बन्ध और व्यवहार में ही प्रकट होते हैं। वहाँ उन्हें काव्य नहीं खोला जा सकता; यद्यपि इस स्थिति में हम उन्हें संस्कृति कह सकते हैं तथा भाव कोटि में उनकी प्रथम गणना कर सकते हैं। काव्य में उन भावों की व्यंजना को ध्यान देने पर विदित होता है कि रूप की रचना का सौन्दर्य ही काव्य का स्वरूप है। शब्द का समर्थ माध्यम काव्य में कलाओं को श्रेष्ठ बनाती है। भाव के अनुरोध से स्थायी बन कर काव्य का शब् संगीत के स्वर की अपेक्षा एक अधिक क्रम बद्ध परंपरा का निर्माण करता है। इस परम्परा की दृष्टि से भी कलाओं में काव्य संस्कृति के अधिक निकट है। भाव और रूप का साम्य भी काव्य में सबसे अधिक सम्भव हैं। यह भी संस्कृति के साथ उसके नैकट्य का कारण है। अन्य कलाओं में रूप की प्रधानता रहती है। सक्रियता और साक्षात् समात्मभाव की सम्भावना के कारण ही वे संगीत और नृत्य की भांति संस्कृति के क्षेत्र में आदर पाती हैं। किन्तु भाव और रूप के साम्य की दृष्टि से काव्य संस्कृति के सबसे निकट है। विषय रूप में व्यापक समात्मभाव को ग्रहण करके वह उसके निकटतर आ सकता है। साम्य और समात्मभाव को परिपूर्ण रूप में ग्रहण करने के कारण 'रामचरित मानस' स्वरूप से विश्व का सबसे अधिक सांस्कृतिक काव्य है, इसीलिए वह भारतीय समाज के सांस्कृतिक जीवन में इतना लोक प्रिय हुआ है जितना विश्व का कोई अन्य काव्य कदाचित् ही हुआ होगा।

अस्तु, संस्कृति मुख्यतः भाव और रूप के साम्य की सृजनात्मक परंपरा है। कला एक प्रकार से संस्कृति की आत्मा है। किन्तु अभिजात्य के अनुरोध

और रूप के उत्कर्ष के कारण भाव और रूप का साम्य भंग होने पर वह संस्कृति का एक प्रमुख अंग बन जाती है। संस्कृति सत्य, श्रेय और सौन्दर्य की समन्वित धारणा है। कला प्रधानतः सौन्दर्य का आराधन है। सौन्दर्य 'स्वरूप का अतिशय' है। अतः कला को 'रूप' के अतिशय' की रचना कह सकते हैं। काव्य कला का एक भेद है। इस दृष्टि से उसमें भी रूप की प्रधानता रहती है। किन्तु शब्द का समर्थ माध्यम उसमें भाव का अनुष्ठान करता है। भाव और रूप का साम्य काव्य में सबसे अधिक समृद्ध रूप में संभव है। इस साम्य की दृष्टि से काव्य सबसे अधिक सांस्कृतिक कला है। सक्रियता और समात्मभाव की दृष्टि से संगीत सबसे अधिक सांस्कृतिक कला है। उसमें भाव का अनुयोग होने पर वह काव्य के निकट आ जाता है। 'रामचरित मानस' की भांति भाव और रूप के समृद्ध साम्य में संगीत और समात्मभाव का समन्वय होने पर काव्य कलाओं में सबसे अधिक सांस्कृतिक और सबसे अधिक श्रेष्ठ बन जाता है।

अध्याय ५

कला और काव्य

कला और संस्कृति के सम्बन्ध को हम दो प्रकार से समझ सकते हैं। पश्चिमी विद्वानों की मान्यता पर आश्रित आधुनिक भारतीय मत के अनुसार संस्कृति पद अपनी व्यापकता में मनुष्य की समस्त कृतियों का वाचक है। वह एक प्रकार से 'कृति' का पर्याय है और इस मत के अनुसार 'सम' उपसर्ग किसी विशेषता का सूचक नहीं। 'कला' भी मनुष्य की एक कृति है। इस नाते वह संस्कृति का एक अङ्ग है। उक्त मत के अनुसार संस्कृति मनुष्य की विविध कृतियों का सङ्कलन मात्र है। इस सङ्कलन में कला' साहित्य, दर्शन, धर्म, शासन, व्यवसाय, उद्योग आदि मनुष्य की अनेक विध कृतियाँ सम्मलित हैं। इन कृतियों के स्वरूप में परस्पर बहुत अन्तर तथा प्रायः विरोध भी है। मनुष्य के कृतित्व के अतिरिक्त इनमें अन्य कोई सामान्य लक्षण खोजना कठिन है। इस कृतित्व का विश्लेषण करने पर इसकी प्रतीत में भी कुछ भ्रान्ति दिखाई देगी। मनुष्य की जिन कृतियों में प्रकृति अथवा सामाजिक व्यवस्था का अनिवार्य प्रभाव दिखाई देता है, उनमें मनुष्य के 'कर्तृत्व' का योग भी कम हो जाता है।

कृतित्व के इस विश्लेषण में संस्कृति का एक दूसरा दृष्टिकोण उदित होता है जो संस्कृति की भारतीय परम्परा और धारणा के अधिक अनुरूप है। इस दृष्टिकोण के अनुसार संस्कृति मनुष्य के सम्पूर्ण कृतित्व का पर्याय नहीं है, और न वह उसकी अनेक विध कृतियों का सङ्कलन मात्र है, वरन् संस्कृति मनुष्य की कृतियों का एक विशेष रूप है, जो 'सम' उपसर्ग से लक्षित साम्य के अनुरूप होता है। मानवीय सङ्कल्प की स्वतन्त्र सृजनात्मकता के अतिरिक्त कृतित्व के इस विशेष रूप में रूप और भाव के अतिशय की परम्परा समाहित होती है, यही परम्परा संस्कृति का जीवन्त रूप है। संस्कृति की यही धारणा भारतीय परम्परा के अनुकूल है। संस्कृति के स्वरूप के विषय में हमारा अभिमत भी इसी धारणा का अनुसरण करता है। हमारे अभिमत के अनुसार कला को संस्कृति का अङ्ग मानना उचित नहीं है। जिस प्रकार मनुष्य के सम्पूर्ण कृतित्व का समाहार संस्कृति की परिधि में नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार सम्पूर्ण कला का समाहार भी संस्कृति में सम्भव नहीं है।

मनुष्य के स्वतन्त्र सङ्कल्प से प्रेरित होने के कारण संस्कृति और कला दोनों हीं विपुलतः सृजनात्मक हैं । इस नाते कला और संस्कृति दोनों में एक मौलिक समानता है तथा हम संस्कृति को कलात्मक और कला को सांस्कृतिक कह सकते हैं । किन्तु कला और संस्कृति को एक दूसरे का पर्याय नहीं बनाया जा सकता । उन दोनों के स्वरूप में केवल एक आंशिक साम्य है । इतना अवश्य है कि यह साम्य अत्यन्त मौलिक है तथा हम यह कह सकते हैं कि कला और संस्कृति स्वतन्त्र मानवीय कृतित्व के एक ही कल्प-वृक्ष की दो शाखायें हैं अथवा उसकी एक ही शाखा के दो पुष्प-वृन्त हैं । दोनों में एक ही सृजनात्मक भाव का रस व्याप्त है । यद्यपि यह रस भिन्न रूपों में साकार होता है । रूप के सृजन को कला का स्वरूप मान कर हम कला को संस्कृति का प्राण मान सकते हैं। इस दृष्टि से संस्कृति में कला की प्रेरणा सर्वत्र व्याप्त होतो है और उसे सामान्यतः कलात्मक कहा जा सकता है । संस्कृति सृजनात्मक रूपों की परम्परा बन जाती है । कला में पुरातन रूपों की आवृत्ति की परम्परा की अपेक्षा नवीन रूपों के सृजन की आकांक्षा अधिक होती है । अतः कला केवल सृजनात्मक होने के अर्थ में संस्कृति का सन्निवेश कला में उतना व्यापक नहीं है, जितना कि रूप-रचना के अर्थं में कलात्मक सौन्दर्य संस्कृति में व्याप्त रहता है। सौन्दर्य के रूपों की रचना कला और संस्कृति का सामान्य लक्षण है । नवीन रूपों की रचना में अग्रसर होने वाला कृतित्व विशेष अर्थ में कला बन जाता है । संस्कृति अपने विशेष अर्थ में पुरातन रूपों की परम्परा का आदर है। कला उसका प्राण है तथा भाव उसकी आत्मा है । भाव के मानसरोवर से आनन्द निर्झर प्रवाहित होते हैं । कला के रूप-क्षितिज पर सौन्दर्य के रञ्जित मेघ जीवन के स्वर्ग की बन्दनवार सजाते हैं । कला में सौन्दर्य की प्रधानता रहती है, यद्यपि आनन्द का अभाव नहीं रहता । संस्कृति में सौन्दर्य और आनन्द दोनों का सामञ्जस्य रहता है। सौन्दर्य की साधना बनकर कला अभिजात बन जाती है। किन्तु संस्कृति में व्याप्त कला के प्राण आत्मा के उल्लास की प्रेरणा बनकर लोक साधारण के सौन्दर्य से मुग्ध आनन्द से विभोर करते हैं ।

इस प्रकार स्वरूप में मौलिक साम्य होते हुए भी हमारे मत में संस्कृति और कला की धारायें कुछ भिन्न दिशाओं में प्रवाहित होती हैं । गङ्गा और यमुना की भाँति वे सङ्कल्प और साधना के एक ही हिमालय के भिन्न शिखरों से उदित होती हैं । रूप की यमुना जब तक अपनी स्वतन्त्र गति से अग्रसर होती है, तब तक हम उसे कला कह सकते हैं । भाव की उज्ज्वल और पवित्र

गङ्गा को संस्कृति का शुद्ध रूप कहा जा सकता है, किन्तु संस्कृति के जीवन्त रूप की रचना भाव की गङ्गा में रूप की यमुना के सङ्गम के द्वारा ही होती है । रूप और भाव के इसी सङ्गम में जीवन के तीर्थराज बनते हैं तथा सांस्कृतिक सङ्गम का यही सम्मलित प्रवाह कल्याणमयी काशी की ओर अग्रसर होकर मङ्गल-मूर्त्ति शिव का अभियेक करता है । संस्कृति की धारा के इस सम्मलित प्रवाह में कला की यमुना आत्मसात् हो जाती है । संस्कृति की जीवन्त परम्परा में कलात्मक रूपों का सौन्दर्य भाव के चरणों में अपनी विभूति अर्पित करके आनन्द का उत्कर्ष करता है । सरल शब्दों में कला के रूपात्मक सौन्दर्य से युक्त होते हुए भी संस्कृति में भाव की प्रधानता होती है । रूप कलात्मक सौन्दर्य का रहस्य है । भाव जीवन के आनन्द का मर्म है । जीवन की आत्मा में दोनों ऐसे ओत-प्रोत रहते हैं कि वस्तुतः उनको अलग २ करना कठिन है । संस्कृति की दिशा में जीवन एक सहज रूप में अपनी कृतार्थता को खोजता है, उसमें हमें भाव और रूप का संगम दिखाई देता है । इस दृष्टि से संस्कृति जीवन का सबसे सुन्दर और आनन्दमय रूप है । भारतीय संस्कृति के पर्व सौन्दर्य के अपूर्व आलोक तथा आनन्द के विपुल उल्लास के द्वारा इस सत्य को प्रकाशित एवं प्रमाणित करते हैं । कलाओं के क्षेत्र में भी जीवन के इस मौलिक सत्य का प्रभाव दिखाई देता है । संस्कृति से विवेक करने के लिये हमने कला को अभिनव रूपों की रचना माना है। रूप का सौन्दर्य ही कला का मौलिक लक्षण है । वाद्य-संगीत, आलाप एवं चित्रकला की अल्पनाओं में कला के शुद्ध रूप के उदाहरण मिलते हैं । किन्तु कला का यह शुद्ध रूप कलाओं के इतिहास में बहुत अल्प परिमाण में मिलता है । साथ ही यह अधिक लोक-प्रिय भी नहीं हो सका है । भाव रूप शिव से सौभाग्यवती बनकर ही शक्ति-सुन्दरी कला समाज की सांस्कृतिक परम्परा में आदृत होती है । भाव के सौभाग्य के बिना वह दीन ही दिखाई देती है, इसी लिए स्वरूप और परिभाषा के अनुसार शुद्ध रूपात्मक होते हुए भी कलाओं के प्रचलित और ऐतिहासिक रूपों में प्रायः भाव का संयोग मिलता है । इतना अवश्य कि जिस प्रकार संस्कृति में भाव और रूप का संगम होते हुए भी भाव की प्रधानता होती है, उसी प्रकार कला में इनका संगम होने पर भी रूप की प्रधानता होती है । भाव और रूप की प्रधानता के आधार पर ही हम संस्कृति और कला में भेद कर सकते हैं । अल्प रूप के आधार पर विपुल भाव की विभूति संस्कृत की विशेषता है तथा अल्प भाव के आधार पर विपुल सौन्दर्य की रचना कला का चमत्कार है । विविध कलाओं में यह चमत्कार विविध रूपों और परिमाणों में दिखाई देता है ।

शुद्ध स्वरूप और परिभाषा की दृष्टि से कला रूप के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति ही है। किन्तु प्रचलित और ऐतिहासिक रूपों में प्राय: कला का सौन्दर्य भाव के संयोग से ही साकार होता है। इस संयोग का रूप और अनुपात कलाओं के विभिन्न माध्यमों की मर्यादाओं पर निर्भर है। माध्यम की मर्यादायें कलाओं के विविध रूपों और उनके विशेष सौन्दर्य का विधान करती हैं। कलाओं के विभाजन और उनकी तुलना के प्रसंग में इस विधान का महत्व है, किन्तु सामान्यत: सभी कलायें रूप की रचना और सौन्दर्य की की साधना हैं। संस्कृति में अन्तर्गुप्त कलायें संस्कृति के साथ स्वरूपगत साम्य के द्वारा उसे समृद्ध बनाती हैं। भाव संस्कृति की सम्पत्ति है। अपने स्वरूप में सभी कलायें रूप की महिमा को मानकर सौन्दर्य की साधना करती हैं। इस प्रकार 'कला' एक सामान्य प्रत्यय है जो एक ओर संस्कृति को अंशत: अनुप्राणित करता है तथा दूसरी ओर सभी रूप प्रधान रचनाओं को अपनी व्यापक परिधि में समाहित करता है।

काव्य की गणना कला के विभेदों के अन्तर्गत की जा सकती है। भाव की पर्याप्त महिमा होते हुये भी रूप की विभूति काव्य को स्वरूप प्रदान करती है। रूप के संयोग से ही भाव को काव्य का स्वरूप मिलता है। संस्कृति के स्वरूप में कला का आंशिक अंतर्भाव ही रहता है। इसी प्रकार कला की परम्परा में भी संस्कृति का भाव पूर्णत: प्रभावशाली नहीं होता। कला और संस्कृति के क्षितिज थोड़ी दूर तक ही स्पर्श करते हैं उसके बाद वे अपने स्वतंत्र रूप में विकसित होते हैं। किन्तु कला के विभेद सामान्य में विशेषों की भांति पूर्ण रूप से कला की परिधि में समाहित होते हैं। इतना अवश्य है कि जिस प्रकार कला के सामान्य रूप में संस्कृति के भाव और उसकी परम्परा का सन्निधान सम्भव है, उसी प्रकार कला के विशेष रूप भी विभिन्न रूपों और परिमाणों में संस्कृति की भूषाधारण करते हैं। सांस्कृतिक भाव परंपरा का अधिक अनुपात में सामंजस्य करके कला के रूप संस्कृति के अत्यन्त निकट भी आ सकते हैं। संगीत और काव्य संस्कृति के इस सान्निध्य के अधिक अधिकारी हैं। संस्कृति और कला के साम्य की भाँति कलाओं के अन्तर्गत संगीत एवं काव्य में अधिक घनिष्ट सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध का कारण शब्द के माध्यम की समानता है। इस समानता की दृष्टि से ये दोनों कलायें सहोदरा हैं। संगीत और काव्य के कलाओं के क्षेत्र में विशेष महत्व तथा संस्कृति के साथ उनके संबंध को समझने के लिये संस्कृति के स्वरूप के साथ-साथ कला के स्वरूप की भी विस्तृत व्याख्या अपेक्षित होगी।

संस्कृति सामान्य रूप से जीवन की रचनात्मक साधना है। इस दृष्टि से कला और काव्य भी संस्कृति के अन्तर्गत हैं। सामान्य रूप से संस्कृति और कला दोनों ही रचनात्मक हैं। काव्य को कला का एक उपभेद मान सकते हैं। समात्मभाव संस्कृति और कला का सामान्य आधार है। समात्मभाव का आधार और रचनात्मकता संस्कृति एवं कला दोनों का सामान्य मौलिक लक्षण हैं। किन्तु इसके अतिरिक्त कला और संस्कृति दोनों की कुछ अपनी-अपनी स्वतंत्र विशेषता हैं। इन विशेषताओं के कारण संस्कृति और कला के स्वरूप सामान्य और मौलिक रूप में अंशतः समान समान होते हुए भी कुछ भिन्न बन जाते हैं। साक्षात् समात्मभाव और स्मृति के संयोग से संस्कृति की रचना एक आवृत्तिमयी परंपरा बन जाती हैं। इसके विपरीत कला की व्यक्तिगत साधना में विषय आकांक्षा के रूप में परोक्ष समात्मभाव अधिक रहता है। व्यक्तिगत साधना होने के अतिरिक्त कला की स्मृति मूलक परंपरा भी नहीं बन पाती। कला की परंपरा आवृत्तिमयी न होकर नये-नये रूपों की परंपरा होती है। ये परंपरा केवल काल-क्रम के नैसर्गिक संयोग के द्वारा बनती है। इस परंपरा में प्रवर्तित रूपों के अन्तर्गत कोई आवश्यक समानता अथवा सम्बन्ध नहीं रहता। रूप की आवृत्ति की परंपरा कला के क्षेत्र में अल्पकाल तक ही चलती है, जब तक किसी प्रतिभाशाली कलाकार अथवा शक्तिशाली का प्रभाव पड़ता है। संगीत और नृत्य के अतिरिक्त अन्य कलाओं में आवृत्ति और अनुकरण बहुत कम मिलते हैं। इस दृष्टि से ये दोनों कलायें अपेक्षाकृत अधिक सांस्कृतिक हैं तथा अन्य कलायें रचनात्मक अधिक हैं। अन्य कलाओं में आवृत्ति और अनुकरण की अपेक्षा मौलिक रूपों की रचना की परंपरा अधिक मिलती है। संगीत और नृत्य में मौलिक रूपों की रचना अत्यन्त कठिन है। इनके क्षेत्र में नवीन रूपों का प्रवर्तन करने वाली प्रतिभायें बहुत कम हुई हैं। आवृत्ति और अनुकरण ही इन कलाओं की परंपरा है। किसी सीमा तक हम इस आवृत्त को ही रचना कह सकते हैं।

चिरन्तन रूपों की अभिनव रचना होने के कारण ही यह कलायें संस्कृति के अधिक निकट हैं। संस्कृति भी इसी प्रकार की रचना की परंपरा है। इस आवृत्तिमयी-परंपरा का एक कारण इन कलाओं में प्रयुक्त शब्द के माध्यम की नश्वरता है। संगीत और नृत्य की रचनायें किसी भी प्रकार से स्थाई नहीं रह सकती। आधुनिक साधनों के द्वारा उनकी प्रतिलिपि को स्थाई बनाने में सफलता अवश्य प्राप्त हुई है, फिर भी इन कलाओं की मौलिक कृतियाँ अपने सजीव रूप में स्थायी नहीं बनाई जा सकतीं। अतः आवृत्ति के

द्वारा ही इनकी सजीव परंपरा जीवित रह सकती है। अन्य कलाओं के माध्यम 'शब्द' की अपेक्षा अधिक स्थायी होते हैं। अतः उनके भौतिक रूप सुरक्षित रहते हैं। शब्द के माध्यम से रचित होते हुए भी 'काव्य' भाव प्रधान होने के कारण समाज की स्मृति में स्थायी रहता है। फिर भी काव्य, चित्रकला, मूर्तिकला आदि कलाओं की परम्परा अभिनव रूपों की रचना से ही निर्मित होती है। यद्यपि इन रूपों में श्रेष्ठता लाना कठिन है, फिर भी रूप की नवीनता इनमें सर्वत्र मिलती है। रूप की दृष्टि से नहीं किन्तु रचना की दृष्टि से संस्कृति संगीत, नृत्य तथा अन्य सभी कलाओं में नवीनता दिखाई देती है। रूप की यह अभिनव रचना संस्कृति और कलाओं का सामान्य लक्षण है। दोनों में मुख्य अन्तर यही है कि संस्कृति में रूप की अपेक्षा भाव की प्रधानता होती है, यद्यपि दोनों का साम्य रहता है। कुछ कलाओं में उन्हें सजीव बनाने के लिए भाव का ग्रहण होता है, फिर भी उनमें रूप की ही प्रधानता रहती है। कलाओं में भाव का ग्रहण उपादान और आकांक्षा के रूप में होता है। संस्कृति में इन रूपों के अतिरिक्त अनुभव की साक्षात सम्पत्ति के रूप में भावों की विपुलता रहती है। सभी रूपों में भाव की विपुलता तथा इन भावों की सृजनात्मक परंपरा संस्कृति को कला से भिन्न करती है।

अस्तु, रूप की रचना कला का विशेष लक्षण है। रूप की रचना का क्रम संस्कृति की परम्परा में भी रहता है। इस दृष्टि से संस्कृति भी कलात्मक है। साक्षात् समात्मभाव विविध रूप भावों की विपुलता तथा आवृत्तिमयी परंपरा ये संस्कृति की ऐसी विशेषतायें हैं जो कला में प्रमुखता से नहीं पाई जाती तथा संस्कृति का कला से विभाजन करती हैं। अपने विशेष स्वरूप में कला रूप की रचना है। रूप की सम्पत्ति का सूक्ष्म और गम्भीर अनुसंधान करने पर ही कला के स्वरूप की विवृत्ति हो सकती है और काव्य के साथ उनके संबन्ध का निर्धारण हो सकता है। विश्व की समस्त सत्ता का विवरण अथवा विभाजन रूप और तत्व के द्वारा किया जा सकता है। तत्व सत्ता का अन्तर्गत सार है। रूप उसकी बहिर्मुख अभिव्यक्ति का माध्यम है। यह विभाजन केवल सत्ता के दो विवेक पक्षों को पृथक-पृथक समझने के लिए है। वस्तुतः रूप और तत्व को एक दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता। केवल संस्कृति और कला के निरूपण के लिए उनका मानसिक विश्लेषण किया जा सकता है। रूप और तत्व दोनों ही केवल भौतिक नहीं होते, वे दोनों अभौतिक अथवा मानसिक भी होते हैं। किन्तु भौतिक उदाहरणों के द्वारा रूप और तत्व दोनों ही केवल भौतिक नहीं होते, वे दोनों अभौतिक अथवा मान-

सिक भी होते हैं। किन्तु भौतिक उदाहरणों के द्वारा रूप और तत्व के भेद को समझना कठिन है। किसी भी भौतिक पदार्थ के उदाहरण को लेकर हम सरलता से उसके रूप और तत्व का विश्लेषण कर सकते हैं। मिट्टी के बने हुए अनेक खिलोने भिन्न-भिन्न रूप के हो सकते हैं। किन्तु उनका तत्व एक ही है। वे सब मिट्टी के बने हुए हैं। उनके रूप भिन्न-भिन्न हैं। भौतिक पदार्थों के सम्बन्धों में हम इस रूप को आकार कह सकते हैं। यह आकार सरल और वक्र रेखाओं की एक जटिल व्यवस्था है जिसमें ये रेखायें मिल कर सम् अथवा विषम धरातलों का निर्माण करती हैं। भौतिक पदार्थों और उनके आकार का ग्रहण चक्षुओं के द्वारा होता है। चक्षुओं के द्वारा हम वर्ण (रंग) का ग्रहण करते हैं। दर्शनों में चक्षुओं के द्वारा ग्राह्य गुण को ही रूप कहा जाता है। न्याय-वैशेषिक दर्शन में लाल, पीले, हरे, नीले आदि रंगों को इस रूप के उपभेद माना जाता है। इससे स्पष्ट है कि दर्शनों में रंग को ही रूप माना है और दोनों में भेद नहीं किया गया है। यदि रूप तत्व की अभिव्यक्ति का माध्यम है तो वर्ण (रंग) को रूप मानना नितान्त उचित है। वर्णों के द्वारा ही भौतिक पदार्थ अभिव्यक्त होते हैं। एक प्रकार से वर्ण (रंग) को रूप की अधिक मौलिक स्थिति कह सकते हैं। शैशव अवस्था में बालक को पदार्थ के आकार का स्पष्ट बोध नहीं होता किन्तु वह रंगों के प्रभाव को ग्रहण करने लगता है। बालक की दृष्टि संवेदना रंगों से ही उत्तेजित होती है पदार्थों के आकार का बोध उसे कुछ विलम्ब से होता है। इस दृष्टि से रूप के सम्बन्धों में दर्शनों का मतवैज्ञानिक दृष्टि से भी संगत है। भौतिक पदार्थों की अभिव्यक्ति आकार और रंग होती है। इनमें रंग को प्राथमिकता दी जा सकती है क्योंकि आकार के स्पष्ट न होने पर भी रंग का ग्रहण बालकों को ही नहीं बड़ों को भी होता है सामान्यतः रंग की अभिव्यक्ति सर्वदा होती है। इतना अवश्य है कि रंग के आकर्षक न होने पर हमारा ध्यान रंग की अपेक्षा आकार की ओर अधिक जाता है। जब हम फूलों को देखते हैं तो उनके आकार को कम ध्यान देते हैं क्योंकि हम उनके रंग से अधिक आकर्षित होते हैं। इसके विपरीत जब हम वृक्षों के तने को देखते हैं तो हम उसके आकार को अधिक ध्यान देते हैं क्योंकि उसका रंग अधिक आकर्षित नहीं होता। अनेक बार हमें वस्तु के आकार तथा रंग का बोध होता है, किन्तु हम पदार्थ के तत्व का निर्धारण नहीं कर पाते। ऐसी स्थितियों में तत्व और रूप का भेद अधिक सरलता से स्पष्ट हो जाता है। भौतिक पदार्थों की अभिव्यक्ति आकार और रंग के द्वारा होती है। इन दोनों को ही हम भौतिक पदार्थों का रूप कह सकते हैं।

ये भौतिक पदार्थ सत्ता अथवा तत्व के केवल एक अंग हैं। भौतिक पदार्थों में भी स्थूल और सूक्ष्म का भेद होता है। आकाश, तेज और वायु भौतिक पदार्थों में सूक्ष्म हैं। तेज का रूप ही अधिक प्रखर होता है। उसके तत्व का बोध कठिन है। निरूप होने के कारण वायु के तत्व का ग्रहण नहीं होता। आकाश सभी तत्वों से अधिक सूक्ष्म है। उसके तत्व और रूप दोनों का निर्णय कठिन है। शब्द के गुण को हम आकाश का रूप मान सकते हैं। क्योंकि यदि दर्शनों का 'अमनुान' सही है तो आकाश के आधार में ही शब्द की अभिव्यक्ति होती है। वस्तुतः रूप अपने को अभिव्यक्त करता है किन्तु उसकी यह अभिव्यक्ति अपने आधार भूत तत्व का भी संकेत करती है। भौतिक तत्वों और रूपों की अपेक्षा मानसिक तत्व और उनके रूप अधिक सूक्ष्म होते हैं, क्योंकि इनका ग्रहण इन्द्रियों के द्वारा नहीं वरन् मन के द्वारा होता है। दर्शनों के अनुसार इन्द्रियों की अपेक्षा मन अधिक सूक्ष्म है। इसी-लिए इन्द्रियों से मन को 'पर' माना है। भौतिक तत्वों और रूपों का ग्रहण भी मन और इन्द्रियों के सहयोग से होता है। किन्तु इन्द्रियाँ ही मुख्यतः इनकी ग्राहक हैं। मन केवल इन्द्रियों का अनुग्राहक है। यद्यपि मन के अनु-ग्रह से ही इन्द्रियाँ विषयों के ग्रहण में समर्थ होती हैं फिर भी विषयों की विशेषताओं का ग्रहण इन्द्रियाँ अपनी विशेष शक्ति के द्वारा ही करती हैं। उदाहरण के लिए जो लोग रंगान्ध होते हैं तथा रंगान्ध होने के कारण कुछ रंगों को (विशेषतः हरे और लाल रंगों को) ग्रहण कर अन्य रंगों से पृथक नहीं कर पाते। जिस प्रकार भौतिक तत्वों के ग्रहण में मन का सहयोग होते हुए भी इन्द्रियों की प्रधानता होती है उसी प्रकार मानसिक तत्व और शेष के ग्रहण में इन्द्रियों का सहयोग होने पर भी मन की प्रधानता रहती है। जिस प्रकार भौतिक पदार्थों की विशेषतायें इन्द्रियों के द्वारा ही ग्रहण की जाती हैं, उसी प्रकार मानसिक तत्वों की विशेषतायें भी मन अथवा बुद्धि की चेतना शक्ति के द्वारा ग्रहण की जाती हैं। ये मानसिक तत्व भौतिक एवं ऐन्द्रिक उपकरणों में भी साकार हो सकते हैं फिर भी इनका स्वरूप मानसिक ही रहता है। भौतिक और ऐन्द्रिक उपकरण उनके निमित्त मात्र रहते हैं। उदाहरण के लिये भाषा को लीजिये। भाषा का मुखर अथवा लिपि बद्ध शब्द इन्द्रिय ग्राह्य होने के कारण ऐन्द्रिक कहा जा सकता है। किन्तु उसका अन्तर्गत तत्व मानसिक ही होता है, हम इसे अर्थ कहते हैं। चिन्मय तत्व होने के कारण यह अर्थ मनोग्राह्य है। अर्थ का मन से संबन्ध होने के कारण तथा भाषा के रूप में अर्थ तत्व का सन्निधान होने के कारण मनुष्य के मस्तिष्क के विकास के साथ ही भाषा का विकास हुआ है। भाषा उस अर्थ

का बाह्य रूप है। इसी प्रकार चित्रकला आदि कलाओं के रूप में भी हम अर्थ, भाव, तात्पर्य आदि मानसिक तत्वों का सन्निधान मान सकते हैं। मनुष्य के अधिकांश व्यवहारों तथा उसकी अधिकांश रचनाओं में इस प्रकार के मानसिक अर्थतत्व का सन्निधान रहता है। सामाजिक और सांस्कृतिक शिष्टाचारों में तथा काव्य, साहित्य, चित्र आदि की रचनाओं में इस मानसिक तत्व के यथेष्ट उदाहरण मिल सकते हैं।

इस चिन्मय मानसिक तत्व की अभिव्यक्ति भौतिक और ऐन्द्रिक उपकरणों के निमित्त से भी होती है। बाह्य रूप भी इस मानसिक तत्व का अवलम्ब बनता है। किन्तु इसे निमित्त मात्र ही मानना चाहिये। तत्व की भाँति अभिव्यक्ति का मुख्य रूप भी विशेषतः मानसिक अर्थात् मनोग्राह्य होता है, यद्यपि बाह्य रूपों के साथ ही मानसिक तत्व की कुछ अद्भुत संगति दिखाई देती है। यह संगति आन्तरिक तत्व और बाह्य रूप के किसी गंभीर सामंजस्य का संकेत करती है, जिसका विश्लेषण कठिन है। यह सामंजस्य शिव और शक्ति के साम्य की भाँति एक गहन रहस्य है। प्रत्यक्ष रूप में यह सामंजस्य मानसिक तत्व के साथ मानसिक रूप की तथा मानसिक रूप के साथ बाह्य रूप की संगति के द्वारा संभव होता है। कला और काव्य के मर्म को समझने के लिए मानसिक तत्व और उसकी अभिव्यक्ति के उन दोनों रूपों को समझना आवश्यक है। कला अपने विशेष रूप में 'रूप की अभिव्यक्ति' है। प्राकृतिक सत्ता में यह रूप की अभिव्यक्ति सहज होती है। मनुष्य के सांस्कृतिक व्यापारों में यह अभिव्यक्ति रचना बन जाती है। रूप की अभिव्यक्ति ही सौन्दर्य का रहस्य है। यह सौन्दर्य प्राकृतिक सत्ता और सांस्कृतिक जीवन दोनों में मिलता है। सांस्कृतिक जीवन में यह सौन्दर्य कलात्मक रचना के रूप में प्रगट होता है। कला और सौन्दर्य की सृष्टि है। सौन्दर्य रूप की अभिव्यक्ति है। रूप में सौन्दर्य का रहस्य निहित है। इसीलिए भाषा के व्यवहार में रूप शब्द सौन्दर्य का पर्याय बना। अभिव्यक्ति रूप का सहज धर्म है अनभिव्यक्त रूप एक प्रकार का व्याघात है। इस प्रकार समस्त प्राकृतिक सत्ता और मानवीय व्यापारों को सुन्दर कहा जा सकता है। समस्त सत्ता चेतवान और रूपवान हैं तथा रूपवान होने के कारण सुन्दर हैं, यद्यपि हमें इस सौन्दर्य का आभास सदा नहीं होता। विशेषतः अतिशय के द्वारा रूप का अधिक स्फोट होने पर हमें सौन्दर्य अधिक तीव्रता के साथ विभासित होता है। रूप की विशेषता अथवा उसका अतिशय कई प्रकार से प्रकाशित होता है। रूप के परिमाण की अधिकता, उसकी

निरूपयोगिता, उसकी व्यवस्था की योजना, उसकी निर्मित की जटिलता आदि रूप की प्रखरता के मुख्य लक्षण हैं। अतः कलाओं में इन्हीं के द्वारा सौन्दर्य निखरता है। दृश्य-रूप तेज का गुण है। फूलों में वह तेज अधिक परिमाण में प्रकाशित होता है, इसीलिये फूल सुन्दर प्रतीत होते हैं। रंग एक प्रकार से रूप के अतिशय ही हैं।

इसीलिए रंगों के साथ दृश्य सौन्दर्य का घनिष्ट सम्बन्ध है। श्वेत-वर्ण की कान्ति भी आलोक के प्रतिभास के कारण सौन्दर्य को प्रकाशित करती है। उपयोगिता का अभाव भी रूप के अतिशय का कारण है। इसी-लिए निरुपयोगी दृष्टिकोण होने पर ही प्राकृतिक पदार्थों में सौन्दर्य दिखाई देता है। उपयोगिता का सम्बन्ध तत्व से होता है। रूप का उसके लिए प्रायः महत्व नहीं होता। प्रायः उपयोगिता रूप की विनाशक होती है। भोजन में खाद्य पदार्थों के रूप का विनाश इसका एक सरल उदाहरण है। रूप की व्यवस्था की योजना रूप का विस्तार करती है। यों तो अल्प-तम रूप में कुछ विस्तार होता है किन्तु चित्र फलक, संध्या के क्षितिज काव्य के पाद अथवा संगीत के राग आदि में रूप की योजना का विस्तार स्पष्ट दिखाई देता है। रूप की व्यवस्था की योजना रंग अथवा स्वर की तीव्रता की भाँति एक ही रूप खण्ड के परिमाण का विस्तार नहीं है। इस योजना में रूप के अनेक विघ्न खण्डों के सामञ्जस्य से एक समग्र रूप का निर्माण होता है। यह समग्र रूप अवयवों का संकलन मात्र नहीं है, वरन् इनसे अतिरिक्त एक 'रूप का अतिशय' है, जो सम्पूर्ण योजना का गुण बन जाता है। इस दृष्टि से इस योजना में भी कुछ जटिलता रहती है। किन्तु ऐसी कई योजनाओं का सामञ्जस्य होने पर जटिलता का यह अति-शय अधिक सम्पन्न रूप में प्रकट होता है।

रूप की निरुपयोगिता, रूप के परिमाण की अधिकता, रूप की योजना, रूप योजना की जटिलता आदि 'रूप के अतिशय के कुछ मुख्य प्रकार हैं, जिनमें रूप के सौन्दर्य का उत्तरोत्तर प्रकर्ष होता है तथा सौन्दर्य उत्तरोत्तर अधिक श्रेष्ठ, अधिक प्रभावशाली बनता है। प्रकृति और कला दोनों के सौन्दर्य में हम इनके उदाहरण देख सकते हैं। प्रकृति के रूपों में वृक्ष, वन, लता, पुष्प, नदी, निर्झर, बादल, बिजली, उषा, संध्या आदि में हमें सौन्दर्य तभी दिखाई देता है जब कि इनकी ओर से हमारा दृष्टिकोण निरु-पयोगिता का होता है इन्हीं पदार्थों से जब हमारा उपयोगिता का संबंध

हो जाता है तो हमारी दृष्टि में इनका सौन्दर्य कम होने लगता है। इसीलिए ग्राम, वन, उपवन, नदी, तट, पर्वत आदि के निवासियों को इनमें इतना सौन्दर्य दिखाई नहीं देता, जितना कि इन क्षेत्रों में भ्रमण के लिए आने वाले दर्शकों को प्रतीत होता है। उपयोगिता का सम्बन्ध रूप की अपेक्षा तत्व से अधिक होता है। इसीलिए उपयोगिता के दृष्टिकोण में हमारा ध्यान रूप की ओर से हट जाता है। तत्व रूप का आधार अवश्य है किन्तु सौन्दर्य विशेषतः रूप में ही विभासित होता है। प्रकृति के रंगीन रूपों में प्रकाश किरणों के प्रतिक्षेप के द्वारा रूप का परिमाण गत प्रकर्ष प्रकट होता है। भौतिक प्रकृति के क्षेत्र में पत्रों, पुष्पों, फलों, बादलों आदि में रूप के परिमाण का यह प्रकर्ष सौन्दर्य के उत्कर्ष का कारण बनता है। भौतिक तथा वन्य प्रकृति के रूपों में योजना भी मिलती है। योजना इकाइयों की एक समग्र व्यवस्था है, जो अङ्गों के साथ साम्य के द्वारा सौन्दर्य का विधान करती है। एक पत्ते और एक फूल की बनावट में भी यह योजना रहती है। सम्पूर्ण वृक्ष, उपवन, वन, वनानि आदि में अनेक योजनाओं की जटिलता सौन्दर्य को समृद्ध करती है। कलाओं में संगीत नृत्य, चित्र, काव्य आदि कलाओं में भी सौन्दर्य की यह श्रेणियां मिलती हैं। कला सौन्दर्य की रचना है। यह रचना मुख्यतः रूप का ही विधान है। प्राकृतिक अथवा भौतिक तत्वों की सृष्टि मनुष्य का अधिकार नहीं है। भौतिक और प्राकृतिक निर्माणों में भी वह निसर्ग से प्राप्त तत्वों के आधार पर रूपों की ही रचना करता है। मानसिक तत्व जिन कलाओं का उपादान बन जाता है उन कलाओं में निःसन्देह मनुष्य की रचना शीलता बढ़ जाती है। मनुष्य भौतिक तत्व की नवीन रचना नहीं कर सकता किन्तु मानसिक तत्वों के अभिनव उद्भावन उसकी सामर्थ्य के अन्तर्गत हैं। इन कलाओं में तत्व और रूप दोनों की दृष्टि से मनुष्य का कर्तृत्व अधिक होने के कारण कला की रचनात्मकता बढ़ जाती है। कलाओं में उपयुक्त होने वाले भौतिक तत्वों के विशेष रूप के निर्माण में कलाकारों का जितना उद्योग होता है, उतनी ही उनकी कलात्मकता अधिक मानी जाती है। प्राचीन चित्रकार और कुछ नवीन चित्रकार भी रंगों का निर्माण स्वयं अपने हाथ से करते थे। साजों को संभालना भी संगीतकार की कलात्मकता का अंग है। उसी प्रकार देश की सजा नृत्यकार की कला से अभिन्न है। आदिम जातियों के लोक नृत्यों की भूषा में यह कलात्मकता अधिक मिलती है। काव्य के भौतिक उपकरण सब से कम हैं। शब्द का सूक्ष्म और निरूप तत्व उसका आधार है। शब्द में अर्थ के समवेत रहने के कारण काव्य के तत्व और

रूप परस्पर समवेत रहते हैं। नृत्य, संगीत, चित्रकला और काव्य में मानसिक तत्व का योग उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। इस प्रकार उनमें रचनात्मकता भी बढ़ती जाती है। भाव का अवलम्ब लेकर संगीत काव्य के अधिक निकट आ जाता है किन्तु तत्व की रचना की दृष्टि से काव्य में रचनात्मकता सबसे अधिक होती है। संगीत नृत्य आदि कलाओं के सौन्दर्य की श्रेष्ठता का कारण इन कलाओं में रूप की विपुलता और रूप की रचनात्मकता के कारण इन कलाओं में भी प्रचुर सौन्दर्य का सन्निधान रहता है।

न्यूनाधिक रचनात्मकता के साथ निरुपयोगिता परिमाण की वृद्धि, योजना, जटिलता आदि का सौन्दर्य इन सभी कलाओं में मिलता है। इन सभी कलाओं में जिस रूप का सन्निधान होता है, वह प्रकटत: उपयोगी नहीं होता। कलाओं का विकास प्राकृतिक उपयोगिता की प्रेरणा से नहीं हुआ है। प्राकृतिक उपयोगिता से रहित होने के कारण कलाओं के रूपों को अतिशय कहा जा सकता है। उपयोगिता से इन रूपों का सम्बन्ध बनाया जा सकता है किन्तु उपयोगिता से प्रेरित होकर इनकी रचना नहीं होती। परिमाण एक प्राकृतिक अथवा भौतिक कोटि है। अत: उन कलाओं में ही रूप के परिमाण की अधिकता सौन्दर्य का कारण बनती हैं, जिनके रूप का आधार प्राकृतिक तत्व रहते हैं। चित्रकला में रंगों के रूप में, नृत्य में आंगिक गति के रूप में तथा संगीत में शब्द सन्तान के रूप में परिमाण का यह अतिशय मिलता है। संगीत के स्वर विधान में परिमाण का यह विस्तार ही कलात्मक योजना की भूमिका है। स्वर के इसी विस्तार से लय राग आदि का निर्माण होता है। संगीत के आलाप,तान आदि में स्वर के परिमाण का विस्तार अधिक स्पष्ट प्रतीत होता है। काव्य में शब्द का आधार अवश्य रहता है किन्तु शब्द के परिमाण का विस्तार संगीत की भाँति उसके स्वरूप का विधायक नहीं हैं। काव्य में प्रत्येक वर्ण की निश्चित मात्रा होती है। इस मात्रा का विस्तार काव्य में अपेक्षित नहीं होता। संस्कृत के पादान्त के अतिरिक्त ह्रस्व का दीर्घ उच्चारण भी लौकिक भाषाओं में अपवाद के रूप में मिलता है। वैदिक मन्त्रों में स्वर का कुछ विस्तार काव्य में संगीत का संगम हो जाने के कारण मिलता है। वैदिक भाषा में लुत् स्वर भी हैं। लौकिक भाषाओं में वर्णों की ह्रस्व और दीर्घ दो ही मात्राएँ हैं। ब्रजभाषा आदि में इन मात्राओं का ही कुछ विपर्य भले ही मिले किन्तु संगीत के समान स्वर का सन्ताप काव्य के स्वरूप का विधायक नहीं है। शब्द के सामान्य माध्यम के कारण जहाँ यह स्वर का सन्तान उत्पन्न होता है वहीं काव्य में संगीत का

उदय होने लगता है। 'रामचरितमानस' तथा हिन्दी के पद गीत आदि संगीत के सीमावर्ती काव्यों के उदाहरण हैं। निरुपयोगिता की भाँति योजना सभी कलाओं का सामान्य लक्षण है। मानसिक तत्वों से निर्मित कलाओं में भाव और रूप के समवेत रहने के कारण योजना भी दोनों में समवेत रहती है। किसी सीमा तक इन कलाओं के रूप को भी मानसिक कहा जा सकता है। ऐन्द्रिक रूप की योजना की तुलना में मानसिक रूप और योजना का विश्लेषण और व्याख्यान कठिन है। भाव और रूप दोनों की दृष्टि से सबसे अधिक मानसिक होने के कारण काव्य की कला सबसे अधिक आध्यात्मिक है।

मानसिक तत्व दो प्रकार का होता है। एक को हम ज्ञान और दूसरे को भाव कह सकते हैं। यहाँ भाव से अभिप्राय चेतना, आत्मा अथवा मन की उस वृत्ति से है जो सामान्यतः दूसरों के प्रति प्रेम के रूप में व्यक्त होती है। प्रेम, भक्ति आदि के प्रसंग इस अर्थ में भाव का प्रयोग साहित्य और व्यवहार दोनों में होता है। इसे भावना भी कह सकते हैं। किन्तु दुःख, द्वेष, क्रोध आदि मानसिक संवेगों को भी मनोविज्ञान में भावना कहा जाता है। दुर्भाव और सद्भाव के विशिष्ट रूप में व्यवहार करने पर सभी मानसिक वृत्तियाँ भाव अथवा भावना के अन्तर्गत आ जाती हैं। हमें 'भाव' का प्रयोग यहाँ केवल सद्भाव के सीमित अर्थ में अभीष्ट है। इस सद्भाव का आधार समात्मभाव है। वैषम्य से युक्त मनोवृत्तियों का निर्देश भाव अथवा भावना के विशिष्ट प्रयोग के द्वारा किया जाता है। भाव का सीमित प्रयोग केवल साम्यमूलक मनोंवृत्तियों के लिए किया जाता है। भाव-विभोर, भावाकुल आदि पदों में इस प्रयोग के उदाहरण मिलते हैं। जो दुर्भाव काव्य का विषय बनते हैं, वे साक्षात् जीवन में समात्मभाव का खण्डन करते हैं। किन्तु काव्य में कवि और पाठक की ओर से उनका ग्रहण समात्मभाव की भूमिका में ही होता है। कवि के दुर्भाव से पीड़ित होने पर काव्य की रचना नहीं हो सकती और पाठक उससे पीड़ित होने पर काव्य का रसास्वादन नहीं कर सकता। भारतीय काव्य-शास्त्र में भय, क्रोध, जुगुप्सा आदि की विक्रति और वषम्य मूलक भावनाओं को रस का आघात (स्थायी भाव) माना गया है। इन्हीं भावनाओं के अनुरूप रसों का नाम करण भी किया गया है किन्तु काव्य-शास्त्रों में यह स्पष्ट नहीं किया गया कि साक्षात् जीवन की तुलना में काव्य में इन भावनाओं का ग्रहण जिस स्थिति में होता है। वह जीवन की स्थिति से किस प्रकार भिन्न है। रसों के भावानुरूप नाम करणों से प्रगट होता है कि इस प्रकार का कोई भेद आचार्यों की धारणा में स्पष्ट नहीं रहा।

वे जीवन और काव्य की स्थिति को समान समझते रहे, इसीलिए मूलपात्रों, नटों और सामाजिकों में रस के समान अनुभूति की समस्या काव्य-शास्त्र की मीमांसा का विषय बनी रही।

किन्तु काव्य का सरल तत्व यह है कि काव्य और साक्षात् जीवन की स्थिति में कुछ अन्तर है। जीवन में सत् और असत् दोनों प्रकार के भावों के लिए स्थान है क्योंकि जीवन आत्मा और प्रकृति दोनों की प्रेरणाओं से संचालित होता है। किन्तु काव्य एक सांस्कृतिक कर्म है। प्रकृति उसका अवलम्ब और उपकरण बन सकती है। किन्तु काव्य और कला की मूल प्रेरणा आत्मिक है। समात्मभाव की मौलिक प्रेरणा से कला और काव्य की रचना प्रेरित होती है समात्मभाव के आधार पर आश्रित होने के कारण वैषम्य मूलक भावनाओं का ग्रहण भी साम्य की एक भिन्न स्थिति में समाहित होता है। यह जीवन और काव्य की स्थितियों का एक महत्वपूर्ण अन्तर है। समात्मभाव एक सम् और सत् भाव है। इस प्रकार काव्य में ग्रहीत असत् भावों की भूमिका भी सत् बन जाती है। काव्य और कला के स्वरूप में ही शिवत्व का समवाय है। असद् भावों के प्रसंग में इकहेरा होने पर भी साम्य का सद्भाव अधिक तीव्र हो जाता है। सद्भावों के प्रसङ्ग में वह द्विगुणित होकर सघन और समृद्ध बन जाता है। इस प्रकार ऊपर निर्दिष्ट सीमित अर्थ में ही भाव काव्य का तत्व बनता है। जीवन से भिन्न केवल काव्य का प्रसंग होने के कारण हमने इस सीमित अर्थ में ही 'भाव को काव्य का तत्व माना है। यह भाव सामान्य समात्मभाव का ही एक विशेष रूप होता है। यों कह सकते हैं कि भाव के रूप में सामान्य समात्मभाव किसी विशेष सद्भाव के रूप में व्यक्त होता है।

यह विशेष सद्भाव जीवन के विशेष संबन्धों अथवा उसकी विशेष परिस्थितियों में मूर्त्त होता है। किन्तु उसका सामान्य रूप समात्मभाव के ही अनुरूप रहता है। आत्माओं का जो साम्य, विस्तार और उत्कर्ष सामान्य समात्मभाव में रहता है वही विशेष सद्भावों को भी आलोकित करता है। पौराणिक भाषा में हम काव्य के तत्व के रूप में ग्रहीत भाव को समात्मभाव का साकार अवतार कह सकते हैं। भगवान के अवतारों की भांति इस अवतार में भी आत्मा की विभूति विशेष रूप में मूर्त्त होती है।

ज्ञान चेतना का उदासीन रूप है, जो विषय अथवा तत्व की अवगति में प्रकाशित होता है। ज्ञान और भाव में कुछ ऐसा ही अन्तर है, जैसा कि

सफेद तथा अन्य रंगों में। 'भाव' आत्मा का रंजित रूप है, जिस प्रकार सफेद तथा अन्य रंगों में समान रूप से सूर्य का आलोक प्रकाशित होता है। उसी प्रकार ज्ञान और भाव दोनों में एक ही आत्मा का चैतन्य विभासित होता है। किन्तु ज्ञान में उस आलोक की प्रभा सफेद रंग के समान वीतिराग रहती है। 'भाव' में आत्मा का आलोक विचित्र और रंजित रूपों में व्यक्त होता है। प्रकृति के रंगों की भाँति आत्मा के भाव भी कला और काव्य के सौन्दर्य की विभूति बनते हैं। ज्ञान की अवगति चेतना के मुकुर में विषयों का ही ग्रहण है। बौद्धिक भूमि में प्रत्यक्षों का स्थान प्रत्यय ले लेते हैं। इन प्रत्ययों के सम्बन्ध से विचार बनते हैं। किन्तु प्रत्यक्ष, प्रत्यय और विचार तीनों में ही ज्ञान की अवगति स्वरूपतः उदासीन रहती है। वह चेतना की सरलतम प्रक्रिया अथवा प्रतिक्रिया है। ज्ञान और विचार के प्रसंग में होने वाले भ्रम दर्शन की पहेलियाँ हैं किन्तु सामान्यतः ज्ञान स्थूल अथवा सूक्ष्म विषयों का तद्रूप ग्रहण है। स्थूल विषय भौतिक और बाह्य होते हैं। सूक्ष्म विषय मानसिक होते हैं। किन्तु तद्रूपता अथवा यथार्थता सभी रूपों में ज्ञान का लक्षण है। मनुष्य और चेतना भी ज्ञान के विषय बन सकते हैं किन्तु जब ये ज्ञान के विषय बनते हैं तब ये भाव उत्पन्न नहीं करते। इनका ज्ञान भी अन्य विषयों के ज्ञान की भाँति उदासीन ही रहता है। ज्ञान की उदासीनता की सीमा यह है कि भाव का विश्लेषण और विचार भी उदासीन बन जाता है। यह उदासीनता ही ज्ञान की वैज्ञानिकता की कसौटी है। भाव का संश्लेष होते ही ज्ञान अवैज्ञानिक बन जाता है। ज्ञान भी यद्यपि आत्मा का ही प्रकाश है किन्तु ज्ञान के इस उदासीन रूप में आत्मा का पूर्ण प्रकाश नहीं होता। आत्मा का सर्वातीत भाव एक तटस्थता के रूप में ज्ञान में अवश्य प्रकट होता है। सर्वातीत भाव के अतिरिक्त सर्वाङ्गतत्व से लक्षित जो समात्म-भाव आत्मा की पूर्णता का लक्षण है, उसकी अभिव्यक्ति ज्ञान में आवश्यक नहीं होती। उसके अभिव्यक्ति होते ही ज्ञान भी भाव बन जाता है। उपनिषदों और गीता के आध्यात्मिक उपदेशों में ज्ञान का यह रूप मिलता है। किन्तु इसी कारण उपनिषद् और गीता काव्य के अधिक निकट माने जाते हैं। ज्ञान की इस उदासीनता का कारण उसकी एकांगिता अथवा एक पक्षिता है। विषयी की चेतना के अधिष्ठान में स्थूल अथवा सूक्ष्म विषयों का प्रतिबिम्ब ही ज्ञान है। ज्ञान में ग्रहीत विषय चेतना में प्रतिक्रिया अवश्य उत्पन्न करते हैं। किन्तु प्रायः विषयों के जड़ होने के कारण अथवा जड़ रूप में ग्रहीत होने के कारण इस प्रतिक्रिया में

पारस्परिकता नहीं होती। यह प्रतिक्रिया एक पक्षीय होती है, और विषयी की चेतना के अधिष्ठान में ही घटित होती है, मानों विषय इस ज्ञान से अस्पष्ट बना रहता। ज्ञान की उस उदासीनता का एक कारण विषयों की निष्क्रयता और उनकी जड़ता अथवा उनका जड़वत् ग्रहण है। ज्ञान और भाव में एक मुख्य अन्तर यही है कि ज्ञान में बृहदारण्यक के प्रजापति की भाँति विषयी की चेतना के एकान्त भाव के कारण उदासीनता रहती है। चेतनाओं के पारस्परिक सम्वाद के फलस्वरूप भाव में इसके विपरीत उल्लास रहता है। भाव के इस उल्लास में ही सौन्दर्य और आनन्द उदित होते हैं।

ज्ञान के यथार्थ को हम सत्य कह सकते हैं। 'सत्य' की धारणा में कुछ ऐसी ही उदासीनता और कठोरता रहती है, जैसी कि 'यथार्थ' से लक्षित होती है। यह सत्य का उदासीन और निरपेक्ष रूप है, जिसमें शिवं और सुन्दरम् का भाव सम्मलित नहीं हैं। आत्माओं के पारस्परिक अनुप्रवेश और साम्य से युक्त 'भाव' शिवम् कहा जा सकता है। ज्ञान और 'भाव' के नाम से चिन्मय मानसिक तत्व का ऊपर हमने जो विवेक किया है वह बहुत कुछ सीमा तक सत्यं और शिवम् के भेद के अनुरूप है और उनके अन्तर को प्रकाशित करता है। इस प्रसंग में 'रूप' को हम सुन्दरम् कह सकते हैं। भौतिक और मानसिक दोनों ही प्रकार के तत्वों का सौन्दर्य उनके रूप में ही अभिव्यक्त होता है। दृश्य रूपों का सौन्दर्य इन्द्रिय गम्य होने के कारण सुगम होता है, यद्यपि दृश्य रूपों का सौन्दर्य भी पूर्णतः ऐन्द्रिक नहीं होता, फिर भी इन्द्रियों की क्रिया उसके मानसिक ग्रहण में योग देती है और उसे सुलभ बनाती है। चित्रकला, मूर्त्तिकला, नृत्यकला आदि के ऐन्द्रिक रूपों में प्रायः मानसिक तत्व और रूप का समवाय रहता है। मानसिक तत्व और रूप स्वयं एक दूसरे में समवेत रहते हैं। अतः प्रायः कलाकृतियों में चतुर्विध तत्वों और रूपों का समवेत-समवाय रहता है। ऐन्द्रिक रूपों के भी अनेक पक्ष होते हैं। लय, योजना, अनुपात, आलोक, सन्तुलन, सामंजस्य आदि की चर्चा कलाओं की आलोचनाओं में रहती है। यह ऐन्द्रिक रूप के ही विविध पक्ष हैं। शब्द का सूक्ष्म रूप ऐन्द्रिक होते हुए भी विलक्षण है। शब्द के सूक्ष्म माध्यम में सन्तान की सम्भावना अन्य ऐन्द्रिक रूपों की अपेक्षा सबसे अधिक रहती है। दृश्य-रूपों की लय रूप की इकाइयों का संयोजित विस्तार है। रूप की योजना में इन इकाइयों का पूर्ण विलय नहीं होता। दृश्य रूपों की लय इन इकाइयों के अतिरिक्त एक समग्र योजना है, जो रूप के अतिशय का एक श्रेष्ठतर प्रकार है। दृश्य रूपों के दिक्गत विस्तार में एकरूपता होने पर ही इकाइयों का

विलय हो सकता है अन्यथा इकाइयों के अनेक रूप होने पर इस समग्र योजना के अतिशय के रूप में ही लय की कल्पना की जा सकती है। किन्तु शब्द एक कालगत रूप है। पूर्वक्षण का लय काल की गति का सहज और अनिवार्य क्रम है। प्राकृतिक व्यवस्था की दृष्टि से यह लय ही काल का लक्षण है। इसीलिए काल को विनाश और मृत्यु का पर्याय मानकर 'कृतान्त' की संज्ञा दी गई। लय का मूल अर्थ विलय अथवा विनाश ही है किन्तु मनुष्य की चेतना में स्मृति के द्वारा विलीन काल क्षणों का धारण भी संभव होता है। यह धारणा विनाश के गर्व से विलीन क्षणों का उद्धार कर एक अमृत भाव से उन्हें उस लय में संजोती है जो कला का सूत्र बन गयी है। इस कलात्मक लय का बीज संगीत में है, क्योंकि संगीत शब्द पर आश्रित होने के कारण कालगत रूप की रचना है। स्वर विधान संगीत का रूप है। संगीत के इस रूप में पूर्व स्वरों का कालक्रम में विलय भी होता है और स्मृति के द्वारा चेतना में उनका धारण भी होता है। इस पूर्व विलय के कारण स्वर की इकाइयाँ दृश्य रूपों की इकाइयों की भाँति विविक्त नहीं रहती, वरन् स्वर की समग्र योजना में विलय हो जाती है। विलीन स्वरों के सू म संस्कार इस समग्र योजना में समाहित होकर उतार चढ़ाव का एक ऐसा क्रम बनाते हैं, जो संगीत में लय के नाम से प्रसिद्ध है। इकाइयों की योजना को व्यक्त करने के लिए अन्य कलाओं में संगीत से ही 'लय' का अनुग्रहण हुआ है। संगीत की इस लय के सर्जन और ग्रहण में मन का योग होने के कारण संगीत के 'रूप' में शब्द के माध्यम से ऐन्द्रिक होते हुए भी बहुत कुछ मानसिकता आ जाती है। भारतीय दर्शनों में शब्द को ब्रह्म-स्वरूप तथा मुखर एवं ऐंद्रिक शब्द के अतिरिक्त शब्द की अन्य आन्तरिक कोटियाँ उसकी इसी मानसि-कता के कारण मानी जाती हैं। स्वर-क्रम के कालगत होने के कारण संगीत का स्वर विधान एक प्रवाह बन जाता है। पूर्व स्वरों के इस स्थूल रूप के इस प्रवाह में विलीन हो जाने के कारण उनके सूक्ष्म संस्कार कलात्मक लय की समग्र योजना को प्रखर बनाते हैं। स्वर का सन्तान इस लय का विस्तार करता है। विलय और लय की इस सम्भावना के कारण ही स्वरों की इकाइयों का प्रसार संतान का रूप ग्रहण करता है। वैज्ञानिक दृष्टि से स्वर लहरियों की गति का भेद ही सप्त स्वरों का निर्माण करता है। सात रंग भी एक ही प्रकाश के विच्छुरित रूप हैं। फिर भी उनमें स्वरों की अपेक्षा कम साम्य और अधिक वैशम्य दिखाई देता है। स्वर की मौलिक एकरूपता के कारण स्वर सन्तान के रूप में रूप का अतिशय संगीत की कला में अधिक मौलिकता से प्रकट होता है। काव्य

तथा भाषा के अन्य रूप भी शब्द के माध्यम से निर्मित होते हैं। उनसे तुलना करने पर स्वर सन्तान के रूप का अतिशय अधिक स्पष्ट हो जाता है। जिन्हें शब्द अथवा स्वर की मात्रायें कहते हैं वे संगीत में काव्य अथवा भाषा से भिन्न होती हैं। भाषा में केवल ह्रस्व और दीर्घ स्वर के दो भेद होते हैं। किन्तु संगीत में मन्द्र, मध्यम और तार के अतिरिक्त स्वरों में शुद्ध और कोमल के भेद होते हैं। भाषा के एक ह्रस्व अथवा दीर्घ एक ही स्वर का अवलम्ब लेकर संगीत में जब अनेक स्वरों की परम्परों का प्रयोग होता है तो स्वर सन्तान के रूप का अतिशय शाब्दिक भाषा की तुलना में स्पष्ट हो जाता है। आलाप और तान में यह संतान और रूप का अतिशय प्रखरता से प्रकट होता है। वैसे सामान्यतः यह संगीत के समस्त स्वर विधान में व्याप्त रहता है।

स्वर सन्तान के रूप का अतिशय अपनी लयगत मौलिक विशेषताओं के कारण संगीत को अन्य कलाओं से विलक्षण बना देता है। रूप की इकाई और योजना का ऐसा गहन सामंजस्य अन्य कलाओं में दुर्लभ है। नृत्यकला की गति का रूप दृश्य होते हुए भी संगीत के स्वर क्रम की भाँति कालगत होता है। अतः नृत्य कला के रूप का अतिशय भी संगीत के रूप के अतिशय के वहुत निकट आ जाता है फिर भी इकाइयों के प्रसार की अपेक्षा यह अतिशय योजना के रूप में ही प्रमुख रहता है। संगीत में इकाई के प्रसार और योजना का ऐसा अद्‌भुत साम्य मिलता है जैसा कि अन्य किसी कला में दुर्लभ है। एक रंग की चित्रकला तथा मूत्तिकला में इस सामञ्जस्य का कुछ आभास मिलता है। किन्तु इनमें रूप की इकाइयों में विविधता कम हो जाती है। बहुरंगी चित्रकला में यह विविधता रहती है। इस विविधता से सौन्दर्य का रूप निखरता है, किन्तु दूसरी ओर रूप की इकाइयाँ कुछ अधिक विविक्त हो जाती हैं तथा रूप के प्रसार का अतिशय योजना में ही अधिक प्रकट होता है। उपयोगिता की दृष्टि से तो सभी कलाओं के रूप को अतिशय कहा जा सकता है किन्तु स्वरूप के प्रसार का अतिशय तथा योजना के अतिशय के साथ उसका साम्य जितना अधिक संगीत में मिलता है उतना अन्य कलाओं में सम्भव नहीं। कलाओं के स्वरूप में ऊपर जिन भेदों का विवेचन किया गया है वे उनके माध्यमों के स्वरूप पर अवलंवित हैं। इन भेदों के कारण यदि कोई कला अन्य कलाओं से श्रेष्ठ भी ठहरती है तो उसकी ये श्रेष्ठता सापेक्ष ही है। अन्य कलाओं में भी अपनी अपनी विशेषताएँ हैं जो उन्हें श्रेष्ठ बनाती हैं। कलाओं के माध्यमों और कला के स्वरूपों की विविधता अन्ततः कला और

जीवन के समग्र सौन्दर्य की वर्द्धक है। रूप के अतिशय के अतिरिक्त रूप की विविधता ही प्रत्येक कलाकृति में सौन्दर्य की योजना बनाती है। विविध कलाओं के माध्यमों और रूपों की मौलिक विविधता सौन्दर्य को और बढ़ाती है।

माध्यम के रूप के अतिशय के अतिरिक्त योजना, अभिव्यक्ति, भाव आदि के अतिशय कलाओं के सौन्दर्य को समृद्ध और सम्पन्न बनाते हैं। योजना प्रमुखतः रूप की इकाइयों की व्यवस्था है। किन्तु रूप और तत्व अभिन्न होते हैं। अतः रूप की योजना के साथ तत्व की व्यवस्था भी अनायास हो जाती है। कुछ सीमा तक रूप को तत्व की व्यवस्था की अभिव्यक्ति कहा जा सकता है। भौतिक उपकरणों के प्रसंग में तो यह बहुत सत्य है। भौतिक जगत में रूप और तत्व का सम्बन्ध अनिवार्य ही नहीं बहुत कुछ नियत भी है। नियत होने के कारण तत्व की व्यवस्था में मनुष्य का अधिकार और कर्तृत्व कम है। जो कलायें भौतिक उपकरणों पर अवलंबित हैं, उनमें मुख्यतः रूप की योजना ही प्रधान रहती है। इसी में कलाकार का मुख्य कर्तृत्व रहता है। रूप में समवेत रहने के कारण तत्व इस योजना का अनायास अनुसरण करता है। मूर्त्तिकला में इसका अधिक स्पष्ट उदाहरण मिलता है क्योंकि उसका माध्मम सबसे अधिक स्थूल है। संगीत की कला का माध्यम शब्द अवश्य है किन्तु मनुष्य रूप के साथ साथ शब्द के तत्व की भी सृष्टि करता है। संगीत का रूप शब्द के तत्व में सदा समवेत नहीं रहता। इस रूप की रचना के साथ साथ संगीतकार उसमें समवेत शब्द तत्व की भी साथ-साथ रचना करता है! कलाकार का कर्तृत्व अधिक होने के कारण संगीत अधिक सृजनात्मक कला है। शब्द के सूक्ष्म तत्व के कारण रूप और तत्व का साम्य भी उसमें अधिक घनिष्ठ होता है। इन सभी कलाओं में मानसिक भाव तत्व का समवाय भी संभव है और प्रायः रहता है। यह मानसिक तत्व पूर्ण रूप से कलाकार का कृतित्व है। ज्ञान के मानसिक तत्व में तत्व और रूप दोनों के प्रति कलाकार का कर्तृत्व कम रहता है। इसीलिए कला के सौन्दर्य में ज्ञानतत्व का समवाय अथवा ज्ञान तत्व को ग्रहण कर सौन्दर्य का सृजन कठिन होता है। ज्ञान के तत्व और रूप दोनों में सृजन की अपेक्षा ग्रहण अधिक रहता है। मौलिक तत्वों की खोज विरले ही करते हैं। ज्ञान की अभिव्यक्ति के रूप भी भाषा की परम्परा में बहुत कुछ रूढ़ हो जाते हैं। भाव-तत्व और उसकी अभिव्यक्ति के रूप में कलाकार का कर्तृत्व अधिक रहता है। अतः ये ही कला की स्पष्ट भूमिका बनाते हैं। भाव और रूप में समवेत होकर ही ज्ञान

कला का उपादान बनता है। ज्ञान का लक्षण कुछ सामान्य होता है, किन्तु भावों में कुछ विलक्षणता रहती है जो उनकी विविधता को बढ़ाती है। कर्तृत्व की स्वतन्त्रता के कारण भाव की अभिव्यक्ति के रूप तत्व से भी अधिक विपुल होते हैं। यही विविधता कलात्मक सौन्दर्य के साथ भाव की श्रेष्ठतर संगति का रहस्य है।

इसीलिए सभी कलाओं में मानसिक तत्व तथा विशेष रूप से भाव का ग्रहण अधिक होता है। अभिव्यक्ति की दृष्टि से भाव सौन्दर्य के अधिक निकट है। ज्ञान के तत्व में यथार्थता का अनुरोध रहता है। यह यथार्थता ज्ञान का स्पष्ट लक्षण है। यथार्थ की अभिव्यक्ति अभिधा के द्वारा होती है। अभिधा में भाव और तत्व के न्यूनतम परिमाणों का साम्य रहता है। इनमें भी रूप की न्यूनता अभिधा का प्रथम लक्षण है। क्योंकि अभिधान का सम्बन्ध अभिव्यक्ति के रूप से ही है। न्यूनतम रूप में तत्व की अभिव्यक्ति को हम अभिधान का लक्षण कह सकते हैं। दूसरे अभिधान सरल और स्पष्ट भी होता है। उसमें भंगिमा और संकेत नहीं होते। ऋजु और अल्प रूप के द्वारा तत्व का अनावरण अभिधान का उद्देश्य है। किन्तु भाव का अनावरण कठिन है। उसका संकेत ही किया जा सकता है। वस्तुतः भाव की अभिव्यक्ति एक ऐसे अलक्ष्य रूप में होती है कि उसे संकेत कहना भी अधिक उचित नहीं है। लक्षणा और व्यंजना की शक्तियों में भाव की अभिव्यक्ति के इस रूप का कुछ आभास मिलता है। अभिव्यक्ति के इस रूप में 'रूप का अतिशय' अधिक स्फुट रूप में लक्षित होता है। यह रूप का अतिशय ही सौन्दर्य को समृद्ध करता है। भाव का अतिशय इस समृद्धि में योग देता है। वस्तुतः भाव स्वरूप से ही चेतना का अतिशय है। वह ज्ञान की भाँति यथार्थ नहीं उसमें और अधिक अतिशय उदित होने पर वह और भी अधिक समृद्ध हो जाता है। भाव और व्यंजना के रूप का यह अतिशय सभी कलाओं में मिलता है। शब्द के सार्थक और समर्थ माध्यम के कारण काव्य में भाव और रूप का यह अतिशय प्रचुरता से मिलता है। भाव का अतिशय उन पारस्परिक मानवीय संबन्धों में उदित है, जो समात्मभाव की भूमिका में प्रतिष्ठित होकर समात्मभाव को साकार और सम्पन्न बनाते हैं। भाव के अतिशय को अभिधा के सीमित अर्थ से विविक्त करने के लिए हम आकूति कह सकते हैं। आकूति अर्थ का अनिश्चित अर्थ है जो स्वरूपतः अनुक्त होने पर भी रूप की शक्ति से लक्षित होता है। आकूति का यह अतिशय केवल अनुक्त ही नहीं वरन् बहुत कुछ अनिर्वचनीय भी होता है। वह अनभिहित ही नहीं बहुत कुछ अनभिधेय भी होता है। लक्षणा और व्यंजना

अभिव्यक्ति के रूप का केवल ऐसा अतिशय नहीं है जो विलास मात्र हो। बहुत कुछ अंश में भाव के अनिर्वचनीय अतिशय के कारण आवश्यक है। व्यंजना केवल ऐसी आकृति का अपह्नव नहीं है जिसका अन्यथा अभिधान संभव है। ऐसा होने पर व्यंजना आवश्यक न होकर विलास बन जायगी। काव्य-शास्त्रों में अभिधेय आकृति के अपह्नव के रूप में ही लक्षणा और व्यंजना की व्याख्या की गई है। किन्तु यह लक्षणा और व्यंजना का वह रूप है जो अन्ततः अभिधा के समकक्ष है। लक्षित और व्यंजित आकृतियों का अभिधान संभव है। यह अभिधान ही साहित्य की व्याख्याओं और आलोचनाओं का लक्ष्य है। आधुनिक युग में पश्चिम के प्रभाव से प्रचलित होने वाली आलोचना भी लक्ष्य और व्यंग की आकृतियों को अभिधेय बनाने की अपराधिनी है। वस्तुतः आकृति का सम्पन्न मर्म पूर्णतः अभिधेय नहीं है। आकृति की इसी अनभिधेयता में भाव-तत्व का वह मर्म निहित रहता है, जो रूप के अतिशय के द्वारा लक्षित और व्यंजित होता है। शब्द के सार्थक माध्यम के कारण काव्य का 'रूप' शब्दों की व्याकरणगत योजना के अनुरूप होता है। किन्तु काव्य गत आकृति की भाषागत अभिव्यक्ति भाषा के व्याकरणगत रूपों की अपेक्षा अधिक विविध और विचित्र होती है। अभिव्यक्ति के इस रूप की विविधता और विचित्रता रूप की विपुलता से काव्य के सौन्दर्य को बढ़ाती है। अर्थ के समवाय के साथ साथ शब्द का माध्यम संगीत के स्वर के समान मुखर भी है। काव्य की ध्वनि योजना में संगीत की स्वर योजना की अपेक्षा ध्वनि का सन्तान कम रहता है, फिर भी वह गद्य की अपेक्षा अधिक होता है। इसके अतिरिक्त काव्य की ध्वनि योजना में एक लय होती है जो इसी सन्तान से निर्मित होता है। यह लय भी संगीत की अपेक्षा कम किन्तु गद्य की अपेक्षा अधिक होती है। यह लय भी एक प्रकार का रूप का अतिशय है, जो अभिव्यक्ति के रूप के अतिशय में योग देकर उसे समृद्ध बनाता है। भाव के अतिशय से समवेत होकर यह रूप के अतिशय काव्य को एक अत्यन्त सम्पन्न और समर्थ कला बनाते हैं। भाव की आकृति के अन्तर्निधान और संगीत के साथ साम्य के कारण हम काव्य को आत्मा का मुखर संगीत कह सकते हैं। संगीत की लय और व्यंजना के समर्थ रूप के द्वारा आत्मा के अनिर्वचनीय अन्तर्भाव काव्य में एक रहस्यमय विधि से व्यंजित होते हैं।

———

अध्याय ६

साहित्य और काव्य

साहित्य शब्द का प्रयोग प्रायः एक व्यापक अर्थ में किया जाता है। सबसे अधिक व्यापक अर्थ में तो साहित्य को वाङ्मय का पर्याय माना जाता है। शब्द के रूप में जो कुछ भी मिलता है वह सभी साहित्य है। प्राचीन काल में तो इस व्यापक साहित्य के अन्तर्गत काव्य, नाटक, व्याकरण, कोष, आयुर्वेद, दर्शन आदि की गणना की जाती थी, किन्तु आज के प्रौद्योगिक युग में व्यावसायिक विज्ञापन की पुस्तकें भी साहित्य के अन्तर्गत गिनी जाती हैं। वे भाषा के शब्दों में लिखी जाती हैं इसलिये वे वाङ्मय के अन्तर्गत हैं। वाङ्मय (शब्दमय) होने के कारण यह भी साहित्य है।

किन्तु वाङ्मय को साहित्य का पर्याय मानना उचित नहीं है। वाङ्मय शब्द के रूप में अवश्य होता है, किन्तु उसमें शब्द की अपेक्षा अर्थ का महत्व अधिक होता है। अतः उसे अर्थमय कहना उचित है। किन्तु वाङ्मय का अर्थ भी शब्द के रूप में साकार होता है। इसीलिये उसे वाङ्मय कहा जाता है। फिर भी शब्द उसका साध्य नहीं होता। वाङ्मय का साध्य अर्थ ही है, यद्यपि उस अर्थ की अभिव्यक्ति शब्द के द्वारा ही होती है। व्यावसायिक विज्ञापनों तक वाङ्मय अथवा साहित्य का विस्तार तो अधिक उचित नहीं है। किन्तु शास्त्र दर्शन आदि को वाङ्मय कहा जा सकता है।

किन्तु इनको साहित्य कहना उचित नहीं है। साहित्य का तात्पर्य शब्द और अर्थ का भाव है। यह सहित भाव एक प्रकार का अभिन्न भाव है जिसको कालिदास ने 'सम्पृक्ति' कहा है। और जिसको उन्होंने पार्वती और परमेश्वर के अभिन्न भाव का उपमान माना है। तन्त्रों के अनुसार वाक् और अर्थ की इस सम्पृक्ति को 'साम्य' कहना होगा। साम्य का अर्थ परस्पर सम्भावन है। साहित्य के शब्द और अर्थ एक दूसरे का सम्भावन करते हैं। उनके इसी परस्पर सम्भावन से साहित्य का सौन्दर्य निखरता है। यही सौन्दर्य साहित्य को कला बनाता है। साहित्य के इस सहित भाव शब्द और अर्थ को एक दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता। ऐसा करने पर साहित्य का रूप नष्ट हो जाता है। शब्दों के परिवर्तन के द्वारा ऐसा किया जा सकता है। साहित्य की व्याख्याओं में तथा अनुवादों और अन्वयों में ऐसा किया जा

सकता है। शब्दों के बदलते ही साहित्य का सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। कलाकार शब्दों के जिस क्रम में किसी भाव को आकार देता है उसी रूप में उसका रूप सुरक्षित रहता है। उन शब्दों और उनके उस विशेष क्रम से वियुक्त होते ही अर्थ का रूप सौन्दर्य विशीर्ण हो जाता है।

साहित्य में शब्द और अर्थ की इस अभिन्नता का अभिप्राय शब्द और अर्थ के उस सामान्य समवाय से नहीं है जो व्याकरण और दर्शन का अभीष्ट हो सकता है। इनके अनुसार शब्द और अर्थ सामान्य रूप से एक दूसरे से अभिन्न अथवा एक दूसरे में समवेत रहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि शब्द बिना अर्थ के नहीं रह सकता और अर्थ बिना शब्द के नहीं रह सकता। शब्द और अर्थ का यह सामान्य सहित भाव वाङ्मय में मिल सकता है, किन्तु जिस साहित्य को कला कहा जाता है उसमें शब्द और अर्थ का यह सामान्य सहित भाव अभीष्ट नहीं होता। ऐसा सामान्य सहित भाव तो साहित्यिक रचना की व्याख्या तथा उसके अनुवाद और अन्वय में भी रहता है। साहित्य में शब्द और अर्थ का सामान्य सहित भाव नहीं वरन् विशेष अर्थ और विशेष शब्द का सहित भाव अभीष्ट होता है। जो विशेष अर्थ जिन शब्दों में साकार होता है उसको अन्य शब्दों तथा अन्य क्रम में व्यक्त नहीं किया जा सकता। ऐसा करने पर साहित्य का सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। शब्द ही साहित्य का रूप है। उसी में साहित्य का सौन्दर्य निहित रहता है। शब्दों में परिवर्तन अथवा व्यतिक्रम होने पर रूप का यह सौन्दर्य उसी प्रकार नष्ट हो जाता है जिस प्रकार पुष्प की पंखुड़ियों को तोड़कर एकत्र कर लेने से पुष्प का सौन्दर्य नष्ट हो जाता है।

व्यापक वाङ्मय से कलात्मक साहित्य का अन्तर विशेष अर्थ और विशेष शब्दों के इसी सहित भाव में खोजा जा सकता है।

दूसरी ओर साहित्य और काव्य इन दोनों शब्दों का प्रयोग समान और भिन्न दोनों अर्थों में किया जाता है। काव्य के समान अर्थ में साहित्य शब्द का प्रयोग कुछ संकुचित प्रतीत होता है। वर्तमान साहित्यिक चिन्तन में साहित्य का प्रयोग काव्य की अपेक्षा व्यापक अर्थ में होता है। इस प्रयोग के अनुसार काव्य, नाटक, कहानी, उपन्यास आदि को साहित्य के अन्तर्गत माना जाता है। काव्य इस व्यापक साहित्य का एक अंग मात्र है। काव्य, नाटक, कहानी, उपन्यास आदि साहित्य की विविध विधाएं हैं। साहित्य की इन विधाओं में काव्य प्राचीन काल में अधिक लोक प्रिय रहा है। फिर भी काव्य-साहित्य की केवल एक विधा है। किन्तु दूसरी ओर संस्कृत साहित्य शास्त्र में काव्य को साहित्य का पर्याय माना जाता है। आचार्य विश्वनाथ ने अपने

साहित्य दर्पण में साहित्य और काव्य को एक दूसरे का पर्याय माना है। उनके ग्रन्थ का नाम 'साहित्य दर्पण' है। किन्तु उसमें उसी प्रकार काव्य के स्वरूप और अंगों का विवेचन किया गया है जिस प्रकार कि मम्मटाचार्य ने अपने 'काव्य प्रकाश' नामक ग्रन्थ में किया है। संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा में काव्य का जो लक्षण किया गया है वह साहित्य शब्द की व्युत्पत्ति के अनुरूप है। भामह ने शब्द और अर्थ के साहित्य अथवा सहित भाव के रूप में काव्य की जो परिभाषा की थी वह प्रायः मान्य रही है। कालिदास ने वाक् और अर्थ के साहित्य को संपृक्ति का नाम देकर उसे पार्वती परमेश्वर का अभिन्न उपमान बनाया है। संस्कृत काव्य शास्त्र के इस काव्य का सर्वदा छन्दोबद्ध होना आवश्यक नहीं है। यह काव्य गद्य में भी हो सकता है। नाटक को भी संस्कृत में साहित्य के अन्तर्गत गिना जाता है। 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' की उक्ति यह प्रमाणित करती है कि नाटक काव्य का एक सुन्दर रूप है। कादम्बरी को भी संस्कृत परम्परा में एक उत्तम काव्य माना जाता है। कादम्बरी शैली की दृष्टि से एक गद्य का ग्रन्थ है। गद्य में होते हुए भी उसे काव्य माना जाता है। विषय की दृष्टि से वह एक उपन्यास है। कादम्बरी के उपन्यास तत्व का प्रभाव मराठी भाषा में इतना है कि मराठी में उपन्यास के लिये पारिभाषिक शब्द के रूप में 'कादम्बरी' शब्द का प्रयोग होता है। मराठी भाषा में कादम्बरी शब्द का अर्थ उपन्यास है। उपन्यास शैली की एक विशेष रचना कादम्बरी सामान्य उपन्यास की वाचक बन गई है। जिस प्रकार नाटक को काव्य में सुन्दर माना जाता है, उसी प्रकार गद्य की रचना का भी संस्कृत साहित्य में बड़ा स्थान है। गद्य को कवियों की कसौटी माना जाता है (गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति)। इससे स्पष्ट है कि गद्य में भी काव्य की रचना हो सकती है। गद्य के काव्य को कठिन और श्रेष्ठ माना जाता है क्योंकि उसमें छन्द के सौन्दर्य का लाभ नहीं रहता। कादम्बरी भाव और सौन्दर्य से परिपूर्ण है। हिन्दी भाषा में प्रायः काव्य छन्दोबद्ध ही रहा है। इसलिये गद्यमय की कल्पना कुछ विचित्र सी जान पड़ती है। बंगला भाषा के उद्भ्रान्त प्रेम से प्रेरित होकर तथा गीतांजलि से प्रभावित होकर हिन्दी में कुछ भावुकतापूर्ण गद्यकाव्य आधुनिक युग में लिखे गये हैं। फिर भी सामान्यतः गद्य को काव्य के अनुरूप माध्यम नहीं माना गया है। वाणभट्ट की कादम्बरी के अनुरूप आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने वाणभट्ट की आत्मकथा की रचना की है। आचार्य द्विवेदी की यह कादम्बरी की शैली में और उसी के अनुरूप है तथा उसी के समान सुन्दर और श्रेष्ठ काव्य पद की अधिकारिणी है। छन्द-हीन नई कविता की भाषा गद्य के बहुत निकट आ रही है फिर भी हिन्दी

की परम्परा में काव्य और गद्य एक दूसरे से दूर ही रहे हैं। मध्यकालीन हिन्दी में तो गद्य का अत्यन्त अभाव है। किन्तु संस्कृत परम्परा में गद्य और पद्य दोनों को समान रूप से काव्य के अनुरूप माना जाता रहा है। गद्य और पद्य की मिश्रित शैली से युक्त काव्य को 'चम्पू' के नाम से एक विशेष स्थान दिया गया है। इसके अतिरिक्त नाटक और उपन्यास की शैलियों को भी काव्य के अन्तर्गत माना गया है। वस्तुतः संस्कृत साहित्य शास्त्र काव्य का केवल एक छन्दोबद्ध रूप ही नहीं मानता। 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' में काव्य शब्द का बहुवचन में प्रयोग संभवतः छन्दोबद्ध काव्य के अतिरिक्त काव्य की अन्य शैलियों को ध्यान में रखकर किया गया है। नाटक की शैली का निर्देश तो इस उक्ति में ही मिल जाता है। कादम्बरी को श्रेष्ठ काव्य मानकर उपन्यास की गद्यमय शैली को भी काव्य के अनुरूप माना गया है।

इस प्रकार संस्कृत साहित्य की परम्परा में साहित्य और काव्य एक दूसरे के पर्याय प्रतीत होते हैं। ऐसी स्थिति में काव्य के लक्षण को साहित्य की अन्य विधाओं में भी खोजना और घटित करना होगा। शब्द और अर्थ के जिस सहित भाव को काव्य का मूल लक्षण माना गया है, वह छन्दोबद्ध काव्य में एक बहुत अंश में लागू होता है। जिस काव्य में शब्द और अर्थ के परस्पर संभावन का साहित्य (सहित भाव) जितना अधिक घनिष्ठ होता है। साहित्य की अन्य विधाओं को भी काव्य के समान मानने पर शब्द और अर्थ के इस सहित भाव को नाटक, उपन्यास आदि पर भी लागू करना होगा। संस्कृत साहित्य में नाटक और उपन्यास को भी काव्य के अन्तर्गत गिना गया है। संस्कृत भाषा में जो नाटक और उपन्यास मिलते हैं उन पर काव्य की उक्त कसौटी बहुत कुछ लागू हो सकती है। इनमें शब्द और अर्थ का सहित भाव बहुत कुछ उसी रूप और परिमाण में मिलता है, जिस रूप और परिमाण वह छन्दोबद्ध काव्यों में मिलता है। संस्कृत के नाटकों में गद्य और छन्दों का मिश्रण है। उनका छन्दोमय भाग तो छन्दोमय काव्य के ही समान है किन्तु सम्पूर्ण नाटकों को काव्य मानने के लिये उनके गद्यमय संलापों में भी काव्य का लक्षण घटित करना होगा। संस्कृत के छन्दोमय काव्य में प्रायः अलंकारों की बहुलता मिलती है। छन्द की संगीतमय गति के साथ मिलकर अलंकारों की यह बहुलता छन्दोमय काव्य के रूप सौन्दर्य को बहुत बढ़ा देती है। एक प्रकार से इस काव्य में प्रायः रूप का सौन्दर्य अर्थतत्व से अधिक बढ़ जाता है। रूप की इस प्रधानता से काव्य के अभीष्ट साम्य में कुछ वैषम्य आ जाता है। श्री हर्ष, माघ, भारवि आदि के काव्यों में अर्थ की गम्भीरता

अधिक है। दूसरी ओर छन्द और अलंकारों का रूप सौन्दर्य भी कम नहीं है। प्रायः रूप सौन्दर्य और अर्थ गाम्भीर्य एक दूसरे से बढ़ जाने की स्पर्धा करते जान पड़ते हैं। रूप सौन्दर्य और अर्थ गम्भीर की प्रमुखता के लिए स्पर्धा काव्य के साम्य में वैषम्य को बढ़ाती है। जिस अनुपात में रूप सौन्दर्य और अर्थतत्व एक दूसरे का सम्भावन करते हैं तथा इस प्रकार अपने साम्य को घनिष्ट बनाते हैं, उसी अनुपात में कोई काव्य सुन्दर बन पाता है। कालिदास के काव्य में साम्य की यह घनिष्टता सबसे अधिक मिलती है। इसीलिये उनका काव्य सबसे अधिक सुन्दर है। कालिदास को उपमाओं का कवि माना जाता है। उनकी उपमाएँ अत्यन्त सुन्दर हैं। उन्होंने उपमाओं का प्रयोग भी अधिक किया है। उपमाओं में उनकी प्रतिभा अनुपम है। किन्तु उनके काव्य के सर्वाधिक सुन्दर स्थल वे नहीं हैं जिनमें उन्होंने उपमाओं का प्रयोग किया है। काव्य के घनिष्ठ साम्य से अपरिचित तथा अलंकारों के रूप सौन्दर्य पर मुग्ध होने वाले साहित्य सागर के कूल विहारियों को ही कालिदास के काव्य के ये अलंकृत स्थल अधिक सुन्दर जान पड़ते हैं। वस्तुतः इनमें अधिकांश उपमाएँ उपमेय को गौण बनाकर अर्थ को गौण बना देती हैं तथा अलंकार के रूप सौन्दर्य की प्रमुखता से काव्य के अभीष्ट साम्य में वैषम्य उत्पन्न करते हैं। काव्य के गहन अनुरागियों को कालिदास के काव्य के वे स्थल अधिक सुन्दर प्रतीत होते हैं जिनमें ये उपमाएँ साम्य को भंग करती हैं अथवा इसका अधिक पोषण करती हैं। 'कुमारसम्भव' और 'रघुवंश' के आरम्भिक सर्गों में से ऐसे सफल और अधिक सुन्दर काव्य के उदाहरण अधिक मिलते हैं।

किन्तु काव्य मर्मज्ञों ने कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तल' नाटक को कालिदास काव्यों से नहीं वरन् अन्य कवियों के काव्यों से भी अधिक सुन्दर माना है। 'अभिज्ञान शाकुंतल' में भी उन्होंने शकुन्तला की विदा के प्रसंग के जिन चार छंदों को सबसे अधिक सुन्दर माना है उनमें उपमा आदि अलंकारों का प्रयोग नहीं मिलता अतः उनमें काव्य का रूप सौन्दर्य प्रमुखता का अभिलाषी नहीं बनता। दूसरी ओर विदा के अवसर की करुणा ने इन श्लोकों के भाव को तरल और गम्भीर बना दिया है। इस प्रकार इन छंदों में गम्भीर भाव और सुन्दर रूप एक दूसरे का अधिकतम संभावन करके इन छंदों को समृद्ध बनाकर इन्हें सुन्दरतम बनाते हैं। किन्तु इन छंदों के बीच में बिखरे हुए संलापों में भी मार्मिक भाव और मनोहर रूप के साम्य का सौंदर्य उक्त चार छंदों की अपेक्षा कम नहीं है। छंद के सहज आकर्षण के कारण ही इन चार छंदों को संलापों की अपेक्षा अधिक महत्व दिया गया है। कथा की

दृष्टि से इन छंदों का भाव कुछ विशेष महत्वपूर्ण है अन्यथा इन छंदों के बीच के गद्यमय संलापों का सौन्दर्य भी कम नहीं है। छंद के प्रभाव के कारण इनमें संगीत की लय का सौन्दर्य नहीं हे, किन्तु दूसरी ओर छंद का अभाव इन संलापों को रूप के सौन्दर्य की प्रमुखता से उत्पन्न होने वाले वैषम्य से बचता है। वस्तुतः ये संलाप काव्य के घनिष्ट साम्य से सम्पन्न सौन्दर्य के सर्वोत्तम उदाहरण हैं।

'अभिज्ञान शाकुन्तल' तथा कालिदास एवं अन्य कवियों के नाटकों के गद्यमय भावों में भी शब्द और अर्थ के साम्य का सौन्दर्य मात्रा में मिलता है। छंद का अभाव उनके सौन्दर्य को कम नहीं करता वरन् एक प्रकार से छंद की प्रमुखता से उत्पन्न होने वाले वैषम्य से उन्हें बचाता है। इस प्रकार नाटकों के गद्य भागों में भी शब्द और अर्थ का सहित भाव काव्य के लक्षण को घटित करता है।

शब्द और अर्थ सहित भाव का तात्पर्य दोनों की अभिन्नता है। यदि दोनों को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सका तो उनका सहित भाव काव्य के साम्य के अनुरूप है। यदि शब्दों का परिवर्तन करने पर अर्थ की अभिव्यक्ति का सौन्दर्य क्षीण हो जाता है तो रचना के शब्द और अर्थ का सहित भाव अखण्डनीय है। संस्कृत भाषा के नाटकों के गद्य भागों में तथा उपन्यासों में शब्द और अर्थ का घनिष्ट साम्य मिलता है। इसीलिये वे काव्य की कोटि में गिने जाते हैं।

बाणभट्ट की कादम्बरा तो गद्यमय उपन्यास होते हुए भी संस्कृत का उत्तम काव्य मानी जाती है। उसमें छंद के सौन्दर्य का आभास है, किन्तु अलंकारों का सौन्दर्य उसमें विपुलता से मिलता है। दूसरी ओर भावों की गम्भीरता भी कम नहीं है। भाव और रूप का जितना घनिष्ट और समृद्ध साम्य कादम्बरी में सम्पन्न हुआ है उतना अन्यत्र मिलना कठिन है। इसीलिये कादम्बरी को संस्कृत का अनुपम काव्य माना जाता है।

संस्कृत के नाटकों और उपन्यासों में काव्य का लक्षण सफलता से घटित होता है। उनमें शब्द और अर्थ अथवा रूप और भाव का साम्य-घनिष्ट मिलता है। किन्तु हिन्दी के नाटकों और उपन्यासों में पाठकों को

कदाचित् अर्थ की प्रधानता दिखाई दे और रूप का पर्याप्त साम्य न होने के कारण उन पर काव्य का लक्षण घटित करना भी उन्हें स्वीकार न हो।

हिन्दी की परम्परा में नाटक, कहानी और उपन्यास को साहित्य के अन्तर्गत तो अवश्य गिना जाता है। किन्तु इनको काव्य के अन्तर्गत मानने के लिये हिन्दी आलोचना उद्यत न होगी। ऐसी स्थिति में हिन्दी के प्रसंग में साहित्य और काव्य का भेद स्पष्ट करना होगा। हिन्दी आलोचना में कदाचित् इस भेद को स्पष्ट करने का प्रयत्न नहीं किया गया है। काव्य, नाटक, कहानी, उपन्यास आदि को साहित्य की परिधि में गिना जाता है, किन्तु साहित्य की कोई निश्चित परिभाषा देकर उसे इन सब पर घटित करने का प्रयत्न नहीं किया गया है। हिन्दी परम्परा में भी साहित्य को वाङ्मय का पर्याय नहीं माना गया है। विज्ञान, दर्शन आदि के उपयोगी और अर्थ प्रधान वाङ्मय से साहित्य की कलात्मक रचना का भेद हिन्दी की परम्परा में सर्वदा स्पष्ट रहा है। कविता, नाटक, कहानी, उपन्यास आदि ही साहित्य के अन्तर्गत माने जाते रहे हैं किन्तु हिन्दी की परंपरा में नाटक, कहानी और उपन्यास की गद्य-मय रचनाओं से काव्य का भेद स्पष्ट रहा है। संस्कृत साहित्य की भाँति हिंदी साहित्य में नाटक उपन्यास आदि की गद्यमय रचनाओं को काव्य के अन्तर्गत कभी नहीं माना गया। किन्तु साहित्य की परिधि में इनका स्थान रहा। ऐसी स्थिति में साहित्य और काव्य की स्पष्ट परिभाषा करना तथा इनके सम्बन्ध एवं भेद को स्पष्ट करना और नाटक, उपन्यास आदि पर साहित्य की परि-भाषा को घटित करना आवश्यक हो जाता है। हिन्दी आलोचना में प्रायः ऐसा नहीं किया गया।

साहित्य अथवा काव्य की ऐसी परिभाषाएं जो अति व्याप्त हो जाती हैं, ऐसे स्पष्टीकरण का आधार नहीं बन सकतीं। अति व्याप्त परिभाषाओं से साहित्य तथा काव्य के स्वरूप का कुछ संकेत अवश्य मिल जाता है, किन्तु ये परिभाषाऐं इनके स्वरूप का निश्चित निर्धारण तथा अन्य प्रकार की रच-नाओं से इनका स्पष्ट विवेक नहीं कर सकतीं। साहित्य अथवा काव्य को जीवन की अभिव्यक्ति, भाव की व्यंजना जीवन की आलोचना आदि कहना ऐसी अति व्याप्त परिभाओं के ही उदाहरण हैं। ये सभी लक्षण गद्य की उन बिचारात्मक रचनाओं पर भी लागू होते हैं जो विज्ञान अथवा दर्शन की श्रेणी में गिनी जा सकती हैं, किन्तु जिन्हें साहित्य अथवा काव्य नहीं कहा

जा सकता। ऐसी परिभाषाएँ अर्थपरक अथवा तत्वपरक होती हैं। सम्पूर्ण वाङ्मय अर्थतत्व से पूर्ण होता है। अतः ये परिभाषाएँ सम्पूर्ण वाङ्मय पर लागू हो जाती हैं। यदि हम ज्ञान राशि के संचित कोश को साहित्य मानते हैं, तो दर्शन, विज्ञान आदि भी इस साहित्य के अन्तर्गत आ जाते हैं और यह साहित्य पूर्ण वाङ्मय का पर्याय बन जाता है। साहित्य की अर्थपरक परिभाषाओं के आधार पर अर्थपरक वाङ्मय से कलात्मक साहित्य का भेद नहीं किया जा सकता। संस्कृत की परंपरा में साहित्य और काव्य को परिभाषाएँ एक ही हैं तथा साहित्य और काव्य एक दूसरे के पर्याय हैं। हिन्दी की परंपरा में नाटक, कहानी और उपन्यास की गद्यमय रचनाएँ काव्य से भिन्न मानी जाती रहीं हैं। अतः इनके भेद का आधार हिन्दी कीं परम्परा में ही खोजना होगा।

विचार करने पर कदाचित् इस भेद का कोई स्पष्ट और निश्चित आधार न मिल सके, फिर भी हिन्दी साहित्य की भूमिका में इस खोज का प्रयत्न करना होगा। इस खोज का एक सूत्र तो हिन्दो साहित्य का प्राचीन और मध्यकालीन इतिहास मुख्यतः छन्दोमय काव्य का इतिहास है। उसमें नाटक, कहानी, उपन्यास आदि की गद्यमय रचनाएँ नहीं मिलती। नाटक, कहानी, उपन्यास आदि की गद्यमय रचनाएँ हिन्दी के आधुनिक युग की देन है। प्राचीनकाल और मध्यकाल के हिन्दी साहित्य में छन्दोमय काव्य की प्रधानता के कारण छन्दोमय काव्य ही साहित्य का प्रमुख रूप बना रहा है। गद्य की रचना की प्रथा न होने के कारण गद्य और काव्य की वह अभिन्नता हिन्दी साहित्य में प्रतिष्ठित न हो सकी, जिससे हम संस्कृत साहित्य की परंपरा में परिचित रहे हों। अतः जब नाटक, उपन्यास आदि की गद्यमय रचनाएँ होने लगी तो वे छन्दोमय काव्य से पृथक प्रतीत होने लगी। संस्कृत साहित्य की परंपरा में भा छन्दोमय काव्य को ही मुख्यतः काव्य माना जाता था, यद्यपि परिभाषा की दृष्टि से नाटक आदि भी काव्य पद के अधिकारी थे। नाटक के अतिरिक्त गद्यमय काव्य संस्कृत में भी अधिक नहीं मिलते, किन्तु बाणभट्ट की 'कादम्बरी,, दण्डी का 'दश कुमार चरित' आदि इने-गिने गद्यमय काव्य ही संस्कृत में इतने प्रसिद्ध रहे हैं कि उनकी ख्याति गद्य काव्य के अन्तर को मिटाने के लिये पर्याप्त रही है। इसके साथ-साथ नाटक को भी काव्य के क्षेत्र में पद्यमय काव्यों के समान स्थान मिलता रहा है। संस्कृत नाटकों में पद्य भाग भी रहता है। इसके अतिरिक्त नाटक के गद्य भाग का काव्यत्व भी असंदिग्ध रहता है, क्योंकि संस्कृत में गद्य को काव्य का विरोधी नहीं माना गया है। दूसरी ओर संस्कृत के अनेक शास्त्र पद्य में रचे गये हैं, किन्तु उन्हें साहित्य अथवा काव्य का स्थान कभी

नहीं दिया गया। नाटक को संस्कृत में सदा काव्य माना जाता रहा। केवल अभिनय के कारण उसको नाटक नाम दिया गया। संस्कृत साहित्य में नाटक को काव्य का ही एक भेद माना गया है। नाटक के पृथककरण से नाटक काव्य से अलग नहीं हो जाता। पद्यमय काव्यों की प्रधानता होते हुए भी संस्कृत में नाटक काव्य के ही अन्तर्गत गिना जाता रहा। काव्य का रूप और उसकी परिभाषा पद्यमय काव्य, नाटक और कादम्बरी जसे गद्यमय काव्यों पर पूर्णतः घटित होती है। शब्द और अर्थ का सहित भाव इन सबमें समान रूप से मिलता है। इनके शब्द, रूप की उपेक्षा करके इनके अर्थतत्व को प्रमुखता नहीं दी जा सकती। इसके अर्थतत्व और शब्द रूप एक दूसरे से अभिन्न और अभेद्य हैं। यही अभिन्न भाव इनका साहित्य है और यही साहित्य का लक्षण है जो इन सबमें घटित होता है।

हिन्दी के इतिहास में कई शताब्दियों तक पद्यमय काव्य की प्रधानता रही। हिन्दी के इतिहास की आरंभिक शताब्दियों में काव्यमय अथवा शास्त्र एवं विज्ञान के अर्थ प्राधान्य से युक्त किसी प्रकार का उल्लेखनीय गद्य नहीं मिलता। इसीलिए हिन्दी के इतिहास में आरंभ से ही काव्य और गद्य एक दूसरे से पृथक रहे हैं। इस परंपरा के प्रभाव के कारण ही आधुनिक युग में गद्य की रचना आरंभ हो जाने के बाद भी गद्य काव्य से पृथक ही रहा है। हिन्दी के नाटक भी गद्यमय ही रचे गये। गद्य के काव्य से पृथक रहने के कारण हिन्दी के नाटक भी काव्य के अन्तर्गत नहीं गिने गये हैं। किन्तु वे साहित्य के अन्तर्गत गिने जाते हैं। अतः हिन्दी के प्रसङ्ग में साहित्य और काव्य के भेद का विशद् विवेचन करना होगा। हिन्दी के नाटकों और उपन्यासों को काव्य से अलग करने में अलङ्कारों का विशेष हाथ है। संस्कृत और हिन्दी के गद्यगय काव्यों के अलङ्कारों की प्रचुरता रही है। इसी कारण अलङ्कारवादी आचार्यों ने अलङ्कार काव्य का आवश्यक लक्षण माना है। कादम्बरी जैसे गद्यमय काव्य में भी अलङ्कार की प्रचुरता मिलती है। हिन्दी के नाटकों और उपन्यासों में अलङ्कारों का वह लावण्य नहीं मिलता। यह एक ऐसा अंतर है कि जिसने आरंभ से ही हिन्दी के नाटक और उपन्यास को काव्य से अलग कर दिया। फिर भी इन्हें साहित्य के अन्तर्गत माना गया। साहित्य की किसी व्यापक परिभाषा के द्वारा काव्य के साथ नाटक और उपन्यास को भी साहित्य की परिधि में समाहित करना होगा।

पद्यमय काव्य की तुलना में नाटक और उपन्यास का काव्य के साथ

एक ओर अन्तर दिखाई देता है। अलंकार और व्यंजना का रूप, लावण्य इनमें काव्य की तुलना में बहुत कम दिखाई देता है। शब्दों का ऋजु क्रम और अभिधा की प्रधानता इन रचनाओं के अर्थ तत्व को उभारते हैं। इसके विपरीत काव्यमय अर्थतत्व कुछ गौण सा हो जाता है और अलंकार एवं व्यंजना के रूप में तन्मय हो जाता है। काव्य का अर्थतत्व बादलों के जल के समान रूप के सौन्दर्य में तन्मय हो कर संध्या के बादलों की सी रूप प्रधान सौन्दर्य की सृष्टि करता है, जिसमें अर्थतत्व मानो सौन्दर्य के रूप से एकाकार हो जाता हैं। रूप के साथ अर्थतत्व की ऐसी तन्मयता नाटक और उपन्यास में नहीं दिखाई देती। इनके रूप का आवरण इतना शुभ्र और भीना होता है कि इनका अर्थतत्व काव्य के अर्थतत्व की अपेक्षा कहीं अधिक प्रमुख प्रतीत होता है। यह भी कहा जा सकता है कि कथा तथा विचार दोनों ही रूपों में अर्थतत्व का परिमाण नाटक और उपन्यास में काव्य की अपेक्षा अधिक रहता है। उसका यह परिमाण भी उसे प्रमुख बनाने में योग देता है।

किन्तु काव्य से पृथक होते हुए भी नाटक और उपन्यास साहित्य के अन्तर्गत गिने जाते हैं। साहित्य की हिन्दी के प्रसंग में ऐसी परिभाषा करनी होगी जिसके अनुसार काव्य के साथ-साथ नाटक और उपन्यास को भी साहित्य के अन्तर्गत गिना जा सके। छन्द और अलंकार इस परिभाषा के आधार नहीं बन सकते क्योंकि वे नाटक और उपन्यास में नहीं मिलते। संस्कृत परम्परा में शब्द और अर्थ के सहित भाव को साहित्य का लक्षण बताया गया है और यही काव्य का लक्षण भी है। हिन्दी में कदाचित् साहित्य की कोई प्रसिद्ध परिभाषा नहीं की गई है। परम्परागत काव्य की छन्दोमयता और आलंकारिकता के आधार पर नाटक और उपन्यास काव्य की परिधि के बाहर हो गये हैं। किन्तु इन सबको साहित्य की परिधि में लाने के लिये साहित्य की एक व्यापक परिभाषा करनी होगी। ऐसी परिभाषा का प्रयास कदाचित् हिन्दी में नहीं किया गया है। संस्कृत काव्य शास्त्र में प्रचलित साहित्य की परिभाषा से भिन्न साहित्य की नई परिभाषा खोज करना कठिन भी है। तत्व की प्रधानता तो शास्त्र और विज्ञान का लक्षण है अतः साहित्य को कला मानकर रूप के आधार पर ही साहित्य की परिभाषा की जा सकती है और ऐसी स्थिति में काव्य से उसका विवेक करना कठिन होगा।

साहित्य को कला मानने पर रूप में ही उसका सौन्दर्य खोजा जा सकता है। कला रूप की ही रचना है। वाद्य संगीत और चित्रकलाओं की अल्पताओं

में शुद्ध रूपात्मक कला के उदाहरण मिल सकते हैं। किन्तु चित्रकला और संगीत की कलाओं में भी प्रायः रूप के साथ तत्व अथवा भाव का समवाय मिलता है। साहित्य की कला तो स्पष्टतः सार्थक शब्द की कला है। अर्थ के समवाय के बिना साहित्य की कल्पना नहीं की जा सकती। साहित्य की कला में अर्थ का रूप के साथ समन्वय होता है। कला का स्वरूप मुख्यतः रूप में ही निहित होता है। किन्तु साहित्य की कला में यह रूप सदा अर्थ से समन्वित होता है। साहित्य की आलोचना और व्याख्याओं में अर्थ का ही विवेचन अधिक रहता है। इससे साहित्य की कला में अर्थ का महत्व स्पष्ट है। आलंकारिक काव्यों में रूप की प्रमुखता दिखाई देती है अन्यथा साहित्य में हम प्रायः अर्थ को ही खोजते हैं। साहित्य के अध्ययन और आलोचना में प्रायः हम अर्थ को रूप से अलग कर लेते हैं। साहित्य का रूप शब्दों की योजना और अभिव्यक्ति की भंगिमा में रहता है। जब हम साहित्य के अर्थ को खोजते हैं तो हमारा यह वियोजित अर्थ मूल रचना के रूप से विच्छिन्न होकर दूसरे शब्दों के रूप में व्यक्त होता है। अर्थ का तत्व वही रहते हुये भी उसके शब्द बदल जाते हैं। इन भिन्न शब्दों में तथा भिन्न रूप में व्यक्त होने वाले अर्थ को हम साहित्य नहीं कहते। इसका अभिप्राय यह है कि कलात्मक रूप में समवेत रहने पर ही अर्थ साहित्य का निर्माण करता है। अर्थ साहित्य की कला का आवश्यक तत्व है क्योंकि साहित्य शब्द की कला है और साहित्य की भाषा के शब्द सार्थक होते हैं। साहित्य में अर्थतत्व आवश्यक होते हुये भी रूप में समवेत होकर ही वह अर्थ साहित्य बनता है। कला की दृष्टि से साहित्य में रूप का महत्व असंदिग्ध है, किन्तु शब्द की सार्थकता के कारण साहित्य में अर्थ भी अनिवार्य दिखाई देता है। अतः साहित्य की रचना में शब्द रूप और अर्थ तत्व दोनों में किसी को भी प्रमुखता देना अपने दृष्टिकोण को एकांगी बनाना है। संगीत और चित्रकला में शुद्ध रूपात्मक कला भी सम्भव हो सकती है। इन कलाओं में तत्व का समवाय होने पर भी रूप की प्रधानता बनी रहती है। उदाहरण के लिये संगीत की कला में स्वर के रूप की तुलना में शब्द बहुत कम होते हैं। वाद्य तथा गायन दोनों में ही राग के रूप को अलग किया जा सकता है। कविता के अनेक पदों को एक ही राग में गाया जा सकता है। राग के अतिरिक्त कविता की लय में भी जो संगीत की लय से भिन्न और अल्पतर होती है, उन्हीं शब्दों को पढ़ाया गाया जा सकता है। अभिप्राय यह है कि संगीत के रूप से तत्व को पृथक किया जा सकता है। इसका कारण यह कि संगीत मूलतः शुद्ध रूपात्मक कला है। फिर भी गायनकाल में अर्थ तत्व स्वर के रूप में समवेत हो जाता है। किन्तु रूप और तत्व का यह समवाय होने पर भी

संगीत में रूप ही प्रमुख प्रतीत होता हैं। चित्रकला आदि के रूपात्मक उदाहरणों में तो स्पष्टतः रूप ही प्रमुख रहता है तथा रूप में समवेत रहते हुए भी उन तत्वों का कोई महत्व नहीं होता, जो उस रूप में साकार होता है। उदाहरण के लिये कल्पना की भाँति अन्य ठोस पदार्थों में निर्मित आकृतियों और अल्पनाओं में रूप ही प्रमुख होता है तथा तत्व एक निमित्त मात्र होता है। कला के इन उदाहरणों में रूप ही तत्व का स्थान ले लेता है, किन्तु चित्र कला, मूर्त्तिकला आदि के शुद्ध रूपात्मक उदाहरणों के अतिरिक्त इनके अन्य उदाहरणों में रूप के साथ तत्व का समवाय रहता है तथा इनमें रूप और तत्व के समवाय से युक्त कला - कृतियों में रूप और तत्व को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। इन कलाकृतियों का विशेष तत्व (भाव) एक विशेष रूप में ही साकार होता है, एक दूसरे से पृथक इनकी कल्पना नहीं की जा सकती।

साहित्य में शब्द, रूप और अर्थ तत्व का ऐसा ही समवाय रहता है। उक्त कला-कृतियों की भाँति साहित्य का यह समवाय भी विशेष शब्द रूप और विशेष अर्थं तत्व का समवाय है। यह शब्द और अर्थ का वह सामान्य समवाय नहीं है, जो भाषा और वाङ्मय के समस्त व्यवहार में मिल सकता है। भाषा के सभी शब्द सार्थक होते हैं। जहाँ कहीं भी शब्द होगा अर्थ से युक्त होगा। यह शब्द और अर्थ का सामान्य साहित्य (सहित भाव) है। शब्द और अर्थ के इस सामान्य सहित भाव में ऐसी अभिन्नता नहीं होती जैसी कि कलात्मक साहित्य में होती है। शब्द और अर्थ के सामान्य सम्बन्ध में शब्दों को बदला जा सकता है। शब्दों को बदलने पर भी अर्थ अक्षुण्ण बना रहता है। कोष में प्रत्येक शब्द की व्याख्या उससे भिन्न शब्दों के द्वारा की जाती है। इससे अर्थ की हानि नहीं होती। कोष, विज्ञान और दर्शन में शब्द रूप का अधिक महत्व नहीं होता। इनमें अर्थ ही प्रधान होता है। किन्तु कलात्मक साहित्य में सार्थक चित्रकला और सार्थक मूर्त्तिकला की भाँति शब्द रूप और अर्थ तत्व एक दूसरे से अविभाज्य होते हैं। ऐसी कलाकृतियों में प्रत्येक कलाकृति एक विशिष्ट और अनन्य रचना होती है। उसमें एक विशेष तत्व और एक विशेष रूप का संगम होता है। इस विशेष तत्व और विशेष रूप को एक दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता। इनका यह अपृथक भाव ही इनका साहित्य अथवा सहित भाव है। यह साहित्य अन्य कलाओं की विशेष कृतियों में भी रहता है। अन्य कलाओं में इसे रूप और तत्व का साहित्य कहना होगा। वाङ्मय के साहित्य में इसे शब्द और अर्थ का

साहित्य कहना होगा । संस्कृत काव्यशास्त्र के अनुसार विशेष शब्द और विशेष अर्थ का साहित्य ही काव्य का लक्षण है ।

इस निष्कर्ष के अनुसार साहित्य और काव्य एक दूसरे के पर्याय बन जाते हैं । इस मान्यता के आधार पर ही संस्कृत परम्परा में नाटक आदि भी काव्य माने गये हैं । हिन्दी साहित्य की परम्परा में नाटक और उपन्यास को काव्य से पृथक माना जाता है । हिन्दी की परम्परा में नाटक और उपन्यास काव्य के अन्तर्गत नहीं माने गये हैं । किन्तु उन्हें साहित्य के अन्तर्गत माना जाता है । संस्कृत और हिन्दी की इन भिन्न सम्प्रदायों की इन भिन्न परम्पराओं के प्रसंग में विवेचन के दोष ही विकल्प संभव हो सकते हैं । यदि साहित्य और काव्य एक दूसरे के पर्याय हैं तो नाटक और उपन्यास में भी शब्द और अर्थ के सहित भाव को घटित करना होगा । यदि हिन्दी की परम्परा का अनुसरण करके साहित्य के अन्तर्गत काव्य तथा अन्य रूपों में भेद किया जाय तो इस भेद की व्याख्या करनी होगी । हिन्दी के प्रसंग में साहित्य का क्या लक्षण होगा जिसके आधार पर काव्य और नाटक में भेद किया जा सके । नाटक को काव्य मानकर संस्कृत की परम्परा असंगति से बच गई तथा नाटक और उपन्यास को काव्य से भिन्न मानकर एक कठिनाई में उलझ गई जो साहित्य की विधाओं के सूक्ष्म विवेचन का आधार बन सकती है ।

गद्य और पद्य का भेद इस विवेचन में सहायक नहीं हो सकता । संस्कृत भाषा में यद्यपि छंदोमय काव्य की ही बहुलता है, फिर भी कादम्बरी के समान गद्यमय काव्य प्रसिद्ध है । हिन्दी साहित्य में भी छन्दोमय काव्य का ही बाहुल्य रहा है किन्तु आधुनिक युग में छंद का बन्धन छोड़कर कविता स्वच्छन्द हो गई है । व्याकरण की दृष्टि से छंद रहित आधुनिक कविता के वाक्य गद्य के वाक्यों के समान हैं । उनका कवित्त छन्द में नहीं वरन् लय तथा अभिव्यक्ति में खोजा जा सकता है । कुछ नये कवि लय को भी कविता के लिए आवश्यक नहीं मानते तब केवल भाव की अभिव्यक्ति में ही कविता का स्वरूप सीमित हो जाता है । कविता की इस अभिव्यक्ति को नाटक आदि की अभिव्यक्ति से तुलना करके ही हिन्दी की परम्परा में काव्य, नाटक, उपन्यास आदि के भेद को समझाया जा सकता है । सूक्ष्म विवेचन करने पर इन सभी की अभिव्यक्ति में साहित्य का वह सहित भाव मिलेगा जिसे संस्कृत परम्परा में काव्य का लक्षण माना गया है । इस सहित भाव को मानते हुये काव्य, नाटक, उपन्यास आदि में इस अभिव्यक्ति

अथवा साहित्य के विभिन्न रूप खोजे जा सकते हैं। किन्तु इन सबकी अभिव्यक्ति में शब्द और अर्थ का सहित भाव मान लेने पर नाटक और उपन्यास में भी काव्य का अन्तभाव मानना होगा और संस्कृत परम्परा में प्रसिद्ध साहित्य और काव्य का पर्याय भाव हिन्दी में भी घटित होगा। संस्कृत और हिन्दी दोनों की ही परम्परा में शब्द और अर्थ के इस सहित भाव का सूक्ष्म विवेचन नहीं किया गया है। संस्कृत नाटकों में छन्द का प्रयोग बहुत हुआ है। अतः काव्य के साथ नाटक की समानता स्पष्ट है। कादम्बरी आदि कथाओं में भाषाओं की आलंकारिकता उन्हें काव्य के निकट ले आती है। अतः साहित्य के सभी रूपों में काव्य की व्याप्ति के कारण साहित्य और काव्य का पर्याय भाव सहजगम्य हो जाता है। किन्तु हिन्दी के नाटकों और उपन्यासों में ऐसा कवित्व अथवा ऐसी आलंकारिकता नहीं मिलती। ऐसी स्थिति में उनमें कवित्व खोजना कठिन है। इसीलिये हिन्दी की परम्परा में नाटक, उपन्यास आदि को काव्य से अलग माना गया है तथा उनमें काव्य का कोई लक्षण खोजने की चेष्टा नहीं की गई है। शब्द और अर्थ के सहित भाव को भी इनमें खोजना कठिन है। सूक्ष्म विवेचन करने पर रूप के अतिशय का सौन्दर्य तथा अर्थ अथवा भाव के साथ उसकी अभिन्नता इनमें खोजी जा सकती है तथा इस प्रकार कला और काव्य के साथ इनका समाहार किया जा सकता है। ऐसे विवेचन का प्रयास प्रायः हिन्दी आलोचना में नहीं किया गया। इसलिये हिन्दी की परम्परा में नाटक, उपन्यास आदि काव्य से भिन्न माने गये हैं। किन्तु ये भी साहित्य के अन्तर्गत है और ऐसी स्थिति में साहित्य की व्यापक परिभाषा करके काव्य से इनका विवेक करना होगा।

कथा के आधार पर भी इनका विवेक करना कठिन है। महाकाव्य और खण्डकाव्य भी कथामय होते हैं। नाटकीय वार्तालाप भी काव्य और उपन्यास दोनों में हो सकता है। केवल इतना अन्तर है कि नाटक में केवल वार्तालाप होता है। लेखक की ओर से वर्णन करने के लिए उसमें स्थान नहीं होता। नाटक में वार्तालाप के व्याज से ही वर्णन किया जा सकता है। इसके विपरीत काव्य और उपन्यास में लेखक अपनी ओर से वर्णन कर सकता है। किन्तु यह केवल शैली का भेद है। केवल इस भेद को काव्य, नाटक और उपन्यास के आन्तरिक भेद का पर्याप्त आधार नहीं माना जा सकता और न यह भेद काव्य, नाटक और उपन्यास में साहित्य के लक्षणों के घटन अथवा अघटन का आधार बन सकता है। कठोर सिद्धान्त की भूमि पर हिन्दी की परम्परा में काव्य, नाटक और उपन्यास को साहित्य के लक्षणों

की दृष्टि से पृथक करना कठिन होगा। इनमें एक ही अन्तर ऐसा है जो मान्य हो सकता है। वह यह है कि काव्य में रूप का महत्व नाटक और उपन्यास की अपेक्षा अधिक होता है। यह अन्तर सर्वथा आवश्यक नहीं है किन्तु वर्तमान साहित्य में प्रायः मिलता है। भविष्य के साहित्य में यह अन्तर बना रहे यह भी आवश्यक नहीं। अब तक जो काव्य लिखा गया है उसके शब्दों और वाक्यों में जो अभिव्यक्ति मिलती है वह नाटक और उपन्यास में नहीं मिलती। अपनी इस तीव्र भंगिमा के कारण काव्य के वाक्य प्रायः मोतियों के समान दीप्त होते हैं और समग्र कविता अथवा काव्य मोतियों की माला के समान बन जाता है 'रामचरितमानस' और 'कामायनी' के समान विरले ही काव्य ऐसे हैं जिनमें प्रवाह की समग्रता मिल सके। इन काव्यों में भी शब्दों और वाक्यों के बुद्बुद् चमकते हैं, यद्यपि वे शीघ्र ही काव्य के प्रवाह में विलीन हो जाते हैं। संस्कृत के नाटकों और उपन्यासों के पद और वाक्य तो प्रायः स्वतन्त्र सौन्दर्य से दीप्त होते हैं। इसीलिये संस्कृत में नाटक और उपन्यास की गणना काव्य के अन्तर्गत करना उचित है। किन्तु हिन्दी के नाटकों और उपन्यासों के पद अथवा वाक्य प्रायः ऐसे मुक्त सौन्दर्य से सम्पन्न नहीं होते। उनमें रूप का अतिशय इतना अधिक नहीं होता कि वे अभिव्यक्ति की भंगिमा में काव्य की तुलना कर सकें। काव्य के वाक्यों की तुलना में इनके वाक्य अधिक ऋजु होते हैं, यद्यपि साहित्य होने के नाते नाटक, उपन्यास, कहानी आदि के वाक्य भी अभिव्यक्ति की भंगिमा से एवं उससे उत्पन्न होने वाले रूप के अतिशय से रहित नहीं हो सकते। साहित्य एक कला है। कला का सौन्दर्य रूप के अतिशय में प्रकट होता है अतः नाटक और उपन्यास का भी सौन्दर्य इनके रूप में खोजना होगा। प्राप्त काव्य से भेद करने के लिए नाटक और उपन्यास को काव्य की मुक्त माला की तुलना में एक अखण्ड प्रवाह कहा जा सकता है। इनके रूप में काव्य की अपेक्षा अधिक समग्रता होती है। इसके अतिरिक्त जहाँ काव्य में रूप की प्रधानता दिखाई देती है वहां काव्य की तुलना में नाटक और उपन्यास में तत्व अधिक प्रमुख दिखाई देता है। यह तत्व केवल कथा तत्व नहीं है वरन् प्रायः कथा तत्व से लक्षित होने वाला जीवन दर्शन का तत्व ही है। तत्व की इस प्रधानता से नाटक और उपन्यास के अभीष्ट साहित्य और साम्य में विषमता उत्पन्न नहीं होती क्योंकि इस तत्व के साथ रूप का समवाय तो रहता ही है। रूप और तत्व के सम्बन्ध की दृष्टि से भेद करने के लिये हम यह कह सकते हैं कि काव्य में रूप में तत्व का समवाय होता है तथा नाटक और उपन्यास

में तत्व में रूप का समवाय होता है। रूप की समग्रता भी कदाचित् तत्व की समग्रता पर निर्भर होती है। अतः 'रामचरितमानस' और 'कामायनी' जैसे काव्यों के अतिरिक्त काव्य में रूप की समग्रता गीतों एवं मुक्तकों में मिल सकती है। किन्तु नाटक और उपन्यास में तत्व की समग्रता पर आश्रित होने के कारण प्रायः वह सर्वत्र मिल सकेगी।

आधुनिक काव्य में छन्द और संगीत की भाँति कथातत्व का भी प्रायः वर्जन हो रहा है। अतः वह भावतत्व की अभिव्यक्ति में ही केन्द्रित हो रहा है। किन्तु इसमें भी अभिव्यक्ति का रूप अपनी तीव्रता से प्रभावित करता है। उपन्यास और नाटक में प्रायः ऐसा नहीं होता। सम्पूर्ण तत्व से समवेत रहने के कारण नाटक और उपन्यास में रूप का प्रभाव इतना स्वतन्त्र नहीं होता जितना कि काव्य में होता है। इस दृष्टि से यदि यह कहा जाय कि नाटक और उपन्यास में रूप और तत्व का समन्वय अधिक संतुलित होता है तो अनुचित न होगा। किन्तु इस सन्तुलन का औचित्य इसी दृष्टि से समीचीन है कि नाटक और उपन्यास में सामान्यतः रूप का तथा विशेषकर रूप के खण्डों का सौन्दर्य इतना प्रखर नहीं होता जितना कि काव्य में होता है। काव्य में सामान्यतः रूप अधिक प्रखर और प्रभावशाली होता है। इसके अतिरिक्त काव्य की पंक्तियाँ स्वतन्त्र रूप से एक समग्रता बन जाती हैं और काव्य का सम्पूर्ण रूप इन समग्रताओं की समग्रता बन जाता है। प्रायः ये लघु समग्रताऐं काव्य के प्रवाह में भ्रमर के समान प्रतीत होती हैं। बालमीकि रामायण, रामचरितमानस आदि कुछ अत्यन्त श्रेष्ठ काव्यों में ही ये लघु समग्रताऐं वीथियों के समान प्रवाह में तन्मय रहती थीं। अत्यन्त आधुनिक काव्य में ये समग्रताऐं लघुतर होकर पंक्तियाँ बन गई हैं। अनेक नई कविताओं में पंक्तियों की इकाइयाँ छन्दों के समान ही पूर्ण प्रतीत होती हैं। यह भी कहना होगा कि अनेक नई कविताओं में छंदों की समान पंक्तियाँ और उनके अन्त्यानुप्रास का प्रतिबंध हट जाने के कारण सम्पूर्ण कविता में एक प्रवाहपूर्ण समग्रता वर्तमान रहती है। ऐसी कविता में रूप और तत्व के साम्य का उत्तम उदाहरण है। इस साम्य में रूप की वह प्रमुखता नहीं रहती जो अधिकांश परंपरागत कविताओं में मिलती है। कदाचित् इसी कारण सामान्य पाठकों को नई कविता अधिक आकर्षक नहीं जान पड़ती। परंपरागत काव्य में रूप की कुछ प्रमुखता रहती थी। इसीलिये वह सामान्य पाठकों को ही आकर्षक लगती थी। नई कविता में चाहे रूप की प्रमुखता का आकर्षण न हो किंतु दूसरी ओर वह रूप और तत्व के दुर्लभ साम्य का उदाहरण प्रस्तुत कर रही है। इतना अवश्य है कि

रूप की प्रमुखता से बचकर नई कविता प्रायः तत्व की प्रमुखता की ओर बढ़कर इस दुर्लभ साम्य को भंग करने की ओर प्रायः स्खलित होने की आशंका से पीड़ित रहती है।

कुछ ऐसी ही आशंका नाटक और उपन्यास के बारे में होती है। कथा प्रवाह गद्य शैली आदि के कारण नाटक तथा उपन्यास के वाक्य स्वच्छन्द और लघु समग्रताऐं बनाने का उपक्रम नहीं करते। उनका संपूर्ण रूप एक एक अखण्डित समग्रता के समान प्रतीत होता है। परम्परा गत काव्य के समान लघुतर समग्रताओं के वर्त्तुलपटलों से मुक्त होने के कारण नाटक और उपन्यास का रूप कुछ अधिक पारदर्शी हो जाता है और इन रचनाओं का तत्व काव्य की अपेक्षा कुछ अधिक झलकने लगता है। ऐसी स्थिति में इन रचनाओं में कुछ तत्व की प्रधानता दिखाई देने लगती है और वह साम्य जिसका ऊपर संकेत किया गया है —खण्डित सा होता है। किन्तु वस्तुतः नाटक और उपन्यास में यह साम्य इस दृष्टि से अधिक सन्तुलित होता है कि उसमें अधिकांश काव्य की भाँति रूप की प्रधानता नहीं झलकती। इतना अवश्य है कि जिस प्रकार अधिकांश काव्य में रूप की प्रधानता दिखाई देती है उसी प्रकार नाटक और उपन्यास से प्रायः तत्व की प्रधानता रहती है। नाटक और उपन्यास की आलोचनाऐं उस तत्व का विशद् विवेचन करके इस प्रधानता को प्रमाणित करती हैं। फिर भी श्रेष्ठ नाटकों और उपन्यासों में रूप तथा तत्व के बहुत कुछ संतुलित साम्य की आशा की जा सकती है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है नाटक और उपन्यास के रूप में एक व्यापक समग्रता रहती है। यह समग्रता भी इतनी प्रकट नहीं रहती। वह एक प्रकार से सम्पूर्ण नाटक अथवा उपन्यास के वृत्त में अन्तर्निहित रहती है। इसी कारण इन रचनाओं का रूप अधिक पारदर्शी होता है तथा उसमें कथा तत्व अधिक स्फुट रूप बन कर झलकता है। नाटक और उपन्यास काव्य की अपेक्षा जीवन के यथार्थ तथ्यों का जैसा निरूपण होता है वैसा काव्यों में प्रायः नहीं रहता। इस कारण भी नाटक और उपन्यास में तत्व की प्रधानता दिखाई देती है। फिर भी इन रचनाओं में रूप और तत्व का अथवा शब्द और अर्थ का ऐसा अभिन्न साम्य होता है कि काव्यगत शब्द और अर्थ के साहित्य की परिभाषा उन पर भी घटित हो सकती है। रूप और तत्व की अभिन्नता से भी साहित्य कहे जा सकते हैं। और यदि यही अभिन्नता काव्य का लक्षण है तो इन्हें काव्य भी कहा जा सकता है। छन्द विधान और अलंकार बाहुल्य को छोड़कर काव्य के साथ इनकी तुलना की जा सकती है। नाटक के संलाप और उपन्यासों के वर्णन में प्रायः अभिधा प्रधान दिखाई

देती है। किन्तु सूक्षमता से देखने पर इनमें आकृति के अन्तर्भाव की व्यंजना विपुलता से मिल सकती है। इस व्यंजना का रूप कथा आदि के तत्व से अभिन्न होता है और यह अभिन्नता काव्य के लक्षण को चरितार्थं करती है। संलाप और वर्णनों के वाक्य सम्पूर्ण रंचना की योजना में वे अनेक अन्तर्भावों की व्यञ्जना से सम्पन्न होते हैं। उनकी यह सम्पन्नता उन्हें काव्य के निकट ले आती है।

इस प्रकार शब्द और अर्थ के सहित भाव का लक्षण केवल काव्य पर ही नहीं वरन् साहित्य के अन्य रूपों पर भी घटित होता है जिनमें नाटक और उपन्यास मुख्य हैं। वस्तुतः यह सहित भाव साहित्य का सामान्य लक्षण है और साहित्य के सभी रूपों पर घटित होता है। इस प्रकार साहित्य काव्य का पर्याय बन जाता है। इस सहित भाव की दृष्टि से साहित्य के विभिन्न रूपों में कोई मौलिक अन्तर नहीं होता। साहित्य के सभी रूपों में काव्य के इस लक्षण की संगति के सभी रूपों में काव्य के इस लक्षण की संगति संस्कृत साहित्य की उस परम्परा को प्रमाणित करती है। जिसके अनुसार नाटक और उपन्यास को भी काव्य के अन्तर्गत माना गया है। साहित्य के विभिन्न रूपों में अन्य दृष्टियों से कुछ भेद किया जा सकता है जिसका संकेत ऊपर के विवेचन में किया गया है। कथा तत्व, संलाप, वर्णन, जीवन के तथ्य अलंकार आदि इन दृष्टियों के आधार बन सकते हैं। किन्तु इन भेदों के रहते हुये भी साहित्य के सभी रूपों में शब्द और अर्थ के सहित भाव का सूत्र समान रूप से ओत-प्रोत रहता है। इस आधार पर साहित्य के इन सभी रूपों को काव्य मानना सिद्धान्ततः अनुचित नहीं है। संस्कृत साहित्य के नाटकों और उपन्यासों में काव्य के समान अलंकार आदि का वैभव भी मिलता है जो उन्हें अधिक प्रत्यक्ष रूप में काव्य के निकट ले आता है। इसके विपरीत हिन्दी साहित्य में नाटकों और उपन्यासों में कथा तत्व, जीवन-तत्व आदि की प्रधानता दिखाई देती है और प्रत्यक्ष रूप में वे काव्य से अत्यन्त भिन्न प्रतीत होते हैं। इसी कारण हिन्दी साहित्य की परम्परा में प्रायः नाटकों और उपन्यासों को काव्य के अन्तर्गत नहीं माना जाता तथा साहित्य को एक व्यापक प्रत्यय मानकर काव्य को उसका एक अंग तथा नाटक और उपन्यास काव्य से भिन्न मानकर उनकी गणना साहित्य के अन्य अंगों में की जाती है। किन्तु ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि शब्द और अर्थ के सहित भाव को साहित्य का लक्षण मानने पर साहित्य के इन विभिन्न रूपों में कवित्व का परिहार करके परस्पर भेद करना कितना कठिन है। साहित्य के सभी रूपों में काव्य का सूत्र व्याप्त मान कर अन्य आधारों पर इनमें परस्पर भेद करना निस्संदेह संगत और समीचीन है।

अध्याय ७

काव्य के अंग और उपकरण

काव्य-कला का एक साकार और सजीव रूप है। समात्मभाव उसकी आत्मा है। आकृति की व्यंजना प्राणों के स्पन्दन में समात्मभाव के सौन्दर्य की सजीव अभिव्यक्ति है। जिस प्रकार प्रकृति के भौतिक उपकरणों और रूपों को समाहित करके मनुष्य की देह में आत्मा साकार होती है और प्राणों का स्पन्दन जाग्रत होता है, उसी प्रकार शब्द, अर्थ, विषय, वस्तु, तथ्य, सत्य आदि जीवन और जगत् के उपकरणों के माध्यम में काव्य की आत्मा (समात्मभाव) साकार होती है उसके प्राण (आकृति) का स्पन्दन संचरित होता है। भारतीय काव्य शास्त्र में काव्य को पुरुष मानकर कुछ इसी प्रकार काव्य-पुरुष की कल्पना की गई है। काव्य को पुरुष मानकर उसकी आत्मा, देह अलंकार आदि के रूप में काव्य के स्वरूप, अंगों और उपकरणों की व्याख्या की गई है। काव्य की यह कल्पना मनुष्य जीवन और कला दोनों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। मनुष्य के आकार के अनुरूप किसी भी सूक्ष्म वस्तु की कल्पना को पश्चिमी विचारक आदिम वृत्ति मानते हैं। वैदिक देवताओं की कल्पना को वे इसी दृष्टि से देखते हैं। भय और विस्मय के कारण वृक्षों, वनस्पतियों और जलाशयों में प्रेतात्माओं के निवास की कल्पना आदिम हो सकती है, किन्तु मनुष्य के आकार और स्वभाव के अनुरूप किसी भी सूक्ष्म वस्तु की कल्पना जितनी आदिम है—उतनी ही सनातन और समृद्ध भी है। यदि ऐसा न होता तो ईसाई धर्म का व्यक्तित्व युक्त ईश्वर पश्चिमी विद्वानों के गर्व का विषय न होता। मनुष्य के आकार और स्वभाव के अनुरूप किसी भी सूक्ष्म वस्तु की कल्पना मनुष्य के आत्म सीमित दृष्टिकोण की सूचक नहीं, वरन् उसकी मानवीय भावना का प्रमाण है। इसी मानवीय भावना से प्रेरित होकर भारतीय प्रतिभा ने देवताओं और ईश्वर के अवतारों की सजीव तथा साकार कल्पना की है। यह कल्पना धार्मिक तत्वों से साथ मनुष्य जीवन की आत्मीयता का एक सुदृढ़ अवलम्ब रही है। देवताओं और ईश्वर के साथ सान्निध्य का अनुभव तथा धर्म के साथ जीवन की घनिष्ठता इसके दो महत्वपूर्ण फल हैं।

कला के क्षेत्र में इस कल्पना का विस्तार मानवीयता के अतिरिक्त मनुष्य की कलात्मक वृत्ति के भी अनुरूप हैं। कला साकार और सौन्दर्य की सृष्टि है। अनेक तत्वों, अंगों और उपकरणों के सहयोग से उसमें सौंदर्य का सूक्ष्म तत्व साकार होता है। इन सबके सम्बन्ध और समन्वय का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण स्वयं मनुष्य में मिलता है। मनुष्य विधाता की सबसे श्रेष्ठ कला-कृति है। लोक की सौन्दर्य सृष्टि में वह सबसे सुन्दर है। सौन्दर्य के मर्म-दर्शी कवि सुमित्रानन्दन पंत के शब्दों में मानव विश्व की सौन्दर्य सृष्टि में सुन्दरतम है। वह विश्व की सूक्ष्मता सुषमा से निर्मित है। अतः वह सदा अनुरूप है। मनुष्य का सौन्दर्य उसका बाह्य रूप ही नहीं है, उसके अन्तर के भावों में सौन्दर्य के प्राणों का स्पन्दन है, तथा बाह्य रूप के साथ इन भावों के समन्वय में कला का सूक्ष्म सौंदर्य सजीव और साकार हुआ है। कलाओं में सौंदर्य के सृजन और साकार भाव की कल्पना मनुष्य के अनुरूप करना कला के स्वरूप और सिद्धान्त के साथ पूर्णतः संगत है। संगीत शास्त्र में राग-रागनियों की कल्पना मनुष्य के आकार में ही की गई है। काव्य-पुरुष की कल्पना में मानों काव्य स्वयं साकार हुआ है। रूपक अलंकार माध्यम से यह काव्य के स्वरूप का सर्वोत्तम निदर्शन है। काव्य पुरुष के समान ही साकार और सजीव सृष्टि है। समात्मभाव उसकी आत्मा है। आकृति उसके प्राणों का स्पन्दन है। शब्दों की देह में काव्य की आत्मा साकार होती है और प्राण संचारित होते हैं। शब्दों के अनुषगों की शिराओं में आकृति का प्राण स्पन्दन संचरित होता है। यही काव्य का जीवन है। शब्द उसके बाह्य और साकार रूप हैं। शब्दों का सौष्ठव उसका शारीरिक स्वास्थ्य है। प्राणों का ओज इस स्वास्थ्य का सम्बल है। आत्मा का वर्चस्व सूर्य के तेज की भांति सबका उपजीव्य और आधार है। काव्य के प्रसाद माधुर्य, ओज आदि गुण काव्य पुरुष के स्वभाव हैं। अलंकार काव्य की देह के सुषमा वर्धक उपकरण हैं। इस प्रकार काव्य के विविध अंगों और उपकरणों का काव्य के प्राण और उसकी आत्मा के साथ समन्वय है। यह समन्वय मनुष्य देह और जीवन का लक्षण है। काव्य में घटित होकर यह लक्षण काव्य के स्वरूप और विधान का समुचित व्याख्या करता है।

काव्य परम्परा में प्राप्त काव्य के इस रूपक के आधार पर काव्य के स्वरूप उस अंगों उपकरणों आदि तथा उनके परस्पर सम्बन्ध का विचार करना समीचीन है। पुरुष, शब्द का प्रयोग सामान्यतः मनुष्य के लिए, होता है। वेदों में भी 'सहस्र शीर्षा पुरुषः' के द्वारा पुरुष सूक्त में उसकी

कल्पना इसी रूप में की गई है। किन्तु उपनिषदों में आकार पुरुष का तात्पर्य आत्मा हो गया है। सांख्य में भी पुरुष पद का प्रयोग आत्मा के ही अर्थ में किया गया है। आत्मा का अर्थ श्री शंकराचार्य ने स्वरूप किया है। आत्मा ही पुरुष का वास्तविक स्वरूप है। काव्य के प्रसंग में हम सूक्ष्म और साकार दोनों ही अर्थों में पुरुष का ग्रहण कर सकते हैं। मनुष्य के समान आत्मा ही काव्य का मूल स्वरूप है। काव्य के मूर्त देह में यही आत्मा साकार होती है। काव्य की यह आत्मा क्या है? मनुष्य की आत्मा चिन्मय है। इस चिन्मय आत्मा को उपनिषदों में कवि भी कहा गया है। यह आत्मा व्यक्तिगत नहीं व्यापक है। सृष्टि इस विश्वात्मा का काव्य है। अपनी व्यापकता में यह आत्मा केन्द्रित नहीं वरन् विस्तारशील है। चिद् बन्दुओं के समात्मभाव में यह विस्तार प्रत्यक्ष होता है। भूमा इस अनन्त विस्तार की संज्ञा है। यह भूमा ही आनन्द है जिसे उपनिषदों में रस भी कहा है। काव्य भी मनुष्य की चिन्मय सृष्टि है। आत्मा ही उसकी आत्मा है। यह आत्मा ही कवि है। वह अपने स्वरूप के उपादान से सृष्टि का काव्य और काव्य की सृष्टि रचती है। चिद्विन्दुओं के समात्मभाव में आत्मा का विस्तार प्रत्यक्ष होता है। यह समात्मभाव ही काव्य की आत्मा और उसके सौन्दर्य स्रोत है। भारतीय काव्य परम्परा में काव्य की आत्मा की कल्पना दर्शनों में मनुष्य की आत्मा की कल्पना की भांति अनेक प्रकार से की गई है। आनन्दवर्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा माना है (काव्यस्यात्मा ध्वनिः)। ध्वनि का अभिप्राय व्यंजना से है। व्यंजना शब्द की आलौकिक शक्ति है जो अपनी व्यापकता के द्वारा अभिहित अर्थ के अतिरिक्त एक व्यापक अभिप्राय की अभिव्यक्ति करती है। इस ध्वनि अथवा व्यंजना को हम आकृति भी कह सकते हैं। ध्वनि पद में शब्द की क्रियात्मक व्यंजना शक्ति का बोध होता है। आकृति अर्थ में अतिरिक्त तात्पर्य का निधान है। आकृति ध्वनि का स्वरूप है और ध्वनि आकृति की शक्ति है। आनन्दवर्धन ने ध्वनि पद का प्रयोग एक व्यापक अर्थ में किया है। उनके अनुसार ध्वनि शब्द की व्यञ्जना शक्ति और व्यंग तत्व दोनों की वाचक है। किन्तु सामान्यतः ध्वनि को व्यंजना शक्ति का समानार्थक माना जाता है। इस शक्ति के व्यापार से अनुक्त रस आदि काव्य के व्यंग बनते हैं। स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव आदि के सहयोग से काव्य शास्त्र में जिस रस की निष्पत्ति मानी जाती है वह आत्मा का अलौकिक आनन्द नहीं वरन् मन का संवेग है। डाक्टर राकेश गुप्त ने रस के मनोवैज्ञानिक अध्ययन में यह प्रमाणित किया है कि काव्य शास्त्र की रस की कल्पना मनोवैज्ञानिक के संवेग के अधिक निकट है। संवेग मन और शक्ति की एक असाधारण और

उत्तेजित अवस्था है। वह प्राकृतिक सुख के अनुकूल भी हो सकती है, किन्तु आत्मा का आनन्द मन और शरीर की अनुद्विग्न अवस्था में अधिक सुलभ है। उद्वेग उसमें बाधक ही हो सकता है। कदाचित् केवल शान्त को ही एक मात्र रस मानने वाले सिद्धान्त में काव्य के मर्म का अधिक यथार्थ स्पर्श है। आत्मा का स्वरूप शान्त है। आत्मा का रस और आनन्द शान्ति में ही उदित होता है। यह शान्ति आत्मा का सम्भाव है। प्रकृति की साम्यावस्था इसके अधिक अनुकूल है। यह आत्मा इन्द्रियों की संवेदना, मन के आवेग और अहंकार की भावना से परिच्छिन्न जीव चैतन्य नहीं है। आत्मा का स्वरूप व्यापक चिन्मय भाव है जो व्यक्तित्व का तिरिस्कार न करते हुए भी व्यक्तित्व की सीमाओं से ऊपर है। अध्यात्म दर्शन में इसकी ब्रह्म संज्ञा है। व्यवहार की स्थिति में हम इसे समात्मभाव कह सकते हैं। इस समात्मभाव में ही काव्य का रस और कला का सौन्दर्य उदित होता है। यह समात्मभाव ही काव्य की आत्मा है। इस समात्मभाव में उदित होने वाला काव्य का रस, आनन्द और सौन्दर्य अविधेय नहीं वरन् व्यंग्य है। जिस शक्ति के द्वारा इस अनुक्त और अनभिधेय रस की व्यञ्जना होती है उसे काव्य में व्यंजना शक्ति कहा जाता है। जिस अतिरिक्त अर्थ तत्व की व्यंजना यह व्यंजना शक्ति करती है उसे आकूति कह सकते हैं। यदि समात्मभाव काव्य की आत्मा है तो आकूति उसका प्राण है। कुन्तक ने इस व्यञ्जना को कुछ अधिक व्यापक बना कर वक्रोक्ति का नाम दिया है। कुन्तक का यह सिद्धान्त समीचीन प्रतीत होता है कि वक्रोक्ति काव्य का जीवित अथवा प्राण है (वक्रोक्ति : काव्य जीवितम्)। यहां इतना संकेत कर देना आवश्यक है कि व्यञ्जना की वक्रता अधिक स्फुट होने पर काव्य में रूप की प्रधानता हो जाती है और व्यंग्य तत्व गौण हो जाता है। अतः प्रकाश किरणों की सूक्ष्म और अलक्ष्य वक्रता ही व्यंजना का भी उत्तम रूप है। जिस प्रकार प्रकाश किरणों की अलक्ष्य वक्रता उनकी ऋजु गति में अन्तर्हित होकर दृश्य रूपों को आलोकित करती है उसी प्रकार काव्य में प्रसाद की ऋजुता में अनवित व्यञ्जना अथवा वक्रोक्ति काव्य के रस और सौन्दर्य को व्यञ्जित करती है। आकूति व्यञ्जना का शक्ति पक्ष है जो काव्य पुरुष की शक्ति के समान है। व्यञ्जना से व्यापार का बोध विशेषतः होता है। वह काव्य के प्राणों का स्पन्दन है। शब्दों की शिराओं में अलक्ष्य रूप से काव्य के प्राणों का संचार होता है और शब्दों के देह में काव्य की आत्मा की व्यंजना होती है। शब्द काव्य के देह हैं शब्दों के गठन से ही काव्य पुरुष की देह के अवयव संस्थान निर्मित होते हैं। देह आत्मा का मंदिर है। वह किसी भी दृष्टि से गौण अथवा कम महत्वपूर्ण नहीं है जैसा कि कुछ अध्यात्मवादी दर्शन मानते

हैं। देह के माध्यम में ही अध्यात्म का प्रतिपादन और आत्मा का बोध होता है। शब्दों का माध्यम में ही काव्य की आत्मा की व्यंजना होती है। जिस प्रकार अंगों का सौष्ठव आत्मा के सौन्दर्य की व्यंजना के अनुकूल होता है उसी प्रकार शब्दों का सौष्ठव काव्य की आत्मा के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के अधिक अनुकूल होता है। अंगों के इस सौष्ठव को हम सामञ्जस्य कह सकते हैं। शब्दों के सौष्ठव में यह सामंजस्य अधिक सूक्ष्म और व्यापक हो जाता है। सामंजस्य में अंग विन्यास के सन्तुलन का समत्व होता है' अतः वह समात्म-भाव के सौन्दर्य और रस की अभिव्यक्ति के अधिक अनुरूप है। आनन्दवर्धन के शब्दों में जिस प्रकार अंगनाओं के अंग सौष्ठव से लावण्य विभासित होता है उसी प्रकार शब्दों के अंग सौष्ठव से काव्य के रस और सौन्दर्य की व्यंजना होती है। शब्द का काव्य के चिन्मय व्यंग्य तत्व से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि शब्द दर्शन में तो उसे चित् स्वरूप ही माना है। पारावाक और परब्रह्म समानार्थक है। शब्द का बाह्य रूप भी देह की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म है। देह दृश्य रूप है और अंगों की स्थूल व्यवस्था है। दृश्य रूप बाह्य और स्थूल होते हैं। शब्द आकाश का सूक्ष्म स्पंदन है। देह की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म होने के कारण शब्द काव्य की आत्मा का अधिक उपयुक्त माध्यम और व्यंजक है। शब्द की यह सूक्ष्मता और काव्य की आत्मा के साथ घनिष्ठता काव्य के समग्र रूपों को अधिक सामंजस्य और सौन्दर्य प्रदान करती है। शब्दों की अभिदा शक्ति काव्य पुरुष की इन्द्रियां हैं। अभिधान की यथार्थ वाचकता इन्द्रियों की यथार्थ संवेदना के ही समान है जिस प्रकार यह संवेदना ही बाह्य जगत के ग्रहण और लोक के व्यवहार की साधन है, उसी प्रकार शब्दों की अभिदा शक्ति भाषा के व्यवहार की साधन है। इन्द्रियों के वातापन से आत्मा का सौदर्य विश्व में विभासित होता है 'और विश्व के सौन्दर्य का आत्मा में सन्निधान होता है। उसी प्रकार अभिधान के वातापन से काव्य की आत्मा का अपार सौन्दर्य विभासित होता है और काव्य की आत्मा में जीवन के सौन्दर्य का सन्निधान होता है। इन्द्रियों का प्रसाद मन का प्रसाद बनकर आत्मा का रस के अनुकूल होता है उसी प्रकार शब्दों के अभिधान का प्रसाद भी आलोक की ऋजुता के समान अपनी पारदर्शिता से काव्य के सौन्दर्य की व्यंजना के अनुरूप होता है। यदि प्रसाद व्यंजना के अनुरूप उज्जवल आलोक है तो माधुर्य इन्द्रियों की सुखमय संवेदना के समान शब्दों के अभिधान को रस की व्यंजना के अनुकूल बनाता है। इन्द्रियों का ओज अंग सौष्ठव की दृढ़ता और प्राण शक्ति की सबलता का द्योतक है, उसी प्रकार शब्दों का ओज शब्दों के सौष्ठव की दृढ़ता और आकृति की प्राण शक्ति की सबलता का द्योतक

में तत्व में रूप का समवाय होता है। रूप की समग्रता भी कदाचित् तत्व की समग्रता पर निर्भर होती है। अतः 'रामचरितमानस' और 'कामायनी' जैसे काव्यों के अतिरिक्त काव्य में रूप की समग्रता गीतों एवं मुक्तकों में मिल सकती है। किन्तु नाटक और उपन्यास में तत्व की समग्रता पर आश्रित होने के कारण प्रायः वह सर्वत्र मिल सकेगी।

आधुनिक काव्य में छन्द और संगीत की भांति कथातत्व का भी प्रायः वर्जन हो रहा है। अतः वह भावतत्व की अभिव्यक्ति में ही केन्द्रित हो रहा है। किन्तु इसमें भी अभिव्यक्ति का रूप अपनी तीव्रता से प्रभावित करता है। उपन्यास और नाटक में प्रायः ऐसा नहीं होता। सम्पूर्ण तत्व से समवेत रहने के कारण नाटक और उपन्यास में रूप का प्रभाव इतना स्वतन्त्र नहीं होता जितना कि काव्य में होता है। इस दृष्टि से यदि यह कहा जाय कि नाटक और उपन्यास में रूप और तत्व का समन्वय अधिक संतुलित होता है तो अनुचित न होगा। किन्तु इस सन्तुलन का औचित्य इसी दृष्टि से समीचीन है कि नाटक और उपन्यास में सामान्यतः रूप का तथा विशेषकर रूप के खण्डों का सौन्दर्य इतना प्रखर नहीं होता जितना कि काव्य में होता है। काव्य में सामान्यतः रूप अधिक प्रखर और प्रभावशाली होता है। इसके अतिरिक्त काव्य की पंक्तियाँ स्वतन्त्र रूप से एक समग्रता बन जाती हैं और काव्य का सम्पूर्ण रूप इन समग्रताओं की समग्रता बन जाता है। प्रायः ये लघु समग्रताऐं काव्य के प्रवाह में भ्रमर के समान प्रतीत होती हैं। बाल्मीकि रामायण; रामचरितमानस आदि कुछ अत्यन्त श्रेष्ठ काव्यों में ही ये लघु समग्रताऐं वीथियों के समान प्रवाह में तन्मय रहती थीं। अत्यन्त आधुनिक काव्य में ये समग्रताऐं लघुतर होकर पंक्तियाँ बन गई हैं। अनेक नई कविताओं में पंक्तियों की इकाइयाँ छन्दों के समान ही पूर्ण प्रतीत होती हैं। यह भी कहना होगा कि अनेक नई कविताओं में छंदों की समान पंक्तियाँ और उनके अन्त्यानुप्रास का प्रतिबंध हट जाने के कारण सम्पूर्ण कविता में एक प्रवाहपूर्ण समग्रता वर्तमान रहती है। ऐसी कविता में रूप और तत्व के साम्य का उत्तम उदाहरण है। इस साम्य में रूप की वह प्रमुखता नहीं रहती जो अधिकांश परंपरागत कविताओं में मिलती है। कदाचित् इसी कारण सामान्य पाठकों को नई कविता अधिक आकर्षक नहीं जान पड़ती। परंपरागत काव्य में रूप की कुछ प्रमुखता रहती थी। इसीलिये वह सामान्य पाठकों को ही आकर्षक लगती थी। नई कविता में चाहे रूप की प्रमुखता का आकर्षण न हो किंतु दूसरी ओर वह रूप और तत्व के दुर्लभ साम्य का उदाहरण प्रस्तुत कर रही है। इतना अवश्य है कि

रूप की प्रमुखता से बचकर नई कविता प्रायः तत्व की प्रमुखता की ओर बढ़कर इस दुर्लभ साम्य को भंग करने की ओर प्रायः स्खलित होने की आशंका से पीड़ित रहती है।

कुछ ऐसी ही आशंका नाटक और उपन्यास के बारे में होती है। कथा प्रवाह गद्य शैली आदि के कारण नाटक तथा उपन्यास के वाक्य स्वच्छन्द और लघु समग्रताऐं बनाने का उपक्रम नहीं करते। उनका संपूर्ण रूप एक एक अखण्डित समग्रता के समान प्रतीत होता है। परम्परा गत काव्य के समान लघुतर समग्रताओं के वत्त ुलपटलों से मुक्त होने के कारण नाटक और उपन्यास का रूप कुछ अधिक पारदर्शी हो जाता है और इन रचनाओं का तत्व काव्य की अपेक्षा कुछ अधिक झलकने लगता है। ऐसी स्थिति में इन रचनाओं में कुछ तत्व की प्रधानता दिखाई देने लगती है और वह साम्य जिसका ऊपर संकेत किया गया है —खण्डित सा होता है। किन्तु वस्तुतः नाटक और उपन्यास में यह साम्य इस दृष्टि से अधिक सन्तुलित होता है कि उसमें अधिकांश काव्य की भाँति रूप की प्रधानता नहीं झलकती। इतना अवश्य है कि जिस प्रकार अधिकांश काव्य में रूप की प्रधानता दिखाई देती है उसी प्रकार नाटक और उपन्यास से प्रायः तत्व की प्रधानता रहती है। नाटक और उपन्यास की आलोचनाऐं उस तत्व का विशद् विवेचन करके इस प्रधानता को प्रमाणित करती हैं। फिर भी श्रेष्ठ नाटकों और उपन्यासों में रूप तथा तत्व के बहुत कुछ संतुलित साम्य की आशा की जा सकती है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है नाटक और उपन्यास के रूप में एक व्यापक समग्रता रहती है। यह समग्रता भी इतनी प्रकट नहीं रहती। वह एक प्रकार से सम्पूर्ण नाटक अथवा उपन्यास के वृत्त में अन्तर्निहित रहती है। इसी कारण इन रचनाओं का रूप अधिक पारदर्शी होता है तथा उसमें कथा तत्व अधिक स्फुट रूप बन कर झलकता है। नाटक और उपन्यास काव्य की अपेक्षा जीवन के यथार्थ तथ्यों का जैसा निरूपण होता है वैसा काव्यों में प्रायः नहीं रहता। इस कारण भी नाटक और उपन्यास में तत्व की प्रधानता दिखाई देती है। फिर भी इन रचनाओं में रूप और तत्व का अथवा शब्द और अर्थ का ऐसा अभिन्न साम्य होता है कि काव्यगत शब्द और अर्थ के साहित्य की परिभाषा उन पर भी घटित हो सकती है। रूप और तत्त्व की अभिन्नता से भी साहित्य कहे जा सकते हैं। और यदि यही अभिन्नता काव्य का लक्षण है तो इन्हें काव्य भी कहा जा सकता है। छन्द विधान और अलंकार बाहुल्य को छोड़कर काव्य के साथ इनकी तुलना की जा सकती है। नाटक के संलाप और उपन्यासों के वर्णन में प्रायः अभिधा प्रधान दिखाई

देती है। किन्तु सूक्षमता से देखने पर इनमें आकृति के अन्तर्भाव की व्यंजना विपुलता से मिल सकती है। इस व्यंजना का रूप कथा आदि के तत्व से अभिन्न होता है और यह अभिन्नता काव्य के लक्षण को चरितार्थ करती है। संलाप और वर्णनों के वाक्य सम्पूर्ण रचना की योजना में वे अनेक अन्तर्भावों की व्यञ्जना से सम्पन्न होते हैं। उनकी यह सम्पन्नता उन्हें काव्य के निकट ले आती है।

इस प्रकार शब्द और अर्थ के सहित भाव का लक्षण केवल काव्य पर ही नहीं वरन् साहित्य के अन्य रूपों पर भी घटित होता है जिनमें नाटक और उपन्यास मुख्य हैं। वस्तुतः यह सहित भाव साहित्य का सामान्य लक्षण है और साहित्य के सभी रूपों पर घटित होता है। इस प्रकार साहित्य काव्य का पर्याय बन जाता है। इस सहित भाव की दृष्टि से साहित्य के विभिन्न रूपों में कोई मौलिक अन्तर नहीं होता। साहित्य के सभी रूपों में काव्य के इस लक्षण की संगति के सभी रूपों में काव्य के इस लक्षण की संगति संस्कृत साहित्य की उस परम्परा को प्रमाणित करती है। जिसके अनुसार नाटक और उपन्यास को भी काव्य के अन्तर्गत माना गया है। साहित्य के विभिन्न रूपों में अन्य दृष्टियों से कुछ भेद किया जा सकता है जिसका संकेत ऊपर के विवेचन में किया गया है। कथा तत्व, संलाप, वर्णन, जीवन के तथ्य अलंकार आदि इन दृष्टियों के आधार बन सकते हैं। किन्तु इन भेदों के रहते हुये भी साहित्य के सभी रूपों में शब्द और अर्थ के सहित भाव का सूत्र समान रूप से ओत-प्रोत रहता है। इस आधार पर साहित्य के इन सभी रूपों को काव्य मानना सिद्धान्ततः अनुचित नहीं है। संस्कृत साहित्य के नाटकों और उपन्यासों में काव्य के समान अलंकार आदि का वैभव भी मिलता है जो उन्हें अधिक प्रत्यक्ष रूप में काव्य के निकट ले आता है। इसके विपरीत हिन्दी साहित्य में नाटकों और उपन्यासों में कथा तत्व, जीवन-तत्व आदि की प्रधानता दिखाई देती है और प्रत्यक्ष रूप में वे काव्य से अत्यन्त भिन्न प्रतीत होते हैं। इसी कारण हिन्दी साहित्य की परम्परा में प्रायः नाटकों और उपन्यासों को काव्य के अन्तर्गत नहीं माना जाता तथा साहित्य को एक व्यापक प्रत्यय मानकर काव्य को उसका एक अंग तथा नाटक और उपन्यास काव्य से भिन्न मानकर उनकी गणना साहित्य के अन्य अंगों में की जाती है। किन्तु ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि शब्द और अर्थ के सहित भाव को साहित्य का लक्षण मानने पर साहित्य के इन विभिन्न रूपों में कवित्व का परिहार करके परस्पर भेद करना कितना कठिन है। साहित्य के सभी रूपों में काव्य का सूत्र व्याप्त मान कर अन्य आधारों पर इनमें परस्पर भेद करना निस्संदेह संगत और समीचीन है।

अध्याय ७

काव्य के अंग और उपकरण

काव्य-कला का एक साकार और सजीव रूप है। समात्मभाव उसकी आत्मा है। आकूति की व्यंजना प्राणों के स्पन्दन में समात्मभाव के सौन्दर्य की सजीव अभिव्यक्ति है। जिस प्रकार प्रकृति के भौतिक उपकरणों और रूपों को समाहित करके मनुष्य की देह में आत्मा साकार होती है और प्राणों का स्पन्दन जाग्रत होता है, उसी प्रकार शब्द, अर्थ, विषय, वस्तु, तथ्य, सत्य आदि जीवन और जगत् के उपकरणों के माध्यम में काव्य की आत्मा (समात्मभाव) साकार होती है उसके प्राण (आकूति) का स्पन्दन संचरित होता है। भारतीय काव्य शास्त्र में काव्य को पुरुष मानकर कुछ इसी प्रकार काव्य-पुरुष की कल्पना की गई है। काव्य को पुरुष मानकर उसकी आत्मा, देह अलंकार आदि के रूप में काव्य के स्वरूप, अंगों और उपकरणों की व्याख्या की गई है। काव्य की यह कल्पना मनुष्य जीवन और कला दोनों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। मनुष्य के आकार के अनुरूप किसी भी सूक्ष्म वस्तु की कल्पना को पश्चिमी विचारक आदिम वृत्ति मानते हैं। वैदिक देवताओं की कल्पना को वे इसी दृष्टि से देखते हैं। भय और विस्मय के कारण वृक्षों, वनस्पतियों और जलाशयों में प्रेतात्माओं के निवास की कल्पना आदिम हो सकती है, किन्तु मनुष्य के आकार और स्वभाव के अनुरूप किसी भी सूक्ष्म वस्तु की कल्पना जितनी आदिम है—उतनी ही सनातन और समृद्ध भी है। यदि ऐसा न होता तो ईसाई धर्म का व्यक्तित्व युक्त ईश्वर पश्चिमी विद्वानों के गर्व का विषय न होता। मनुष्य के आकार और स्वभाव के अनुरूप किसी भी सूक्ष्म वस्तु की कल्पना मनुष्य के आत्म सीमित दृष्टिकोण की सूचक नहीं, वरन् उसकी मानवीय भावना का प्रमाण है। इसी मानवीय भावना से प्रेरित होकर भारतीय प्रतिभा ने देवताओं और ईश्वर के अवतारों की सजीव तथा साकार कल्पना की है। यह कल्पना धार्मिक तत्वों से साथ मनुष्य जीवन की आत्मीयता का एक सुदृढ़ अवलम्ब रही है। देवताओं और ईश्वर के साथ सान्निध्य का अनुभव तथा धर्म के साथ जीवन की घनिष्ठता इसके दो महत्वपूर्ण फल हैं।

कला के क्षेत्र में इस कल्पना का विस्तार मानवीयता के अतिरिक्त मनुष्य की कलात्मक वृत्ति के भी अनुरूप हैं। कला साकार और सौन्दर्य की सृष्टि है। अनेक तत्वों, अंगों और उपकरणों के सहयोग से उसमें सौंदर्य का सूक्ष्म तत्व साकार होता है। इन सबके सम्बन्ध और समन्वय का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण स्वयं मनुष्य में मिलता है। मनुष्य विधाता की सबसे श्रेष्ठ कलाकृति है। लोक की सौन्दर्य सृष्टि में वह सबसे सुन्दर है। सौन्दर्य के मर्मदर्शी कवि सुमित्रानन्दन पंत के शब्दों में मानव विश्व की सौन्दर्य सृष्टि में सुन्दरतम है। वह विश्व की सूक्ष्मता सुषमा से निर्मित है। अतः वह सदा अनुरूप है। मनुष्य का सौन्दर्य उसका बाह्य रूप ही नहीं है, उसके अन्तर के भावों में सौन्दर्य के प्राणों का स्पन्दन है, तथा बाह्य रूप के साथ इन भावों के समन्वय में कला का सूक्ष्म सौंदर्य सजीव और साकार हुआ है। कलाओं में सौंदर्य के सृजन और साकार भाव की कल्पना मनुष्य के अनुरूप करना कला के स्वरूप और सिद्धान्त के साथ पूर्णतः संगत है। संगीत शास्त्र में राग-रागनियों की कल्पना मनुष्य के आकार में ही की गई है। काव्य-पुरुष की कल्पना में मानों काव्य स्वयं साकार हुआ है। रूपक अलंकार माध्यम से यह काव्य के स्वरूप का सर्वोत्तम निदर्शन है। काव्य पुरुष के समान ही साकार और सजीव सृष्टि है। समात्मभाव उसकी आत्मा है। आकृति उसके प्राणों का स्पन्दन है। शब्दों की देह में काव्य की आत्मा साकार होती है और प्राण संचारित होते हैं। शब्दों के अनुषगों की शिराओं में आकृति का प्राण स्पन्दन संचरित होता है। यही काव्य का जीवन है। शब्द उसके बाह्य और साकार रूप हैं। शब्दों का सौष्ठव उसका शारीरिक स्वास्थ्य है। प्राणों का ओज इस स्वास्थ्य का सम्बल है। आत्मा का वर्चस्व सूर्य के तेज की भांति सबका उपजीव्य और आधार है। काव्य के प्रसाद माधुर्य, ओज आदि गुण काव्य पुरुष के स्वभाव हैं। अलंकार काव्य की देह के सुषमा वर्धक उपकरण हैं। इस प्रकार काव्य के विविध अंगों और उपकरणों का काव्य के प्राण और उसकी आत्मा के साथ समन्वय है। यह समन्वय मनुष्य देह और जीवन का लक्षण है। काव्य में घटित होकर यह लक्षण काव्य के स्वरूप और विधान का समुचित व्याख्या करता है।

काव्य परम्परा में प्राप्त काव्य के इस रूपक के आधार पर काव्य के स्वरूप उस अंगों उपकरणों आदि तथा उनके परस्पर सम्बन्ध का विचार करना समीचीन है। पुरुष, शब्द का प्रयोग सामान्यतः मनुष्य के लिए, होता है। वेदों में भी 'सहस्र शीर्षा पुरुषः' के द्वारा पुरुष सूक्त में उसकी

कल्पना इसी रूप में की गई है। किन्तु उपनिषदों में आकार पुरुष का तात्पर्य आत्मा हो गया है। सांख्य में भी पुरुष पद का प्रयोग आत्मा के ही अर्थ में किया गया है। आत्मा का अर्थ श्री शंकराचार्य ने स्वरूप किया है। आत्मा ही पुरुष का वास्तविक स्वरूप है। काव्य के प्रसंग में हम सूक्ष्म और साकार दोनों ही अर्थों में पुरुष का ग्रहण कर सकते हैं। मनुष्य के समान आत्मा ही काव्य का मूल स्वरूप है। काव्य के मूर्त देह में यही आत्मा साकार होती है। काव्य की यह आत्मा क्या है? मनुष्य की आत्मा चिन्मय है। इस चिन्मय आत्मा को उपनिषदों में कवि भी कहा गया है। यह आत्मा व्यक्तिगत नहीं व्यापक है। सृष्टि इस विश्वात्मा का काव्य है। अपनी व्यापकता में यह आत्मा केन्द्रित नहीं वरन् विस्तारशील है। चिद् बन्दुओं के समात्मभाव में यह विस्तार प्रत्यक्ष होता है। भूमा इस अनन्त विस्तार की संज्ञा है। यह भूमा ही आनन्द है जिसे उपनिषदों में रस भी कहा है। काव्य भी मनुष्य की चिन्मय सृष्टि है। आत्मा ही उसकी आत्मा है। यह आत्मा ही कवि है। वह अपने स्वरूप के उपादान से सृष्टि का काव्य और काव्य की सृष्टि रचती है। चिद्विन्दुओं के समात्मभाव में आत्मा का विस्तार प्रत्यक्ष होता है। यह समात्मभाव ही काव्य की आत्मा और उसके सौन्दर्य स्रोत है। भारतीय काव्य परम्परा में काव्य की आत्मा की कल्पना दर्शनों में मनुष्य की आत्मा की कल्पना की भांति अनेक प्रकार से की गई है। आनन्दवर्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा माना है (काव्यस्यात्मा ध्वनिः)। ध्वनि का अभिप्राय व्यंजना से है। व्यंजना शब्द की अलौकिक शक्ति है जो अपनी व्यापकता के द्वारा अभिहित अर्थ के अतिरिक्त एक व्यापक अभिप्राय की अभिव्यक्ति करती है। इस ध्वनि अथवा व्यंजना को हम आकूति भी कह सकते हैं। ध्वनि पद में शब्द की क्रियात्मक व्यंजना शक्ति का बोध होता है। आकूति अर्थ में अतिरिक्त तात्पर्य का निधान है। आकूति ध्वनि का स्वरूप है और ध्वनि आकूति की शक्ति है। आनन्दवर्धन ने ध्वनि पद का प्रयोग एक व्यापक अर्थ में किया है। उनके अनुसार ध्वनि शब्द की व्यञ्जना शक्ति और व्यंग तत्व दोनों की वाचक है। किन्तु सामान्यतः ध्वनि को व्यंजना शक्ति का समानार्थक माना जाता है। इस शक्ति के व्यापार से अनुक्त रस आदि काव्य के व्यंग बनते हैं। स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव आदि के सहयोग से काव्य शास्त्र में जिस रस की निष्पत्ति मानी जाती है वह आत्मा का अलौकिक आनन्द नहीं वरन् मन का संवेग है। डाक्टर राकेश गुप्त ने रस के मनोवैज्ञानिक अध्ययन में यह प्रमाणित किया है कि काव्य शास्त्र की रस की कल्पना मनोवैज्ञानिक के संवेग के अधिक निकट है। संवेग मन और शक्ति की एक असाधारण और

उत्तेजित अवस्था है। वह प्राकृतिक सुख के अनुकूल भी हो सकती है, किन्तु आत्मा का आनन्द मन और शरीर की अनुद्विग्न अवस्था में अधिक सुलभ है। उद्वेग उसमें बाधक ही हो सकता है। कदाचित् केवल शान्त को ही एक मात्र रस मानने वाले सिद्धान्त में काव्य के मर्म का अधिक यथार्थ स्पर्श है। आत्मा का स्वरूप शान्त है। आत्मा का रस और आनन्द शान्ति में ही उदित होता है। यह शान्ति आत्मा का स्वभाव है। प्रकृति की साम्यावस्था इसके अधिक अनुकूल है। यह आत्मा इन्द्रियों की संवेदना, मन के आवेग और अहंकार की भावना से परिच्छिन्न जीव चैतन्य नहीं है। आत्मा का स्वरूप व्यापक चिन्मय भाव है जो व्यक्तित्व का तिरिस्कार न करते हुए भी व्यक्तित्व की सीमाओं से ऊपर है। अध्यात्म दर्शन में इसकी ब्रह्म संज्ञा है। व्यवहार की स्थिति में हम इसे समात्मभाव कह सकते हैं। इस समात्मभाव में ही काव्य का रस और कला का सौन्दर्य उदित होता है। यह समात्मभाव ही काव्य की आत्मा है। इस समात्मभाव में उदित होने वाला काव्य का रस, आनन्द और सौन्दर्य अविधेय नहीं वरन् व्यंग्य है। जिस शक्ति के द्वारा इस अनुक्त और अनभिधेय रस की व्यञ्जना होती है उसे काव्य में व्यंजना शक्ति कहा जाता है। जिस अतिरिक्त अर्थ तत्व की व्यंजना यह व्यंजना शक्ति करती है उसे आकूति कह सकते हैं। यदि समात्मभाव काव्य की आत्मा है तो आकूति उसका प्राण है। कुन्तक ने इस व्यञ्जना को कुछ अधिक व्यापक बना कर वक्रोक्ति का नाम दिया है। कुन्तक का यह सिद्धान्त समीचीन प्रतीत होता है कि वक्रोक्ति काव्य का जीवित अथवा प्राण है (वक्रोक्ति : काव्य जीवितम्)। यहां इतना संकेत कर देना आवश्यक है कि व्यञ्जना की वक्रता अधिक स्फुट होने पर काव्य में रूप की प्रधानता हो जाती है और व्यंग्य तत्व गौण हो जाता है। अतः प्रकाश किरणों की सूक्ष्म और अलक्ष्य वक्रता ही व्यंजना का भी उत्तम रूप है। जिस प्रकार प्रकाश किरणों की अलक्ष्य वक्रता उनकी ऋजु गति में अन्तर्हित होकर दृश्य रूपों को आलोकित करती है उसी प्रकार काव्य में प्रसाद की ऋजुता में अनवित व्यञ्जना अथवा वक्रोक्ति काव्य के रस और सौन्दर्य को व्यञ्जित करती है। आकूति व्यञ्जना का शक्ति पक्ष है जो काव्य पुरुष की शक्ति के समान है। व्यञ्जना से व्यापार का बोध विशेषतः होता है। वह काव्य के प्राणों का स्पन्दन है। शब्दों की शिराओं में अलक्ष्य रूप से काव्य के प्राणों का संचार होता है और शब्दों के देह में काव्य की आत्मा की व्यंजना होती है। शब्द काव्य के देह हैं शब्दों के गठन से ही काव्य पुरुष की देह के अवयव संस्थान निर्मित होते हैं। देह आत्मा का मंदिर है। वह किसी भी दृष्टि से गौण अथवा कम महत्वपूर्ण नहीं है जैसा कि कुछ अध्यात्मवादी दर्शन मानते

हैं। देह के माध्यम में ही अध्यात्म का प्रतिपादन और आत्मा का बोध होता है। शब्दों का माध्यम में ही काव्य की आत्मा की व्यंजना होती है। जिस प्रकार अंगों का सौष्ठव आत्मा के सौन्दर्य की व्यंजना के अनुकूल होता है उसी प्रकार शब्दों का सौष्ठव काव्य की आत्मा के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के अधिक अनुकूल होता है। अंगों के इस सौष्ठव को हम सामञ्जस्य कह सकते हैं। शब्दों के सौष्ठव में यह सामंजस्य अधिक सूक्ष्म और व्यापक हो जाता है। सामंजस्य में अंग विन्यास के सन्तुलन का समत्व होता है ' अतः वह समात्म-भाव के सौन्दर्य और रस की अभिव्यक्ति के अधिक अनुरूप है। आनन्दवर्धन के शब्दों में जिस प्रकार अंगनाओं के अंग सौष्ठव से लावण्य विभासित होता है उसी प्रकार शब्दों के अंग सौष्ठव से काव्य के रस और सौन्दर्य की व्यंजना होती ह। शब्द का काव्य के चिन्मय व्यंग्य तत्व से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि शब्द दर्शन में तो उसे चित् स्वरूप ही माना है। पारावाक और परब्रह्म समानार्थक है। शब्द का बाह्य रूप भी देह की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म है। देह दृश्य रूप है और अंगों की स्थूल व्यवस्था है। दृश्य रूप बाह्य और स्थूल होते हैं। शब्द आकाश का सूक्ष्म स्पंदन है। देह की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म होने के कारण शब्द काव्य की आत्मा का अधिक उपयुक्त माध्यम और व्यंजक है। शब्द की यह सूक्ष्मता और काव्य की आत्मा के साथ घनिष्ठता काव्य के समग्र रूपों को अधिक सामंजस्य और सौन्दर्य प्रदान करती है। शब्दों की अभिदा शक्ति काव्य पुरुष की इन्द्रियां हैं। अभिधान की यथार्थ वाचकता इन्द्रियों की यथार्थ संवेदना के ही समान है जिस प्रकार यह संवेदना ही बाह्य जगत के ग्रहण और लोक के व्यवहार की साधन है, उसी प्रकार शब्दों की अभिदा शक्ति भाषा के व्यवहार की साधन है। इन्द्रियों के वातायन से आत्मा का सौदर्य विश्व में विभासित होता है 'और विश्व के सौन्दर्य का आत्मा में सन्निधान होता है। उसी प्रकार अभिधान के वातायन से काव्य की आत्मा का अपार सौन्दर्य विभासित होता है और काव्य की आत्मा में जीवन के सौन्दर्य का सन्निधान होता है। इन्द्रियों का प्रसाद मन का प्रसाद बनकर आत्मा का रस के अनुकूल होता है उसी प्रकार शब्दों के अभिधान का प्रसाद भी आलोक की ऋजुता के समान अपनी पारदर्शिता से काव्य के सौन्दर्य की व्यंजना के अनुरूप होता है। यदि प्रसाद व्यंजना के अनुरूप उज्जवल आलोक है तो माधुर्य इन्द्रियों की सुखमय संवेदना के समान शब्दों के अभिधान को रस की व्यंजना के अनुकूल बनाता है। इन्द्रियों का ओज अंग सौष्ठव की दृढ़ता और प्रोण शक्ति की सबलता का द्योतक है, उसी प्रकार शब्दों का ओज शब्दों के सौष्ठव की दृढ़ता और आकृति की प्राण शक्ति की सबलता का द्योतक

विधि उपयोग की सम्भावना रहती है। शब्द रूप होने के कारण अलङ्कार भी काव्य के अङ्ग हैं, बाह्य उपकरण नहीं। काव्य की देह के अनेक विधि रूप विन्यास में इन अङ्गों के अनेक विधान सम्भव हैं।

शब्द काव्य की देह है, किन्तु मनुष्य की देह के समान आत्मा से उनका समवाय सम्बन्ध है। इसी सम्बन्ध के नाते देह आत्मा के सौन्दर्य को विभासित करती है और शब्द काव्य की आत्मा के सौन्दर्य को व्यंजित करते हैं। अर्थ अथवा आकृति काव्य का प्राण है। इस प्राण स्पन्दन के द्वारा ही आत्मा का सौन्दर्य देह में विभासित होता है। प्राण और आत्मा से देह का आत्मीय सम्बन्ध है। अतः शब्द का भी काव्य की आत्मा से आत्मिक सम्बन्ध है। अलङ्कार काव्य के अङ्ग और शब्द रूप हैं। अतः अलङ्कारों का भी काव्य की आत्मा के साथ आत्मिक सम्बन्ध है। यही कारण है कि जहाँ शब्दों की देह में काव्य की आत्मा साकार हुई है, वहाँ काव्य में अलङ्कारों का योग अनायास हुआ है। शब्दालङ्कारों को काव्य का बहिरङ्ग मानते हैं, यह ठीक भी हो तो भी काव्य के अङ्ग सौष्ठव में बाह्य विन्यास के सामंजस्य का भी महत्त्व है। शब्द दर्शन ने शब्द को चिन्मय मानकर उसके बाह्य और अन्तरङ्ग के भेद की कठोरता को मिटा दिया है। शब्दालङ्कार संख्या में थोड़े और कम महत्त्वपूर्ण हैं। अनुप्रास के अतिरिक्त शुद्ध शब्दालंकार दुर्लभ है। अनुप्रास का उपयोग काव्य में अल्पमात्रा में ही उचित है। अनुप्रास वर्णों की समानता है। अङ्ग-सौष्ठव के सौन्दर्य में इस समानता का उपयोग अल्प ही है। अङ्ग-सौष्ठव का सौन्दर्य अङ्गों के बन्धुर विन्यास में है। मनुष्य की देह के निर्माण में केवल युग्मों की समानता है, अन्यथा अङ्गों का बन्धुर विन्यास ही सौष्ठव के सौन्दर्य का रूप है। देह-सौन्दर्य के आदर्श में विशेषतः स्त्रियों के देह लावण्य में वक्ष, कटि, नितम्ब, जघुन आदि के विन्यास क्रम में बन्धुरता एक विशेष गुण है। अतः काव्य के देह सौष्ठव में अनुप्रास का अल्प ही उपयोग है। मनुष्य देह के अंगों के युग्मों की भांति शब्दों के चरण युग्मों का अन्त्यनुप्रास ही काव्य के देह सौष्ठव का पर्याप्त साधन है।

काव्य के अलंकारों में अर्थालंकार ही अधिक हैं। अर्थ शब्द ही आन्तरिक विभूति है। यदि शब्द को मुखर ध्वनि मानें तो अर्थ उसका आन्तरिक चिन्मय तत्व है। अतः अर्थालंकार काव्य की आत्मा के सजातीय है। उनमें अधिकांश आकृतिमय होने के कारण काव्य के प्राण है। कुन्तक ने वक्रोति में और आनन्दवर्धन ने ध्वनि में समस्त अर्थालंकारों का अन्तर्भाव करने का

प्रयत्न किया है। आकृतिमय होने के कारण अर्थालंकार प्राण के समान ही काव्य की आत्मा का देह के रूप में अन्वय करते हैं। किन्तु काव्य की आत्मा शब्दों की देह में साकार होती है। अर्थलंकारों की आकृति भी शब्दों में ही रूप ग्रहण करती है। अतः अर्थालंकार के उपयोग में भी मर्यादा, विविधता, वैचित्र्य और बन्धुरता सौन्दर्य का साधन है। आत्मा और प्राण की प्रचुरता जीवन और काव्य की समृद्धि और सम्पन्नता की सूचक है। किन्तु जिस प्रकार प्राण की प्रचुरता अङ्गों के अतिरंजित आकार के रूप में प्रकट होने पर रोग लक्षण और कुरूपता का कारण बनती है, उसी प्रकार आकृति की प्रचुरता शब्द के अंगों को अतिरंजित गौरव देखकर अंग सौष्ठव के सामंजस्य को भोग करती है, तो अलंकार काव्य में कुरूपता का कारण बन जाती है। एक ही अलङ्कार का अतिरंजित प्रयोग शरीर के एक अङ्ग के अतिरंजित विकास की भांति अर्बुद, बनकर काव्य के स्वस्थ्य और सौष्ठव दोनों का घातक होता है। उपमा के जिस अद्भुत प्रयोग के लिए कालिदास अद्वितीय माने जाते हैं, रघुवंश में छन्दों के उत्तरार्द्ध में उपमाओं के निरन्तर प्रयोग का कुछ ऐसा ही फल रहा है। अतः शब्द काव्य में अलङ्कारों का प्रयोग भी सन्तुलित और सामंजस्य पूर्ण होना चाहिए। यदि अर्थ अलङ्कार और काव्य दोनों का प्राण है तो दोनों के एक प्राण होने पर ही काव्य के स्वस्थ्य व्यक्तित्व का निर्माण होता है। अलङ्कार और काव्य के आत्मा अथवा उनके प्राणों में भेद अथवा असामंजस्य होने पर मनोविज्ञान के विकृत व्यक्तित्व की भांति काव्य का व्यक्तित्व विभाजित होता है। आत्मा, प्राण और देह का सन्तुलित सामंजस्य पूर्ण विधुर विन्यास ही मनुष्य के व्यक्तित्व में पूर्ण सौन्दर्य का विधायक है। काव्य के व्यक्तित्व के सौन्दर्य विधान में एकाकार होकर ही अलङ्कार सौन्दर्य के साधक हो सकते हैं। अतः सन्तुलन, सामंजस्य, विविधता, वैचित्र्य और बन्धुरता के अनुरूप ही काव्य में अर्थालङ्कारों का उपयोग उचित है। अङ्ग-सौष्ठव की भांति भावों का सन्तुलन और सामंजस्य काव्य के आन्तरिक सौन्दर्य का विधायक है। किसी भी भाव अथवा अङ्ग का अतिरंजित आकार और महत्त्व विकृति का लक्षण और कुरूपता का कारण है। सामंजस्य के सौन्दर्य में काव्य की आत्मा उसके प्राण और अङ्गों से एकाकार होकर अलङ्कार की आत्मा उसके प्राण और अङ्ग उसी प्रकार तन्मय भाव से काव्य के सौन्दर्य की रचना करते हैं, जिस प्रकार बीजों के युग्म एक दूसरे में आत्म सात होकर लोक में नवीन, सजीव और साकार सौन्दर्य की सृष्टि की सृष्टि करते हैं। इस सन्तुलित और समन्वित सौन्दर्य की सृष्टि में ही जीवन और काव्य के सम्पन्न, स्वास्थ्य, समृद्ध सौष्ठव और समर्थ यौवन की सफलता है।

अलङ्कार के अतिरिक्त काव्य के रूप निर्माण में रस, गुण, रीति, छन्द संगीत और श्रेय का भी योग है। रस को तो कुछ आचार्य काव्य की आत्मा ही मानते हैं। गुण और रीति भी उसके आवश्यक अंग है। छन्द और संगीत काव्य पुरुष की गति है। श्रेय उसके जीवन और गति का लक्ष्य है। इसकी परिभाषा कठिन है, विभाव, अनुभाव आदि के योग से चित्त में जिस अनिर्वचनीय अनुभूति की निष्पत्ति होती है, उसे रस कहते हैं। विभाव अनुभाव आदि उसके उपकरण मात्र हैं इनकी सहायता से आश्रय के चित्त में रस का स्फोट होता है। शब्दों की देह में ही यह रसानुभूति सम्भव होती है किन्तु देह की भाँति शब्द भी उस रस के न आश्रय है और न उसका अभिधान करते हैं। रस अभिधेय नहीं है, उसकी केवल व्यंजना होती है। शब्दों के अभिधान उस व्यंजना के निमित्त मात्र हैं। रस शब्दों में अन्तर्निहित आकृति का मर्म है। मुखरशब्दों का चिन्मय भाव है। जीवन में चिन्मय भाव के रूप में ही रस की आकृति अभिव्यक्ति होती है। जीवन के व्यापारों में भी व्यञ्जना द्वारा ही रस की निष्पत्ति और अभिव्यक्ति होती है। जीवन के अभिधेय और स्थूल व्यापार शारीरिक सुख के कारण हो सकते हैं। इन स्थूल व्यापारों का अभिधान (अर्थ) शब्द के अभिधान के समान ही हैं। शब्द काव्य के शरीर हैं। मुखर शब्द के अभिधान में रस की व्यञ्जना उसी प्रकार होती है जिस प्रकार जीवन के स्थूल और अभिधेय व्यापारों में अन्तर्निहित अलक्ष्य भावों के द्वारा चित्त में रस का सञ्चार होता है। समात्मभाव की स्थिति में आकृति की रसमयी–व्यंजना ही काव्य के शब्दमय देह में आत्मा के सौन्दर्य और प्राणों की स्फूर्ति का स्फुटन है। यह आवश्यक नहीं है किन्तु सामान्यतः कवितामयी व्यंजना का रूप पद्य में ही मिलता है। छन्द कविता के चरण हैं। संस्कृत में गद्य और नाटक भी काव्य के अन्तर्गत है। आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द के बन्धन टूट रहे हैं। गुणों को हम काव्य पुरुष के गुण कह सकते हैं। पुरुषों के स्वभाव के समान काव्य भी प्रसन्न मधुर और ओजपूर्ण होते हैं। प्रसाद में सत्य की पारदर्शी अभिव्यक्ति होती है। माधुर्य रस के सञ्चार का सूत्र है। ओज माधुर्य का विरोधी नहीं किन्तु उसमें लालित्य की अपेक्षा स्फूर्ति अधिक रहती है। ओज लहरों का उतार चढ़ाव कभी माधुर्य के मर्म का भी स्पर्श करता है। ओज के तेज और स्फूर्तियुक्त भाव हैं, महाप्राणों वर्णों की पुरुषतामात्र नहीं। ओज में अन्वित होकर ही प्रसाद और माधुर्य शिवकाव्य की सृजनात्मक परम्परा के प्रेरक बनते हैं। आकृति की व्यञ्जना के साधन बनकर गुण, रीति, छन्द, अलङ्कार आदि काव्य पुरुष के व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं।

अतः कविता का विशेष स्वरूप उसके रूप और शैली में ही निहित है। इस स्वरूप को अभिव्यक्ति, वक्रोक्ति, व्यञ्जना आदि कई नाम दिये जा सकते हैं। सामान्यतः अभिधेय अर्थ की अपेक्षा अनुक्त आकूति की प्रचुरता कविता का स्वरूप गत लक्षण है। कविता और गद्य में अभिधान और व्यञ्जना का ही मुख्म भेद है। इतिवृत्तात्मक कविताओं में आकूति की न्यूनता के कारण ही वह गद्य की कोटि में रहती है। आकूति का तात्पर्य अर्थ की कूटता से नहीं है। कूटता अर्थ का गोपन है। वह कला की तामसी शैली है जो अन्धङ्कार का वातावरण बनाकर पाठक की चेतना को कुण्ठित करती है। कला की वास्तविक आकूति आलोकमय है। प्रसाद गुण का व्यञ्जना से कोई विरोध नहीं है। वस्तुत: प्रसन्न व्यंजना ही उत्तम काव्य की विधात्री है। प्रसाद भाषा की व्यवस्था में शब्द योजना की ऋजुता है। व्यंजना प्रसन्न शब्दावली के व्यक्त आलोक से अव्यक्त लोकों का उद्घाटन है। उपनिषदों में कवि को द्दष्टा कहा है। कविता जीवन की दृष्टि है। अभिधान आंख की दृष्टि है। व्यंजना छोटी सी आंख से विशाल विश्व का दर्शन है। अभिधान के सत्वोज्ज्वल और प्रसन्न शब्द आलोकमय आंख के समान हैं। व्यंजना उनकी विशाल दर्शन की क्षमता है। प्रसाद की ऋजुता इसमें बाधक नहीं वरन् वह दृष्टि को आलोक प्रदान कर व्यंजना की विपुल विभूति को सफल बनाती है। सूक्ष्म और स्वच्छ, किन्तु साथ ही उज्ज्वल और विशाल, दृष्टि उत्तम है। उसी प्रकार प्रसन्न और आलोकमय व्यंजन उत्ताम काव्य की शैली है। जिस प्रकार छोटे से दृष्टि क्षेत्र के सम्मुख विशाल विश्व आलोकित होता है, उसी प्रकार भाषा के लघु, किन्तु प्रसन्न, पदों के पीछे भाव का विशाल अन्तर्लोक विभासित होता है। शब्द भाषा के चक्षु हैं। पदों की गति ही कविता का जीवन है। पदों में दृष्टि होने के कारण काव्य भी अक्षपाद है। जिस प्रकार प्रसाद और व्यंजना का विरोध नहीं, उसी प्रकार अभिधान और व्यंजना में भी विरोध नहीं है वरन् इसके विपरीत दोनों का सामंजस्य श्रेष्ठ कविता का गुण है। अनुक्त आकूति से रहित अथवा उक्ति और आकूति की समानता से युक्त वचन शुद्ध अभिधान है। जिस विधान में उक्त अर्थ के अतिरिक्त अनुक्त आकूति का जितना अधिक अतिशय होता है वह उतना ही कवित्वमय है। वक्रोत्तिकार का यह कथन सत्य है कि इस व्यंजना में कुछ वचन भंगिमा आवश्यक है। किन्तु वह वक्रता प्रकाश किरणों की अलक्ष्य वक्रता के समान है। यह प्रसाद और अभिधान की ऋजुता का खण्डन नहीं करती वरन् इसके विपरीत प्रकाश किरणों की ऋजुता की भांति प्रसाद की ऋजुता में वचन भंगिमा की वक्रता का अन्तर्भाव होजाता है।

इस आकृति में विषय और वस्तुओं के अनुषंग अन्तर्निहित रहते हैं। विषय और वस्तुओं की एक विशाल परम्परा के द्वारा व्यापक भाव की व्यंजना होती है। चेतना में निस्पन्द होकर यही भाव, 'रस' कहलाता है। इसलिए काव्यशास्त्र में रस की व्यंजना से युक्त काव्य को श्रेष्ठ मानते हैं। जिस प्रकार फलों के रस में अनेक तत्व घुल मिलकर एक रस हो जाते हैं, उसी प्रकार शब्दों के अभिधान से व्यंजित होने वाले विषयों, सम्बन्धों और क्रियाओं के मानस प्रत्यय चेतना के भाव में तन्मय होकर रस निष्पत्ति में कृतार्थ होते हैं। फलों के रस की भाँति ही काव्य का रस अनभिधेय, अलक्ष्य और व्यंग होता है। अस्तु व्यंजना के द्वारा भाव और रस की आकृति में अन्वित होकर इतिहास के तथ्य काव्य के उपादान बनते है। लक्षण, अभिदा और व्यंजना के सम्बन्ध का सेतु है। वह उक्त और अनुक्त की संज्ञा का क्षितिज है। इसी अनुरागमयी संन्ध्या के रंजित आलोक में व्यंजना के अवकाश में दीप्त होने वाले स्वर्गीय स्वप्नों के इन्द्रधनुषी मेघ अभिधा की धरती को स्वर्ग की सम्भावनाओं से अलंकृत करते हैं। नारी के रूप लावण्य की भाँति काव्य के रस की व्यंजना भी विपुल चमत्कार, आकर्षण और आनन्द से पूर्ण होती है। जिस प्रकार यौवन कालिदास के कथनानुसार अंग का असम्भृत अलंकार हैं तथा जिस प्रकार नारी का निर्व्याज और निसर्ग रूप ही सर्वोत्तम है उसी प्रकार व्यंजना का भी सहज और प्रसन्न रूप ही उत्तम काव्य है। सभ्यता के विकास में जिस प्रकार इस निसर्ग सौन्दर्य के लावण्य और निर्व्याज रूप की सुषमा को अलंकारों के भार और भाव-भंगिमाओं की कृत्रिमता ने आच्छन्न कर लिया है उसी प्रकार काव्य के इतिहास में भी व्यंजना का सचेष्ट और सायास तथा कृत्रिम चमत्कार कविता के निसर्ग सौन्दर्य को तिरोहित करता रहा है। संस्कृत और हिन्दी काव्य के अलंकार युग में कविता के इसी रूप की प्रधानता रही। आधुनिक प्रयोगवाद में भी आधुनिकता के आवरण में कविता के प्राचीन इतिहास की आवृत्ति हो रही है। इन आवृत्तियों का कारण मानवीय चेतना की एक भाँति है। साधारणतः लोगों का रूप-सौन्दर्य का बोध सजग और परिष्कृत नहीं होता। दूसरे मनुष्य का बोध स्वभाव से ही व्यंजना से प्रेरित होता है। ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष में भी अल्प संवेदना से अधिक अर्थ की आकृति होती है। बोध की इस स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण व्यंजना और शैली की बाह्य किन्तु आकर्षक भंगिमाओं में ही मनुष्य को सौन्दर्य का भ्रम हो जाता है। इस भ्रम में मनुष्य की कल्पना का सहयोग और दोष है। वस्तुतः कल्पना में व्यञ्जना की शक्ति है। इसीलिए कल्पना को कला का मर्म मानते रहे हैं।

इस व्यंजना और कल्पना की प्रमुखता के कारण कविता की वचनभंगिमा तथा नारी की भाव भंगिमा और दोनों के वेश अलंकार, सज्जा, प्रसाधन आदि में ही वास्तविक सौन्दर्य का भ्रम हो जाता है। रीतिकाल के काव्य की भाँति चमत्कार पूर्ण उक्ति ही अथवा अलंकारों की रमणीय योजना ही सुन्दर काव्य कहलाने लगती है। अथवा आधुनिक प्रयोगवादी काव्य की भाँति भाव और वचन की भंगिमा में ही कला का कृतित्व रह जाता है। काव्य-सौन्दर्य के तत्व पर लोगों की दृष्टि भी नहीं जाती। कला की यह भाँति नारी के रूप सौन्दर्य के सम्बन्ध में सभ्यता की आधुनिक भ्रांति के समान है। आज नारी के शृङ्गार प्रसाधन सज्जा और अलंकार का आडम्बर और चमत्कार इतना बढ़ गया है कि उसके किसी भी पक्ष से चमत्कृत होकर दृष्टि को सौन्दर्य का भ्रम हो जाता है। हवा में लहराती हुई साड़ी का रंगीन पल्ला, लहाराती हुई चोटी, चमकती हुई बिन्दी, भूलते हुये झुमके आदि कोई भी उपकरण अथवा कटि, कर, नयन, अधर किसी भी अङ्ग की भंगिमा नारी के सौन्दर्य का भ्रम उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार गीत काव्य में कोई शब्द अथवा अलंकार तथा प्रयोगवादी काव्य में किसी भाव अथवा पद की भंगिमा कविता के सम्पूर्ण सौन्दर्य की भाँति के लिए पर्याप्त है। स्वाभाविक होते हुए भी अथवा स्वाभाविक होने के कारण ही यह कविता की रचना अथवा उसके आस्वादन का परिष्कृत समृद्ध रूप नहीं है। इसमें मनुष्य की सजग और समृद्ध चेतना का संस्कार नहीं है। वास्तविक सौन्दर्य न केवल कोई निसर्ग तत्व है और न वह केवल व्यंजना अथवा भंगिमा की शैली है। वस्तुतः सौन्दर्य का सम्पूर्ण रूप तत्व अथवा शैली का सांस्कृतिक समन्वय है। सायास व्यंजना और अलंकरण की अल्पता इस सांस्कृतिक सौन्दर्य को निसर्गता का लावण्य प्रदान करती है। बाल्मीकि के काव्य और आश्रम की सत्यता में ही संस्कृति का यह निसर्ग सौन्दर्य अपने पूर्ण और समृद्ध रूप में मिलता है। भाव भंगिमा और अलंकारों की प्रचुरता में भी कालिदास में भारतीय संस्कृति की इस प्राचीन विभूति के अवशेष सुरक्षित हैं। नारी का निसर्ग सौन्दर्य उनका विषय है। अलंकृत शैली में भी अनायास और निसर्ग कला का बहुत कुछ सौन्दर्य विद्यमान है। कालिदास की महिमा का यही मर्म है।

अभिव्यक्ति की व्यंजना में अन्वित होकर जीवन के तत्व काव्य बन जाते हैं। काव्य का सामान्य स्वरूप तो जीवन के तत्व में सौन्दर्य का यही स्फोट है। छन्द, संगीत आदि के साथ काव्य का कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं

है। इसीलिए संस्कृत साहित्य की परम्परा में नाटक और गद्य भी काव्य के अन्तर्गत हैं। जीवन के तत्व और भाव की व्यंजनामयी अभिव्यक्ति गद्य में भी संभव है। छन्द और संगीत का सम्बन्ध शब्द और स्वर योजना की लय से है, तत्व और भाव की व्यंजना से नहीं। छन्द और संगीत का सम्बन्ध शब्द और स्वर योजना की लय से है, तत्व और भाव की व्यंजना से नहीं। छन्द और संगीत इस योजना में सहायक हो सकते हैं किन्तु इसके आवश्यक अंग नहीं। छन्द और संगीत से रहित होने पर भी कादम्बरी संस्कृत काव्य की अत्यन्त श्रेष्ठ कृतिमानी जाती है। अभिव्यक्ति की व्यंजना का सौन्दर्य कादम्बरी में किसी काव्य से कम नहीं संस्कृत के प्रेमियों में तो यह परम्परा है कि "कादम्बरी अखिल रस भरी"। वस्तुतः कालिदास के अतिरिक्त कादम्बरी के समान रस-निर्भर रचना संस्कृत साहित्य में दुर्लभ है। कालिदास में कादम्बरी का भाव-गम्भीर्य नहीं है उसमें तत्व की अपेक्षा सौन्दर्य और अलंकार अधिक है। भारवि की व्यंजना में बाण की ऋजुता नहीं है, यद्यपि भाव-गाम्भीर्य पर्याप्त है। कादम्बरी में बाण के व्यापक अनुभव की निधियाँ जीवन के मार्मिक और गम्भीर तत्वों के रूप में जिस विपुलता के साथ मिलती हैं, वह अन्यत्र सम्भव नहीं। भारवि में नीति और व्यंग अधिक हैं। जीवन के तत्वों की वह विपुलता और व्यंजना की प्रांजलता नहीं है, जो कादम्बरी में सर्वत्र मिलती है। इस दृष्टि से कादम्बरी संस्कृत का सर्वश्रेष्ठ काव्य है।

हिन्दी साहित्य में यद्यपि संस्कृत काव्य शास्त्र की परिभाषायें ही मान्य नहीं हैं फिर भी काव्य पद छन्दोबद्ध रचना के अर्थ में ही रूढ़ हो गया। प्राचीन हिन्दी साहित्य में पद्य की ही प्रचुरता है और गद्य का एकान्तर भाव है। मध्ययुग में ही भी वैष्णवों की वार्ता आदि में कुछ गद्य अपवाद के रूप में मिलता है किन्तु वह काव्य नहीं है। उसका प्रयोजन अर्थ की यथार्थ अवगति से है, आकृति की व्यापक व्यंजना से नहीं। आधुनिक युग में 'उद्भान्त प्रेम' और 'अंग्रेजी गीतांजली' की शैली के प्रभाव से हिन्दी में गद्य काव्य का एक नवीन रूप प्रचलित हुआ जिसका उदाहरण रायकृष्णदास की'साधना' वियोगी हरि का 'अन्तर्वाद', दिनेश नन्दिनी के 'मौत्तिक माल शवनम' आदि में मिलता है। यह गद्य काव्य संस्कृत के गद्य काव्य से भिन्न है। इन दोनों में लय का भेद है। संस्कृत के गद्य काव्य में लय आवश्यक नहीं है उसमें काव्य का स्वरूप केवल अभिव्यक्ति के रूप में ही है। किन्तु हिन्दी गद्य काव्य में लय एक आवश्यक अंग है। तरंगों के उतार चढ़ाव की भाँति लय का आरोह और अवरोह भाव के प्रवाह कीं गति है। इस लय के तरंगित सूत्र

में गद्य काव्य के भाव प्रसून गुम्फित रहते हैं। लय के प्रवाह में भाव और स्वर दोनों की गति गुम्फित रहती है। लय गद्य काव्य का प्राण है। लय की गति में गुम्फित रहने के कारण हिन्दी गद्य काव्य के भाव तत्व में एक अस्वाभाविक आवेग है जो प्रलाप के सन्निकट प्रतीत होता है। भाव का यह आवेग संगीत में स्वर की गति के साथ भाव की संगति के लिए आवश्यक है। स्वर के आरोह का सहगामी बनकर भाव का आरोह आवेग बन जाता है। आवेग जीवन की असाधारण अवस्था है। अतः जिस प्रकार वह समस्त जीवन का व्यापक अङ्ग नहीं है, उसी प्रकार वह समस्त का व्यापक अंग भी नहीं बन सकता। जीवन आवेग नहीं अनुभूति,आत्मभाव और आनन्द है। आवेग कदाचित उत्पन्न होने वाली विकृत और अपवाद है। स्वाभाविक होते हुए भी वह सामान्य नहीं इस आवेग के प्राकृत रूप को रस का आधार मानकर अधिकांश संस्कृत और हिन्दी काव्य सम्वेदनाओं की सीमा में संकुचित हो गया तथा उसमें काव्य के सांस्कृतिक रूप का समुचित आदर न हो सका। इस आवेग की असाधारणता के कारण ही हिन्दी गद्यकाव्य की परम्परा में प्रगति न हो सकी। गद्य काव्य का हिन्दी साहित्य में उतना ही परिमाण और महत्व है जितना जीवन में आवेग है। जीवन की साधारण स्थितियों और उसके सामान्य तत्वों के आधार पर रचित कादम्बरी की भांति गद्य काव्य हिन्दी में बहुत कम है। चन्डीप्रसाद हृदयेश में वाण का शाब्दिक अनुकरण है। हिन्दी की उद्भ्रान्त आवेगमयी शैली में कादम्बरी की भाषा शैली के मिश्रण से जो संकर हृदयेश जी ने हिन्दी को दिया वह अन्य प्राकृतिक संकरों की भांति ही किसी परम्परा का वाहक न बन सका। जयशंकरप्रसाद के गद्य और नाटकों में कादम्बरी की शैली के गद्य काव्य का अधिक सफल रूप मिलता है। मुख्यतः नाटककार होने के कारण जयशंकर प्रसाद के गद्य और पद्य दोनों में सामान्यतः एक नाटकीय ओज और आवेग व्याप्त है। हिन्दी गद्य काव्य की शैली के प्रलाप भी अपवाद के रूप में प्रसाद जी की रचनाओं में मिलते हैं। सामान्यतः उनके भाव में ओज अधिक है और आवेग कम वाण और प्रसाद दोनों के सम्बन्ध में यह एक सामान्य भ्रान्ति है कि उनकी भाषा क्लिष्ट है। वाण की समाज शैली और प्रसाद की शब्दावली ने इस भ्रम के प्रचार का आधार दिया है। समास और शब्दावली क्लिष्टता का कारण नहीं है। क्लिष्टता अभिव्यक्ति की दुरुहता और कूटता है। भारवी, श्री हर्ष और माघ में इसका उदाहरण मिल सकता है। समास कादम्बरी के समान दीर्घता और विपुलता के द्वारा तथा शब्दावली प्रिय प्रवास की भांति

अप्रचलित प्रयोग के द्वारा क्लिष्टता का निमित्त अवश्य बन जाती है। कादम्बरी में समास सर्वत्र नहीं है। प्रसाद की शब्दावली भी सर्वत्र संस्कृत निष्ट नहीं है। पुण्डरीक के विलाप और देव सेना के संवादों की भांति सरल भाषा और प्रसन्न शैली की मर्ममयी भाव व्यञ्जना भी अनेक स्थलों पर मिलती हैं। इन स्थलों में भाव सौन्दर्य की व्यञ्जना और भी सफल और प्रभावशाली हुई! भाषा और शैली के भेद को छोड़कर अन्य स्थलों का काव्य सौन्दर्य इन स्थलों के ही समान है। इस काव्य सौन्दर्य का स्वरूप जीवन के तत्वों की आकूति मयी व्यञ्जना है। दुरुहता की दृष्टि से नहीं वरन् शाकुन्तल के 'निज भागधेयं प्रच्छ' के समान आकूति की विपुलता काव्य की समृद्धि का लक्षण है। व्यञ्जना आकूति की अभिव्यक्ति की शैली है। यह आकूतिमयी अभिव्यक्ति ही काव्य का सामान्य स्वरूप है जो कादम्बरी के समान प्रसाद जी के गद्य और नाटकों में प्रचुरता से मिलता है। नाटक की स्वाभाविक गतिशीलता के कारण प्रसादजी के नाटकों में इस आकूतिमयी व्यंजना के साथ साथ कुछ लय का संयोग भी मिलता है। कहानियों में वह कम है किन्तु निबन्धों में प्रायः नहीं है। किन्तु काव्य का स्वरूप उनकी कृतियों में कादम्बरी के समान सर्वत्र व्याप्त है। सुमित्रानन्दन पंत और महादेवी वर्मा के गद्य में भी इस कवित्व के कुछ चिन्ह मिलते हैं। दोनों के गद्य की मार्मिकता का यही रहस्य है। यह आकूतिमयी काव्यानुरूप व्यञ्जना के गद्य में व्यापक रूप में वर्तमान होने की चर्चा है। अन्यथा सभी गद्य कृतियों में यत्र तत्र इस कवित्वमयी व्यञ्जना के स्थल मिल सकते हैं। वैज्ञानिक गद्य में तो अर्थ का यथार्थ अभिधान एक गुण है, किन्तु साहित्यिक गद्य में आकूति आवश्यक है जीवन के भाव और मूल्य यथार्थ अभिधानों के विषय नहीं है। आकूति व्यञ्जना से ही उनका संकेत हो सकता है। वैज्ञानिक गद्य की ऋजुता स्पष्टता और प्रांजलता प्राप्त कर लेने पर भी आकूति साहित्यिक और सांस्कृतिक रचनाओं की शैली रहेगी। गद्य के गुणों को आत्मसात करके कविता और भी अधिक निर्मल और उज्जवल रूप में निखरित हुई। इस आकूति का सौन्दर्य आनन्द में फलित होता है। वैज्ञानिक गद्य में जहाँ आकूति का प्रयोग होता है वहाँ भी उसका उद्देश्य यथार्थ अर्थ की अवगति का संकेत ही रहता है। यही गद्य और पद्य का मौलिक अन्तर है।

अस्तु लय और संगीत काव्य के आवश्यक अंग नहीं है। कविता के स्वरूप से उनका आन्तरिक सम्बन्ध नहीं है फिर भी हिन्दी साहित्य में 'काव्य' पद लय और संगीत युक्त पद्य के अर्थ में ही रूढ़ रहा है। इसमें संदेह नहीं कि यद्यपि आकूति ही काव्य का मूल स्वरूप है किन्तु लय और संगीत का

उस आकृति को सुगम और उसके आनन्द को सुलभ बना देता है। शब्द का स्वर से कोई घनिष्ट गम्भीर और मौलिक सम्बन्ध है इसीलिये भारतीय परम्परा में वाक् देवी भगवति सरस्वति के हाथ में वीणा है और हंस के अतिरिक्त उनका एक वाहन मयूर भी है। हंस ज्ञान का मयूर संगति का प्रतीक है। हंस का शुभ्र वर्ण ज्ञान के साधक सत्व गुण के साथ साथ विवेक की प्रतिभा का प्रतीक है। विवेक ज्ञान का मूल स्वरूप है। मयूर का स्वाभाविक स्वर षडज् है। मूलाघाट से उत्थित षडज् स्वर और संगीत का मूल है। मयूर का चित्र वर्ण चित्र कला का प्रतीक है। मयूर के षडज् की भांति संगीतज्ञों ने अन्य पशुओं को वाणी में अन्य स्वरों की खोज की है। कोकिल का जन्म पंचम स्वर में होता है। हाथी की चिघांड़ का स्वर निषाध है। पशुओं की वाणी का संगीत के स्वरों के रूप में निर्धारण यहीं संकेत करता है कि कदाचित जीवों के विकास में स्वर का स्फोट संगीत के अनुरूप ही हुआ है। शेक्सपियर ने शिलाओं में संगीत की खोज की थी। वह तो आत्मा का अशब्द संगीत है, किन्तु शब्दमयी प्रकृति में संगीत की व्याप्ति नैसर्गिक दिखाई देती है। विशाल दृष्टि कवि इसका मूल विश्व लोकों के संगीत में खोजते हैं। मानों विश्व के ग्रह नक्षत्र किसी महान संगीत की लय में चिरन्तन नृत्य कर रहे हैं। स्कन्ध गुप्त की देव सेना की धारणा के अनुकूल विश्व जीवन की प्रत्येक गति में एक लय है एक संगीत है। भारतीय संस्कृति की परम्परा में सृष्टि के शिखर पर आसीन जीवन के चरम लक्ष्य के प्रतीक शिव योगीश्वर होने के साथ साथ नटराज भी है। डमरू निर्घोष के साथ उनका लास्य और ताण्डव सृष्टि और प्रलय का संगीत है। विश्व संगीत की यह व्यापक लय ही जीवों के स्वर में स्फुटित हुई है। जीवों के शब्द संगीत के सप्त स्वरों का निर्धारण प्रसिद्ध है। मनुष्य के विकसित रूप में चेतना गीत और ज्ञान दोनों रूपों में स्फुटित हुई है। ज्ञान उसके मस्तिष्क और बुद्धि के विशेष विकास का फल है। गीत या संगीत उसके स्वर का वह सहज रूप है जो अन्य जीवों के साथ उसके बन्धुत्व की सामान्य विभूति है। बच्चों और स्त्रियों का रोदन भी प्रायः संगीत की लय विद्यमान रहती है। बालकों का समस्त जीवन संगीत की एक नैसर्गिक मणि में लीन रहता है। उनकी गति कृति और उनका आलाप सब मानों एक संगीत शृङ्खला की कड़ियों की झंकार है। कदाचित संगीत विश्व जीवन की नैसर्गिक गति और लय है। बालकों की भांति ही मनुष्य की प्राचीन लोक संस्कृति का रूप भी संगीतमय है। मनुष्य का प्राचीन साहित्य भी काव्य के रूप में है। वेदों के समान उसका काव्य में संगीत का एक समृद्ध रूप है। संगीत और काव्य ही जीवन तथा संस्कृति का मौलिक रूप है।

किन्तु जीवन और सभ्यता के विकास के साथ बुद्धि का उदय होता है। चेतन होते हुये भी बुद्धि में एक प्रकार की स्थिरता है। जिसका मार्मिक संकेत बर्गसों ने अपने दर्शन में किया है। जीवन गति है और संगीत भी गति है। बुद्धि और ज्ञान में गति नहीं अवगति है। गतिशील जीवन और विश्व को स्थिर खण्डों में विभाजित करके उनके रूप का निर्धारण ज्ञान का धर्म है। जिज्ञासा मानो कृष्ण करके गति का अविरोध कर देती है। संगीत की लय खंडित हो जाती है और जीवन का नटराज विवेकी बन जाता है। इसी अवरोध से ज्ञान और गद्य का उदय होता है। संगीत जीवन की लय है। गद्य ज्ञान का उदय है इसीलिये मनुष्य के समाज में गद्य का विकास जिज्ञासा के बाद विलम्ब से ही हुआ। बालक के जीवन में भी जीवन की संगीतमयी लय का आगम पहिले होता है जिज्ञासा और अवगति का उदय पीछे होता है और इनका विकास तो धीरे धीरे बहुत विलम्ब से होता है। इसी दृष्टिकोण से क्रोचे ने कला को जीवन और संस्कृति का आदिम रूप माना है। जिज्ञासा और अवगति जीवन की लय को खंडित और उसकी गति को शिथिल बना देते हैं। ज्ञान विज्ञानों का उदय इसी शिथिलता का फल है। बुर्गसों इसी जीवन का अपकर्ष मानता है क्योंकि उसके अनुसार गति और संश्लेष ही सत्य का सर्वोत्कृष्ट रूप है। हीगल के ऐतिहासिक दृष्टिकोण का समर्थक होने के कारण क्रोचे इसे विकास मानता है। हीगल और क्रोचे के अनुसार जो काल क्रम में उत्तर है वही दार्शनिक और सांस्कृतिक दृष्टि से भी श्रेष्ठतर है। दृष्टिकोण के भेद से हम जिज्ञासा और अवगति को चेतना का उत्कर्ष और अपकर्ष दोनों ही मान सकते हैं। जीवन के स्वाभाविक संगीत और काव्य की लय को खंडित करने के कारण इसे अपकर्ष कहा जा सकता है। जीवन में एक नवीन विमा और दिशा का उद्घाटन करने के कारण हम इसे उत्कर्ष भी कह सकते हैं। मस्तिष्क और बुद्धि के विकास के बाद नैसर्गिक संगीत की लय के अबोध आनन्द में लीन रहना संभव नहीं। ज्ञान का विकास मनुष्य के समृद्ध जीवन की कल्पना का एक आवश्यक चरण है। विचार और गद्य का विकास इसी चरण का इतिहास है। पूर्व चरण के विपरीत होने के कारण इसमें काव्य संगीत और लय की पूर्व विभूतियाँ विलय हो जाती हैं किन्तु ज्ञान और आलोक की नई विभूतियों का उदय होता है। इसमें संदेह नहीं कि इन विभूतियों के बिना मनुष्य का जीवन और उसकी संस्कृति अपूर्ण और दीन रह जायगा। किन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि जिस प्रकार व्यक्ति और जाति के प्रारम्भिक जीवन के संगीत और काव्य की तन्मयता ही जीवन का पर्यवसाप नहीं है, उसी प्रकार ज्ञान और विचार का द्वितीय

चरण भी विकास का अन्त नहीं है । जीवन और संस्कृति की वास्तविक पूर्णता और समृद्धि उस तृतीय चरण में है जिसमें इन दोनों का सहज समन्वय है। दार्शनिक ज्ञान और प्राकृतिक विज्ञान दोनों के एकांगी और अपूर्ण रहने के कारण इस समन्वय की भूमिका मानवीय संस्कृति में समुचित रूप से नहीं बन रही है। शताब्दियों तक धर्म और दर्शन के अधूरे प्रपञ्चों में भटकने के बाद विज्ञान के बवन्डर से आक्रांत सभ्यता आज सर्वनाश के कगारे पर खड़ी है। प्रथम और द्वितीय चरणों के समन्वय का प्रश्न आज अस्तित्व के प्रश्न के सामने मूक हो गया है । प्रथम चरण के भी पूर्व की नैसर्गिक स्थिति सभ्यता की समस्या बनकर आज अगले दोनों की सङ्गति को असंभव बना रही है किन्तु आज असम्भव होते हुये भी सत्य का यही सम्पूर्ण रूप है। इसी रूप में शिव और सुन्दरं के साथ सत्य का पूर्ण समन्वय है । वैदिक सन्धिताओं की कर्म विधियों में निबद्ध होने के पूर्व भारतीय संस्कृति में यह समन्वय सर्व प्रथम चरितार्थ हुआ था। आज तक सत्य का यही समन्बित रूप भारतीय जीवन और संस्कृति की प्राण प्रेरणा रहा है । सहस्राब्दियों की कठिन और सङ्कटमय यात्राओं में यही उसका सम्बल रहा है। वैदिक युग के बाद प्राचीन युग की आश्रम संस्कृति में इसी समन्वय का एक नवीन संस्करण प्रसिद्ध हुआ। मध्ययुग का ग्रामीण संस्कृति में इसका तीसरा संस्करण हुआ। राज सत्ता और नागरिक सभ्यता के प्रभुत्व और आडम्बरों के प्रभाव से इन संस्करणों में समन्वय की शक्ति और प्रतिभा क्रमशः क्षीण होती गई। अन्तिम चरण के क्षीण समन्वय को राजनीति विज्ञान और व्यापार की विषमताओं का ऐसा आघात लगा कि समन्वय के चतुर्थ चरण की आशा संस्कृति के सर्वनाश की आशङ्का बन रही है। सर्वनाश के पूर्व प्रकृति के नियम के अनुरूप संस्कृति के सभी श्रोत सूख रहे हैं और मनुष्य का अन्तर शून्य हो रहा है फिर भी यह सत्य है कि यही समन्वय संस्कृति का मौलिक रूप है इसी के नव नव संस्करण सरिताओं में जल के नवीन आगम के समान जीवन को नवीन श्रेय और सौन्दर्य के पर्व प्रदान करते रहेंगे । बुद्धि और जिज्ञासा से जहाँ एक ओर विषमता उत्पन्न होती है वहां समता में ही ज्ञान और बुद्धि का अन्तिम समाधान होता है। सम ही संस्कृति और सङ्गीत दोनों का मूल तत्व है। गीता के अनुसार अध्यात्म का समत्व योग कहलाता है (समत्वं योग उच्यते) सङ्गीत में वह सम है, संस्कृति में वह दोनों चरणों का संयोग है । शिव का स्वरूप एक महयोग में तीनों की अन्विति का प्रतीक है।

अस्तु सङ्गीत और लय से भाव और व्यञ्जना का घनिष्ट सम्बन्ध होने

के कारण अधिकांश काव्य पद्य और छन्द के रूप में पाया जाता है। कुछ आधुनिक कवि छन्द के बन्ध को कविता का एक कृत्रिम और अनावश्यक बन्धन मानते हैं। आधुनिक प्रयोगवादी काव्य में छन्द हीन कविता के प्रयोग हुये हैं। किन्तु छन्द काव्य का कितना स्वाभाविक रूप है कि वैदिक परम्परा में छन्द वेद का पर्याय है। भाषा और व्याकरण के वैदिक प्रयोग को छान्दस प्रयोग कहते हैं। इतना अवश्य है कि वेद के छन्द वैदिक भाषा के सस्वर उच्चारण के कारण सङ्गीत के अत्यन्त निकट है। लौकिक संस्कृत और हिन्दी ने मात्राओं का स्वर भार निश्चित होने के कारण सङ्गीतमय सस्वरता नहीं है। सङ्गीत की लय के लिये स्वर का लचीलापन अपेक्षित है फिर भी संगीत की लय स्वयं इतनी लचीली है कि लौकिक संस्कृत और हिन्दी से सन्तुलित मात्रा विधान में भी वह बहुत कुछ सुरक्षित रह सकी है। संस्कृत के श्लोक पाठ, वृज भाषा के पद गायन तुलसीदास के रामायण के पाठ और खड़ी बोली के आधुनिक गीतकारों के स्वर सन्धान में इन भाषाओं की संगीतमयता का परिचय मिलता है। सस्वर उच्चारण न होते हुये भी संगीत के स्वर विधान से इन भाषाओं के काव्य की बहुत संगति है। रागों के नियमित बन्ध तो एक दृष्टि से संगीत के छन्द ही हैं। वस्तुतः सङ्गीत का प्राण लय है जो छन्द और कविता में ही नहीं गद्य में भी सम्भव है। लय स्वर की तरङ्ग है। स्वर के आरोह और अवरोह की एक सङ्गति और सामंजस्य पूर्ण परम्परा ही लय का मूल है। यह लय ही सङ्गीत का शुद्ध स्वरूप है। शब्द और अर्थ से इसका कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। बाह्य सङ्गीत में केवल स्वरों की लय योजना भाव की सृष्टि करती है। कुछ लोग सङ्गीत के साथ भाव का आवश्यक सम्बन्ध नहीं मानते किन्तु उत्सव, युद्ध शोक आदि के समय वाद्यों के स्वर विधान का भेद भाव के साथ स्वर लय के घनिष्ट सम्बन्ध को प्रमाणित करता है। भाषा के शब्दों के द्वारा काव्य रचना में भाव के साथ अर्थ की अन्वित कविता की तत्व विभूति को अनमोल बना देती है। अर्थ की आकृति भाव की अभिव्यक्ति और उसके ग्रहण को अधिक समृद्ध और सुगम बना देती है। इसीलिये केवल वाद्य सङ्गीत का प्रचार शब्द-मय सङ्गीत की अपेक्षा कम है। शब्द सङ्गीत के साथ वाद्य सङ्गीत की आवश्यकता उसके महत्त्व और उसकी मौलिकता को प्रमाणित करती है। संगीत योजनाओं में दोनों का सम्बन्ध दोनों की स्वाभाविक संगति का द्योतक है।

अस्तु अर्थ की अपेक्षा व्यतिशय से पूर्ण आकृति की व्यञ्जना कविता

का मूल स्वरूप है। छन्द उसका स्वाभाविक और सामान्य रूप है। छन्द और गद्य दोनों में सङ्गीत की लय के साथ कविता की सङ्गति सम्भव है। गीतों और पदों में सङ्गीत के रागों में भी कविता की रूप रचना हो सकती है। लय सङ्गीत का मूल स्वरूप है, राग सङ्गीत की छन्द है। सङ्गीत और काव्य एक नहीं है यद्यपि दोनों की सङ्गति सम्भव है और सम्भव होने पर वह एक अद्-भुत सौन्दर्य की सृष्टि करती है। इसी कारण किसी न किसी रूप में प्रायः काव्य और सङ्गीत का संयोग मिलता है। कविता का शुद्ध स्वरूप बाण और प्रसाद के गद्य में मिलता है। यह स्वरूप भाव की आकृति की स्वर लय और राग से रहित व्यञ्जना है। कविता का दूसरा रूप इस आकृति में सङ्गीत की लय का समन्वय है। हिन्दी के गद्य काव्य में इसका स्पष्ट रूप मिलता है। छन्दोवद्ध काव्य में कविता का तीसरा रूप मिलता है। जिसमें लय की गति अनिश्चित न होकर छन्द की पद गति में निश्चित हो जाती है। संस्कृत में छन्द प्रायः तुकान्त रहित हैं। हिन्दी में ऐसे छन्दों का प्रयोग सफलतापूर्वक इन अल्पमात्रा में लिया जाता है। छन्दों का तुकान्त कविता में सङ्गति के सम का पर्व बन जाता है। संस्कृत के छन्दों के वर्णिक होने के कारण उनका लय और सम का क्रम बिना तुक के ही निश्चित है। इसीलिये हिन्दी में वर्णित वृत्तों में ही अतुकान्त कविता का प्रयोग अधिक हुआ है। कविता का एक चौथा रूप वह है जिसमें आकृति और सङ्गीत का एक समृद्ध रूप में समन्वय होता है सभी युगों और भाषाओं के लोक गीत वैदिक काव्य, वृजभाषा के पद और आधुनिक हिन्दी के गीत इसके सफल उदाहरण हैं। आधुनिक प्रयोगवादी काव्य में समृद्ध और सम्पन्न कविता के इन समस्त अङ्गों को अनावश्यक मानकर केवल व्यञ्जना की भाव योजना और स्वर विधि के सूक्ष्म संकेतों के द्वारा इनकी पूर्ति की जा रही है। कविता के शुद्ध और सूक्ष्म रूप की सम्भावनाओं और सामर्थ के उद्-घाटन की दृष्टि से प्रयोग वादी कविता साहित्य के इतिहास में एक अद्भुत किन्तु महत्त्वपूर्ण प्रयोग हैं।

सङ्गीत का ऐतिहासिक रूप स्पष्टतः यह प्रमाणित करता है कि स्वर और शब्द का घनिष्ट सम्बन्ध है। दोनों का संयोग आकृति की व्यञ्जना का अपूर्व योग बन जाता है इसीलिए कविता में सङ्गीत अर्थात् आकृति में स्वर और लय तथा सङ्गीत में कविता अर्थात स्वर लय में आकृति का अन्तर्भाव रहता है। प्रायः यह अन्तर्भाव स्फुट सङ्गीत के रूप में भी व्यक्त होता है। अतः कविता को आत्मा का मुखर सङ्गीत कहा जा सकता है। आत्मा जीवन का अन्तिम तथा जीवन का अन्तिम तथा आधारभूत सत्य अथवा स्वरूप है।

स्वरूपत: वह मुखर नहीं मौन है। इसीलिये उपनिषदों में उसकी शांत संज्ञा है किन्तु वह चिन्मय और आनन्दमय है। व्याप्ति में वह अनन्त और अद्वैत तथा भाव में शिव है। शब्द दर्शन में उसकी परा संज्ञा है। परा और पश्यन्ति का रूप तो अनिर्वचनीय है किन्तु मध्यमा के रूप में अर्थ और आकृति के रूप में आत्मा की चिद् विभूति विभासित होती है। बैखरी वाणी के रूप में वही अर्थ और आकृति श्रुति ग्राह्य मुखरशब्द के रूप में लोक व्यवहार की विभूति बनती है। मुखर वाणी में स्वर और लय में संयोग से अर्थ और आकृति का स्फोट कविता के रूप का विधान करता है। अर्थ और आकृति के रूप में जीवन के तत्व स्वरों में साकार होकर जीवन में सौन्दर्य और आनन्द के स्रोत बनते हैं।

कविता और सङ्गीत के सम्बन्ध के विषय में यह स्मरणीय है कि कविता का मूलतत्व भाव है। इस भाव में एक सूक्ष्म लय और सङ्गीत रहता है। जो मुखर न होते हुये भी हमारी चेतना में गूंजता है। मुखर सङ्गीत के नाद और स्वर में वह आन्तरिक भाव और सङ्गीत साकार और सुग्राह्य हो जाता है। इस आन्तरिक और अशब्द सङ्गीत की न्यूनता में मुखर नाद और कविता का भ्रम उत्पन्न करता है। कविता का आनन्द मौन पाठ में भी है क्योंकि उसका स्वरूप भाव सङ्गीत है नाद सङ्गीत नहीं। किन्तु सामान्यतः कविता परार्थ और परस्पर आनन्द के लिये है इसलिये नाद संगीत के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है। नाद संगीत कविता के अशब्द संगीत को मुखर बनाकर समृद्ध करता है। भाव संगीत की न्यूनता में कविता की नहीं संगीत की प्रधानता रह जाती है। इसीलिये बहुत सी कविता जो सुनने में अच्छी लगती है पढ़ने में प्रभावित जान पड़ती है। भाषा के शब्द भाव संगीत और नाद संगीत के सेतु है। इन तीनों की संगति से श्रेष्ठ काव्य का रूप बनता है। इसमें शब्द के माध्यम से भाव संगीत की समृद्धि स्वर और नाद में मुखर तथा साकार हो उठती है। इसके विपरीत संगीत की भाव विभूति स्वर और नाद से प्रसूत होती है वह गीत के शब्दों में अन्तर्निहित नहीं रहती। इसीलिए संगीत में अल्प शब्दों के आधार पर प्रसूत स्वर-सम्पति और प्रचुर भाव-विभूति की सृष्टि होती है। तथा कविता में प्रचुर भाव-विभूति की व्यञ्जना शब्दों और संगीत की परिणामगत समता और संगति के आधार पर होती है। वेदों के मन्त्र, वृजभाषा के पद, और खड़ी बोली के गीत शब्द और संगीत की सममेयता के उदाहरण हैं। ख्याल और ठुमरी अल्प शब्द्ध के आधार पर स्तर और नाद के विपुल विधान और विपुल भाव की अभिव्यक्ति के उदाहरण हैं। एक शब्द में कविता शब्द में भाव विभूति का अनन्त विधान है और संगीत स्वर में

उसका स्फोट होता है। कविता का श्रेष्ठ और सफल रूप दोनों का समन्वय है। इस दृष्टि से कविता और आत्मा का मुखर संगीत कहना उचित ही है।

काव्य के विविध अंग और उपकरण समात्मभाव की स्थिति में आकृति की व्यञ्जना के सौन्दर्य को उसी प्रकार साकार बनाते हैं, जिस प्रकार देह रूप गुणशील आदि से युक्त व्यक्तित्व, मनुष्य की आत्मा को एक सुन्दर आकार देता है। काव्य के समग्र रूप में यह उपकरण ऐसे एक हो जाते हैं कि उन्हें पृथक नहीं किया जा सकता। काव्य की आत्मा इन अंगों और उपकरणों के रोम रोम में उसी प्रकार रम जाती है जिस प्रकार मनुष्य की आत्मा उसके शरीर और व्यक्तित्व के रोम रोम में व्याप्त है। इस दृष्टि से काव्य की प्रत्येक रचना का सौन्दर्य अपने व्यक्तित्व में निराला है। गुणों और शक्तियों के सम्पन्न और समृद्ध समन्वय को हम जिस प्रकार एक श्रेष्ठ व्यक्तित्व मानते हैं उसी प्रकार रूप और तत्व तथा अन्य उपकरणों के सम्पन्न समन्वय से युक्त काव्य श्रेष्ठ है। शेक्सपीयर के नाटक, दान्ते की डिवाइन कोमडी तुलसीदास का रामचरित मानस, जयशंकर प्रसाद की कामायनी आदि इसी समन्वय से युक्त काव्य की महान कृतियाँ हैं।